—: सामयिक साहित्य माला, पुस्तक ३ :—

हम कहाँ हैं ?

लेखक
जवाहरलाल नेहरू

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली :: लखनऊ

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

संस्करण
अप्रैल १९३९ : ३०००
दाम
दो आना

मुद्रक,
एस. एन. भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स
नई दिल्ली।

दो शब्द

यह लेखमाला मार्च १९३९ में होनेवाली राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के त्रिपुरी-अधिवेशन से दस दिन पहले लिखी गई थी और लखनऊ, के अँग्रेज़ी दैनिक 'नेशनल हेरल्ड' में प्रकाशित हुई थी। इसका उद्देश्य हिन्दुस्तान की उस समय की स्थिति का, ख़ासकर राष्ट्रपति के चुनाव से पैदा हुए विवाद का, सिंहावलोकन करना था। अब तो त्रिपुरी-कांग्रेस हो भी चुकी और कई नई घटनायें उसके बाद हो चुकी हैं। इसलिए यह अब कुछ पुरानी तो पड़ गई हैं; पर फिर भी जिस परिस्थिति और जिन विवादों का इनमें सिंहावलोकन है उनमें मूलतः कोई अन्तर नहीं पड़ा है। इसलिए यह सिंहावलोकन उनपर विचार करने में शायद कुछ सहायक हो इस कारण इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

आनन्द भवन, इलाहाबाद
अप्रैल १९३९

जवाहरलाल नेहरू

हम कहाँ हैं ?

१

सूर्य अस्त हो ही रहा था जब मैं थका हुआ-सा, अपने साथी कृपलानी के साथ उस धूलभरी सड़क से सेगाँव से वर्धा जा रहा था। हम लोग जोकि इतने अर्से से कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य थे, २२ फरवरी की उस शाम को सेगाँव में इकट्ठा हुए और जुदा हुए और लम्बी बहस ख़त्म हुई। दुविधा के बोझ से राहत मिली, लेकिन उस राहत से दिमाग़ को शान्ति या आशंकाओं से मुक्ति नहीं मिली। हम आश्रम के इर्दगिर्द घूम रहे थे; क्योंकि उस वक़्त का काम ख़तम हो जाने से हमें जाने की कोई जल्दी न थी। इसी दरमियान हमारे साथी दो मोटरों पर क़ब्ज़ा कर वर्धा को रवाना होगये और अगली मोटर में बैठनेवाले इस ख़याल में रहे कि हम लोग पिछली मोटर में हैं और पिछली वालों का ख़याल रहा कि हम आगे की मोटर में हैं। इस तरह हम सेगाँव में छूट गये। क़रीब एक घण्टे तक हम लोग वहाँ इन्तज़ार करते रहे। और नज़दीक की एक प्रारम्भिक पाठशाला के बच्चों के साथ खेलते रहे, लेकिन मोटर नहीं आई और हम लोगों ने ५ मील पैदल ही चलकर वर्धा जाना तय किया।

खाई

पिछले तीन बरसों में कितनी बार मैं ज्यादातर मोटर से, कुछ बार बैल-गाड़ी से और एक दो बार पैदल, उस धूलभरी सड़क से गुज़रा होऊँगा। चारों तरफ़ फैले हुए सुनसान और खुश्क मैदान से घिरे हुए, जहाँकि शायद ही कोई दरख़्त दिखाई देता हो, उस नज़ारे से मैं अच्छी तरह परिचित था। फिर भी आज वह दूसरी ही तरह का दिखाई दिया, शायद इसलिए क्योंकि मैं खुद ही बदल गया था, और उसकी तरफ़ दूसरी नज़र से देख रहा था। सूर्य क्षितिज पर आग के गोले की तरह लटका हुआ था और स्थिर आकाश सौन्दर्य से भरा हुआ था, लेकिन उस वक़्त मैं सौन्दर्य का आनन्द लेने के धुन में नहीं था और अपने को थका हुआ और हतोत्साह-सा महसूस करता था। उस सुनसान मैदान में उदासी मुझ पर ग़ालिब आगई और लम्बी छायायें फैलती हुई और मनहूस मालूम होने लगी। हम चुपचाप चलते रहे, क्योंकि दोनों में से कोई भी बातचीत करने की धुन में न था। मैं सेगाँव

से दूर नहीं जा रहा था, बल्कि किसी ज्यादा बड़ी और ज्यादा महत्त्व की चीज से, जोकि इन बहुत से बरसों से मेरा हिस्सा रही है दूर जा रहा था।

अख़बारों का कहना है कि मैंने कार्यसमिति से इस्तीफ़ा दे दिया, यह एकदम सच नहीं है, लेकिन फिर भी काफ़ी सच है। पन्द्रह सदस्यों की कमेटी में से जब बारह ने इस्तीफ़ा दे दिया तब बाक़ी बचा हुआ हिस्सा कमेटी की तरह काम नहीं कर सकता। जिन कारणों ने मुझे ऐसा करने के लिए मजबूर किया, वह कई हालतों में उनसे जुदा थे जिनसे कि मेरे दूसरे साथी प्रभावित हुए। लेकिन इन कारणों के सिवा भी मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि मैं कमेटी से अलग रहकर बिना किसी रुकावट के अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम करूँ। एक ऐसी मरनेवाली कमेटी से, जिसके कि सिर्फ़ इनेगिने दिन ही बाक़ी थे, इस्तीफ़ा देना काफ़ी आसान था, लेकिन मेरे दिमाग़ में जो समस्या चल रही थी वह इससे ज्यादा गहरी थी और जो क़दम मैंने लिया था उसका अर्थ होता बहुत-से दूसरे सम्पर्कों से सम्बन्ध-विच्छेद। ऊपर से देखनेवालों के ख़याल में मैंने अपने को बारह दूसरे इस्तीफ़ा देनेवालों के साथ मिला दिया था। और वह मैंने किया भी था। लेकिन फिर भी मेरे अपने ख़याल में उनके और मेरे बीच खाई और बढ़ गई थी और मैं फिर पिछले तीन बरसों से बननेवाली कार्यसमिति की तरह की किसी कमेटी का मेम्बर न बनूँगा।

कोई दूसरा रास्ता नहीं

कुछ लोग इन इस्तीफ़ों की आलोचना करते हैं यह देखकर मुझे ताज्जुब होता है। इन सदस्यों के या बहरहाल इनमें से कुछ के पास, उनके ख़िलाफ़ लगाये गये आरोपों के बाद इसके सिवा और कोई उपाय बच ही नहीं रहता था। मामूल के तौर पर भी अगर यह समझा जाता हो कि ये लोग जिस नीति को मानते हैं, बहुमत उसे पसन्द नहीं करता तो इस्तीफ़ा इन्हें दे देना पड़ता। लेकिन मौजूदा मामले में तो इन लोगों के ख़िलाफ़ कुछ व्यक्तिगत गम्भीर आरोप भी लगाये गये थे, और इसलिए जबतक ये आरोप क़ायम रहते हैं, इन लोगों के लिए समिति का सदस्य बने रहना सर्वथा असम्भव था। परिणामतः ये आरोप ख़ुद गाँधीजी के ही ख़िलाफ़ लगाये गये समझे जाने चाहिएँ; क्योंकि वही कार्यसमिति के पथप्रदर्शक और सलाहकार रहे थे। स्वभावतः ही इस तात्त्विक और वैयक्तिक पहलू ने राजनीतिक पहलुओं तक को ढक लिया, और इसलिए मैंने काँग्रेस के सभापति को दूसरी समस्याओं पर विचार करने के पहले इस रुकावट को साफ़ करने के लिए सूचित किया। लेकिन अफ़सोस है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। इतना ही नहीं, इस कठिनाई को और बढ़ाने के लिए सभापति ने कार्यसमिति की बैठक स्थगित करने का तार

दे दिया और समिति को मामूली ज़ाब्ते के काम तक करने की इजाज़त नहीं दी। इससे यह साफ़ था कि मौजूदा हालतों में कार्यसमिति ख़तम हो गई थी।

एक महान् संस्था अपने में कुछ ऐसी चीज़ रखती है जो वैयक्तिकता या शख़्सियत से ऊपर होती है, यह बात दूसरी है कि किसी ज़बर्दस्त हस्ती का उस पर ज़बर्दस्त प्रभाव हो। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन संस्था का काम बराबर जारी रहता है। कांग्रेस ने, पिछले बरसों में, जबकि इसके सब नेता और मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता बराबर जेलों में पड़े थे और क़ानून की सारी सत्ता उसके ख़िलाफ़ लगा दी गई थी, अपने इस अवैयक्तिकता के पहलू को अपूर्व रूप से सिद्ध कर दिखाया है। उस हालत में भी यह बराबर जारी रही और इसने अपनी भीतरी शक्ति का वह निश्चित चिन्ह बता दिया जो किसी भी मुसीबत या संकट से भयभीत नहीं होता।

एक अन्तर

यह ज़ाहिर था कि मौजूदा हालत में कार्यसमिति किसी महत्त्वपूर्ण विवादास्पद मामले का फैसला या काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी समिति के लिए प्रस्ताव बनाने की कोशिश कर नहीं सकती थी, और उसे करनी भी नहीं चाहिए थी। प्रेसीडेण्ट की ग़ैरहाज़िरी में ऐसा करना अनुचित होता और यहाँ मौजूद हरेक मेम्बर इसको पूरी तरह महसूस करता था। लेकिन यह मुनासिब होता कि सिर पर आये हुए काँग्रेस अधिवेशन का ख़याल करते हुए मामूल के काम, ख़ासकर जिनके फौरन ही किये जाने की ज़रूरत थी, उसी समय निपटा दिये जाते। लेकिन सभापति की हिदायतें रास्ते में रोड़ा अटकानेवाली मालूम हुईं। हालांकि मैं नहीं जानता कि उनकी यह मंशा थी कि नहीं कि उनके शब्दों का इस प्रकार शाब्दिक अर्थ लगाया जाय। और इस तरह करने के लिए कोई काम न रहने के कारण कमेटी बरख़ास्त हो गई और ग़ायब हो गई। यह पहला ही मौक़ा था जबकि काँग्रेस ने अवैयक्तिकरूप से काम नहीं लिया।

जबकि तराज़ू या कांटे की डंडी समतौल हो तो ज़रा-सी चीज़ से भी पलड़ों में अन्तर हो जाता है, और इसलिए सभापति के तार ने एक अन्तर पैदा कर दिया। मामूली तौर पर प्रजातन्त्री तरीक़ा तो यही था कि पुरानी कार्यसमिति सभापति के चुनाव के बाद ही और उस समय जो-कुछ हुआ उसे देखकर तुरन्त ही इस्तीफ़ा दे देती, जिससे कि नई और अधिक प्रातिनिधिक कमेटी के बनने में सहूलियत होती। लेकिन तेज़ी से बढ़ते हुए आन्तरिक और बाह्य संकट के हालात ने और एक दूसरे व्यापक संघर्ष की सम्भावना ने प्रजातन्त्र के साधारण तौर-तरीक़ों को ढक लिया

और किसी निर्णय पर पहुँचना मुश्किल कर दिया। लेकिन जब वहाँ मौजूद सदस्य को यह मालूम हुआ कि मामूल के कामों तक के बारे में उनमें विश्वास नहीं है तो छोटी-सी कार्यकारिणी में सहयोग की सम्भावना दूर होगई। संस्था के अवैयक्तिक स्वरूप को हटाकर व्यक्तिगत पहलू इसका स्थान ले रहे थे। संस्था के प्रति वफ़ादारी के बजाय व्यक्ति के प्रति वफ़ादारी का ज़ोर होने लगा।

जुदाई

लेकिन कुछ भी हो यह एक मामूली बात थी और अगर आसपास का वातावरण ठीक होता तो इसका इतना अधिक खयाल न होता। इससे मुझे काँग्रेस के अपने मौजूदा विधान की एक त्रुटि मालूम हुई, जोकि पुरानी कार्यसमिति को नये सभापति के साथ काम करने को क़ायम रखती है। यह कहीं ज्यादा अच्छा हो, अगर सभापति के चुनाव के साथ ही कार्यसमिति का कार्यक्रम भी समाप्त होजाय और सभापति नई कार्यसमिति के साथ काँग्रेस में आवे। उस हालत में काँग्रेस अधिवेशन की कार्रवाई इस समिति में विश्वास के रूप में मानी जायगी। मौजूदा विधान में कार्यसमिति काँग्रेस अधिवेशन खतम होने के बाद बनाई जाती है, और यह बहुत मुमकिन है कि वह काँग्रेस का वास्तविक प्रतिनिधित्व न करती हो।

इस तरह दिमाग़ में सब तरह के विचारों की कतरव्योंत चलती रही और मैं सेगाँव से वर्धा वापस आया। तात्कालिक विषय पर मैंने कार्यसमिति के अपने पुराने साथियों का साथ दिया, क्योंकि मेरे लिए सिर्फ़ वही सही रास्ता था; लेकिन मेरी जुदाई दूसरों की बनिस्वत इन लोगों से ज्यादा थी। अपने इस्तीफ़े के पत्र में इन लोगों ने लिखा था कि "वक़्त आगया है जबकि देश के सामने ऐसी साफ़ और दो-टूक नीति रक्खी जाय जो काँग्रेस के परस्पर विरोधी दलों के साथ के समझौते पर आश्रित न हो।" अगर यही उनकी दो-टूक नीति होती हो, तो उनके साथ मेरा कोई स्थान नहीं है।

२

अगर कार्यसमिति दो-टूक नीति में विश्वास रखनेवालों की ही बननेवाली हो तो मेरे लिए उसमें जगह कहाँ हो सकती है? बेशक समिति एक-रस और एक इकाई की तरह काम कर सकनेवाली होनी चाहिए, नहीं तो वह बेअसर होगी। आमतौर पर वह एक ही कार्य-प्रणाली में विश्वास रखनेवाली होनी चाहिए। लेकिन अगर एक-रसता का अर्थ फ़िर्क़ेबन्दी के रूप में किया जाता हो तब तो भावी समिति उन समितियों से बहुत जुदा तरह की होगी, जैसीकि पिछले बीस बरसों से बनती

रही है। इस नये अर्थ में देशबन्धुदास या मेरे पिताजी अथवा मौ० मुहम्मद अली कहाँ रहे होते ? कार्यसमिति में उन्हें अपने लिए कोई स्थान न मिला होता। स्वराज्य पार्टी के शुरू के दिनों में भावी नीति तक के सम्बन्ध में महत्त्व के मत-भेद पैदा होगये थे। उस समय भी 'एक-रस' कमेटी बनाने की कोशिश की गई थी, लेकिन वह जल्दी ही नाकामयाब हो गई और काँग्रेस फिर अपने दो प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों की संयुक्त समिति बनाने की पुरानी नीति पर लौट आई। दृष्टिकोण के मतभेद के बावजूद ये समितियाँ कई बरसों तक बा-असर तरीक़े से काम करती रहीं। अगर इसके सिवा कोई और दूसरा रास्ता अख़्तियार किया गया होता तो नतीजा यह होता कि समिति बे-असर या प्रभावहीन होगई होती, दो दलों के बीच संघर्ष बना रहता और काँग्रेस कमज़ोर हो जाती।

पंथवाद

अगर अब नये सिद्धान्त पर अमल किया गया तो मुझ-जैसे निराले आदमी के लिए समिति में कोई स्थान नहीं होगा। पुरानी समिति में, जिसे कि मैं जानता हूँ, मैं उपयुक्त हो नहीं सकता, और नई समिति में तो, जिसे कि मैं जानता तक नहीं और भी कम उपयुक्त होऊंगा। कार्यसमिति में मेरे न रहने का अर्थ यह नहीं है कि मैं रूठकर खामोश होगया हूँ या अलग होगया हूँ। किसी भी मौक़े पर मैं, और जैसा कि दूसरे भी करेंगे, जितना भी सम्भव हो सकेगा सहयोग करूँगा और किसी तरह की कोई रुकावट न डालूँगा।

मेरा यह यक़ीन है कि काँग्रेस को पंथवाद और इस नामधारी संकुचित एक-रसता से बचना चाहिए, क्योंकि यह कांग्रेस के भीतर झगड़ों और विरोध की भावना को बढ़ा देगी। यह काँग्रेस का काम है कि वह अपनी नीति निश्चित कर दे और अपनी कार्यकारिणी से उसपर कड़ाई से डटी रहने को कहे। इसकी चहारदीवारी के अन्दर बेशक एक-रसता होनी चाहिए, लेकिन इससे आगे बढ़कर इसको और भी अधिक संकुचित करके का नतीज़ा होगा महत्वपूर्ण अंगों का बाहर कर दिया जाना।

संयुक्त मोर्चा

यद्यपि मौजूदा परिस्थितियों में हमारे लिए संयुक्त मोर्चे की नीति अनिवार्य है, लेकिन साथ ही इसमें कुछ हानियाँ भी हैं, क्योंकि इससे दो या अधिक साथ मिलकर काम करनेवाले दलों में दबाये जाने का भाव पैदा होता है। हरेक यह महसूस करता है कि वह अपने रास्ते पर नहीं जा पाता और दूसरे दल ने उसकी

वृद्धि को रोक दिया है। पिछले कुछ बरसों में दबाये जाने का यह भाव बढ़ गया है, और शायद इसलिए यह मुनासिब है कि कार्यकारिणी एक ही दल के आदमियों की बने ताकि वह खुलकर काम कर सके; क्योंकि नीतियों में कोई बहुत अधिक भिन्नता नहीं है, इसलिए वास्तव में इससे कोई ख़ास अन्तर नहीं होगा और इसके बाद तुरन्त संयुक्त समिति पर लौटना ही पड़ेगा, और वही असल में काँग्रेस और देश की वास्तविक प्रतिनिधि हो सकती है।

इसलिए किसीको, काँग्रेस के वर्तमान गति-अवरोध को, अशुभ होते हुए भी, बहुत भयानक रूप में नहीं लेना चाहिए। हमारे आन्दोलन की बढ़ती का यह एक चिह्न है, और हमारे उन सैद्धान्तिक झगड़ों को प्रकट करता है जिन्होंने हमारे बहुसंख्यक लोगों के दिमाग़ को परेशान कर रक्खा है। लेकिन हरेक शख्स यह जानता है कि किसी भी कार्रवाई के किये जाने पर हम लोग साथ रहे हैं, और राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी संकट के समय हम सब एक-साथ खड़े हुए दिखाई देंगे।

सत्तावाद

अगर इसमें कोई दुर्भाग्य की बात है तो यह है वह तरीक़ा जिससे कि यह गति अवरोध पैदा हुआ है, क्योंकि यह किसी सिद्धान्त या नीति के स्पष्ट संघर्ष का कोई प्रतीक नहीं है। काँग्रेस संस्था पर अपना नियन्त्रण रखने की इच्छा का यह परिणाम है, फिर चाहे उसकी नीति कुछ भी हो। काँग्रेस के अधिनायकों में समझी जाने-वाली सत्तावादी मनोवृत्ति के ख़िलाफ़ लोगों के मनों में कुछ प्रतिक्रिया थी, तिसपर भी आश्चर्य की बात है कि नये नेताओं में, उससे कहीं ज्यादा सत्तावादिता है, जितनी कि काँग्रेस के इस पिछले इतिहास में किसी में रही हो। काँग्रेस के लिए उग्रनीति की बात समझ में आ सकती है। यह बात दूसरी है कि कोई उसे पसन्द करे या न करे। इसी तरह किसी कार्य-प्रणाली पर विचार किया जा सकता है और उसे मंजूर या रद्द किया जा सकता है। लेकिन सत्तावाद के साथ लगे हुए उग्र नारे एक ग़लत और खतरनाक चीज़ हैं। यह ग़लत इसलिए है क्योंकि इससे लोगों को यह ख़याल करने का मौक़ा मिलता है कि ज़ोरदार भाषा बोलना और खूब चिल्लाना काम करने के समान ही है। और खतरनाक इसलिए क्योंकि उग्रतम नारे लोगों को भुलावे में डाल देते हैं और उनकी आड़ में सत्तावाद घुस बैठता है और अपने को सुरक्षित कर लेता है। मैं नहीं समझता कि कांग्रेस को इस रास्ते जाने की कोई गुंजाइश है, क्योंकि हम प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से बहुत अधिक बन्धे हुए हैं और इन पिछले अनेक वर्षों से हमने काम के मुक़ाबले में,

जोकि परिणामकारक है और ताक़त देता है, कड़ी भाषा के अभिशाप का जोकि हमें कमज़ोर करता है तिरस्कार कर दिया है; फिर भी हमें फूल न जाना चाहिए क्योंकि इधर के कुछ बरसों में यूरोप में अजीब घटनायें हुई हैं और हम अपनी आँखों के सामने प्रजातन्त्र की शानदार इमारत को गिरती हुई देख चुके हैं। हमे दुःख के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि मूर्ख और भ्रम में पड़ी हुई जनता को अलग कर लेना और बाद को ग़लत रास्ते पर हाँक ले जाना कितना आसान है।

नये प्रश्न

इसलिए हमारे लिए यह लाज़मी होजाता है कि हम अपनी नीति और उपायों के बारे में किसी स्पष्ट और साफ़ नतीजे पर पहुँच जायँ और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में अपना निश्चित रवैया बतला दें। दुनिया बदलती है और नई समस्यायें खड़ी होती हैं। नये सवालों को हल करना होता है, और हमेशा से प्रचलित तथा कलतक कहे जानेवाले वाक्य आज बे-मानी हो सकते हैं। हम म्यूनिक-समझौते के बाद के ज़माने में रह रहे हैं, नक्शा रोज़-ब-रोज़ बदलता जाता है और पशुता और अन्ध-प्रतिक्रिया विजयी होती जा रही है। इस समय भी जबकि मैं यह लिख रहा हूँ मेरे दिमाग़ में अपने समय की वह सबसे बड़ी भीषण दुर्घटना—स्पेन-प्रजातन्त्र की हत्या—भरी हुई है। वे बाग़ी या विद्रोही नहीं थे जिन्होंने प्रजातन्त्री स्पेन की हत्या की, न वे श्वासघाती हाथ ही थे जिन्होंने ऐसा किया। और न अन्त में फैसिस्ट राज्यों के हाथों ही, उनके कितना ही चाहने के बावजूद उसकी हत्या हुई। ब्रिटेन और फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया के साथ किये गये विश्वासघात की तरह, इसके लिए भी ज़िम्मेदार ठहराये जाने चाहिएँ और इतिहास सदियों तक इस कलंक को याद रक्खेगा और उन्हें क्षमा न करेगा। चेकों और स्पेनियों की सतत सन्तप्त आत्मायें जिन्हें कि इन्होंने अकेला छोड़ दिया और विश्वास घात किया और मैत्री और तटस्थता की आड़ में मौत और ग़ुलामी की तरफ़ ढकेल दिया, पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनका पीछा करती रहेंगी।

साम्राज्यवाद

ऐसी है यह दुनिया जिसमें हम रह रहे हैं। और खुद अपने यहाँ हिन्दुस्तान में भी जो समस्यायें खड़ी हो रही हैं वे यूरप जैसी ही गम्भीर हैं। जबकि हम अपनी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सीधी लड़ाई की भाषा में सोचते हैं, वह साम्राज्यवाद अपना स्वरूप बदलता जाता है, और अपनी शक्ति का इतना भरोसा न होते हुए भी, अप्रत्यक्ष रूप से और और भी अधिक भयंकरता के साथ उस

चुनौती का जवाब देने की कोशिश करता है। प्रतिक्रिया खुद एक जुदी ही भाषा में बात करती है और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उदार वाक्यों का प्रयोग करके राजनीति से अपरिचित भोली जनता को ठगती है। साम्प्रदायिकता इससे भी ज्यादा निश्चितरूप से प्रतिक्रियावादियों और साम्राज्यवादियों का गढ़ बन जाती है।

आजकल नारों और आवाज़ों का हमारे सार्वजनिक कार्यों के साथ खतरनाक सम्बन्ध होगया और जबतक स्पष्ट विचार और सुनिश्चित उद्येश्य और उपायों से उनका सम्बन्ध न हो तबतक इनसे ख़तरा रहेगा। हममें से ज्यादातर लोग शायद ही कभी सोचने-विचारने की तकलीफ़ करते हैं। यह तकलीफ़देह और थका देनेवाला तरीक़ा है और यह अक्सर हमें अप्रिय परिणामों की ओर ले जाता है। लेकिन संकट और गति अवरोध जब कभी भी पैदा होते हैं, तब कम-से-कम उनसे इतना फ़ायदा ज़रूर होता है कि वे हमें सोचने-विचारने के लिए मजबूर कर देते हैं। तब आइए हम अपने मौजूदा गति अवरोध का इस तरह फ़ायदा उठावें।

रास्ता

यही वजह है कि मैं अपनें कुछ विचारों और अनुभवों को पाठकों के सामने रखने का साहस करता हूँ। बदलती रहनेवाली और अनिश्चित स्थिति में मेरे लिए यह मुश्किल है कि मैं किसी भी तरह आत्मविश्वास के साथ मौजूदा गति अवरोध से निकलने का कोई रास्ता सुझाऊँ। यह हो सकता है कि लोग खयाल करते हैं उसके पहले ही वह रास्ता खुद ही निकल आए। इस बीच मेरे लिए यह मुनासिब होगा कि पिछले तीन बरसों में हिन्दुस्तान में जो मनोवृत्तियाँ पैदा हुई हैं मैं उनका ख़ाका खींचूं। ऐसा करते समय मैं पुरानी कार्यसमिति के अपने साथियों से अत्यन्त नम्रता पूर्वक क्षमा चाहूँगा, क्योंकि मुझे कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करना पड़ेगा, जिनका उनके साथ सम्बन्ध है और जो अभीतक गुप्त रक्खी गई थीं। मुझे आशा है कि ऐसा करके मैं उनके विश्वास का दुरुपयोग नहीं करूँगा।

३

तीन साल पहले, मार्च में मैं, कांग्रेस का निर्वाचित-सभापति, हवाई जहाज द्वारा यूरप से हिन्दुस्तान को वापस लौटा। मेरे विचार और सम्मतियाँ अच्छी तरह जानी-बूझी हुई थीं, और मैं किसी हदतक यह खयाल करने का हक़दार था कि कांग्रेस के निर्वाचकों ने उनके प्रति अपनी स्वीकृति जाहिर की है। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता था कि मैं ऐसा ख़याल बहुत ज्यादा हदतक नहीं कर सकता, क्योंकि चुनाव अक्सर दूसरी बातों से प्रभावित हुआ करते हैं। कोई भी यह नहीं

कह सकता था कि प्रतिनिधियों ने मुझे अपना सभापति चुन लिया है, इसलिए कांग्रेस समाजवादी होगई है। लेकिन इस चुनाव का यह मतलब जरूर था कि अधिक उग्रनीति की आम माँग है और देश में समाजवादी विचार फैल रहे हैं। सविनय-आज्ञाभंग या सत्याग्रह बन्द करने के कारण जो प्रतिक्रिया छा गई थी, पिछले साल से काँग्रेस उससे तेज़ी से बाहर निकल रही थी। केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव ने इसमें मदद दी और अधिक उग्र अंग संस्था की निष्क्रियता के ख़िलाफ़ ग़ुस्सा दिखा रहे थे।

समाजवादी अंग

एक संगठित समाजवादी अंग पैदा होगया था, और जवानी के जोश की ज्यादती के कारण वह काँग्रेस के नेताओं की आलोचना करने लगा। वह पश्चिमी समाजवादी साहित्य से उधार ली हुई भाषा का प्रयोग करता था, जिसे कांग्रेस की आम जनता शायद ही समझ पाती हो। और इसलिए यद्यपि वह कुछ आदमियों को तो अपनी तरफ़ खींचने में सफल हुआ, लेकिन उसने बहुत-सों के रास्ते में खाई खोद दी। कांग्रेस का व्यापक मध्यम-वर्ग, जोकि राजनैतिक विचारों में उग्र, सामाजिक दृष्टि से अस्पष्ट और स्थिर लेकिन आम तौर पर किसान-पक्षपाती था, इस नये तरह के प्रचार को जिसमें उसके नेताओं पर आक्षेप किये जाते थे, सन्देह की की नज़र से देखने लगा। कुछ समाजवादी खुले शब्दों में पुराने नेताओं को हटाकर उनकी जगह ले लेने की बात कहने लगे और साफ़तौर पर इस काम के लिए अपने आपको खुदाई ठेकेदार समझने लगे। स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने की कोशिश करने लगे और लोगों में यह ख़याल पैदा होगया कि वे उनपर अपना क़ब्ज़ा करना और उन्हें अपने नियन्त्रण में रखना चाहते हैं। प्रजातन्त्रात्मक दृष्टि से वे ऐसा करने के हक़दार थे, लेकिन उनकी यह कोशिश और उनके तरीक़े खुद उनके ख़िलाफ़ पड़ गये और काँग्रेस के मध्यम-दल उनके विरोधी दल के साथ जा खड़े हुए। इस तरह खुद वही लोग जिनको कि समाजवाद पसन्द आना चाहिए था दूर फेंक दिये गये और विरोधी बना लिये गये। समाजवादी दल नये विचारों के लिए आत्मोसर्ग करनेवाला बनने के बजाय एक सत्तालोलुप और अपने विचारों से सहमत न होनेवालों में विरोध पैदा करनेवाला फ़िर्क़ा या सम्प्रदाय बन गया। बाज़ वक़्त कांग्रेस में पद-प्राप्त करने अथवा अधिकारपूर्ण स्थान पर क़ब्ज़ा करने के लिए समाजवाद की आड़ में सर्वथा व्यक्तिगत और स्थानीय दल खड़े किये गए।

नेताओं के विचार

कांग्रेस के नेताओं ने इन चीज़ों पर सख़्त ना-पसन्दगी ज़ाहिर की। समाजवाद

के पेचीदा उसूलों को उन्होंने पसन्द नहीं किया और यह ख़याल बना बैठे कि समाजवाद और हिंसा का लाज़मी सम्बन्ध है, जोकि कांग्रेस के मूल सिद्धान्त के ही ख़िलाफ़ है। इस सबके अलावा व्यक्तिगत हमलों और आलोचनाओं से भी वे खीझ उठे और कभी-कभी उसी सिक्के में जवाब भी दे बैठते।

यूरप से अपनी वापिसी पर मैंने कटुता और संघर्ष का यह वातावरण पाया। मैं उस समय अपने यहाँ, कुछ यूरोपियन देशों में बनाये जाने वाले जनता के और संयुक्त मोर्चों के-से मोर्चों की कल्पना से भरा हुआ था। यूरप में जहाँकि वर्ग-विग्रह और दूसरी तरह के संघर्ष तेज़ी पर थे, इसके लिए एक सम्मिलित मंच पर यह सहयोग सम्भव हो सका था। हिन्दुस्तान में ये संघर्ष अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थे और साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलनेवाले बड़े संघर्ष के नीचे बिलकुल दब गये थे। सब साम्राज्य-विरोधी शक्तियों के लिए, कांग्रेस के संयुक्त मंच पर सबके साथ मिलकर काम करना, यही प्रत्यक्ष मार्ग था। जबतक राजनीतिक स्वतन्त्रता और सत्ता हासिल नहीं कर ली जाती तबतक समाजवाद लड़ाई के तरीक़े पर असर डालने के सिवा सिर्फ़ एक तात्त्विक विषय रह जाता है। आज़ादी के पहले कोई समाजवाद हो नहीं सकता। यह ठीक था कि उपायों और साधनों के बारे में महत्त्व का मतभेद खड़ा हो सकता था, लेकिन मुझे, ख़ुद को इस बारे में कोई ख़ास परेशानी नहीं थी। मुझे विश्वास था कि काँग्रेस का शान्तिपूर्वक काम करने का तरीक़ा ही सही तरीक़ा था और ऊपरी नीति के तौर पर नहीं, बल्कि ऐसे बुनियादी तौर पर सही तरीक़े के रूप में हमें उसे आगे जारी रखना चाहिए जोकि हमें अपने उद्देश्य तक पहुँचा देगा।

अहिंसा

यूरप और उसके शान्तिवादियों को नज़रों में रखकर सोचनेवाले कुछ समाजवादी और मार्क्सवादी लोग अहिंसा के तरीक़े का मज़ाक उड़ाने की कोशिश करते हैं। मैं यूरप के शान्तिवादियों का समर्थक नहीं हूँ। लगातार एक के बाद दूसरे संघर्ष ने उन्हें न सिर्फ़ बिलकुल प्रभावहीन, बल्कि अनजाने में प्रतिक्रिया-वादियों और युद्ध के हामियों तक का हथियार साबित कर दिया है। उनका रुख अभीतक कुछ न करने और चुपचाप बैठे रहने का रहा है जिसका परिणाम बुराई और हिंसा के सामने झुकते जाना हुआ है। वे डरते रहे कि विरोध करने से कहीं इनके शान्ति के सिद्धान्त का भंग न हो जाय। राजनीतिक बातों में आत्म-समर्पण का निश्चित नतीजा यह होता है कि आगे चलकर नैतिक बातों में भी झुकना ही पड़ता है।

लेकिन कांग्रेस की अहिंसा इससे बिलकुल उलटी थी, और इसका आधार, राजनीतिक या नैतिक मामलों में, जिन्हें वह बुरा समझती थी उनके सामने सर न झुकाना था। अहिंसा की इस नीति में, जैसाकि दूसरी सब नीतियों में होता है, परिस्थिति के तक़ाज़े के मुताबिक़ समझौता करने की गुंजायश है, लेकिन असल में दूसरी नीतियों की बनिस्बत यह शायद ज्यादा अडिग है। यह शक्तिशाली है, निष्क्रिय नहीं; यह अविरोधी नहीं बल्कि अत्याचार करने की विरोधी है, यद्यपि वह विरोध शान्त होता है। व्यवहार में यह न सिर्फ़ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले परिणाम प्राप्त करने में ही, बल्कि इससे भी कहीं ज्यादा महत्त्व के काम राष्ट्र का नैतिक साहस बढ़ाने और जनता को शान्त, व्यवस्थित और एकसाथ मिलकर काम करने की तालीम देने में आश्चर्यजनक रूप से सफल सिद्ध हुई है।

क़रीब-क़रीब हरेक व्यक्ति ने, समाजवादियों तक ने, इसको राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार कर लिया है और यह महसूस कर लिया है कि इसके बदले इस जैसी कोई दूसरी चीज नहीं है। यह सही है कि कुछ ने इसको, इसके फलितार्थों को समझे बिना सहज स्वभाव ही स्वीकार न कर लिया था और कभी-कभी बिलकुल इसके मुताबिक बर्ताव नहीं करते थे। जहाँतक मेरा सम्बन्ध था, मुझे उसके स्वीकार करने में कोई दिक्क़त न थी, यद्यपि मेरे लिए वह धार्मिक विश्वास की चीज़ नहीं थी, न मैं यही कह सकता था कि हर हालतों में वह लागू हो सकती है। हिन्दुस्तान के लिए और हमारे आन्दोलन के लिए वह पूरी तरह लागू हो सकती थी और मेरे लिए इतना ही काफ़ी था।

खाई पाटना

मैंने पुराने नेताओं और समाजवादी-दल के बीच के खाई को पाटने में अपनी शक्ति लगाने का निश्चय किया। कुछ हद तक मैं इस काम के लिए उपयुक्त भी था, क्योंकि मेरा दोनों से ही घनिष्ट सम्बन्ध था। मेरा विश्वास था कि इन दोनों दलों के बिना हिन्दुस्तान का काम नहीं चल सकता और मुझे इसका कोई उचित कारण मालूम नहीं हुआ कि साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में इन दोनों का पूरा सहयोग क्यों नहीं हो सकता। पुराने नेता तपे हुए आदमी थे, जनता में उनकी प्रतिष्ठा थी, उसपर उनका प्रभाव था और कई बरसों के आन्दोलन के सञ्चालन का उन्हें अनुभव था। किसी भी तरह वे दक्षिणपक्षी या नरम नहीं थे, राजनीतिक दृष्टि से वे कहीं अधिक वाम-पक्षी अर्थात् उग्र थे और माने हुए साम्राज्य विरोधी थे। गांधीजी उनकी पीठ पर थे, कांग्रेस संस्था से बाहर रहकर उनकी सहायता करते थे और निश्चय ही उनकी और देश की शक्ति के स्तम्भ थे। भारतीय रंगमंच पर उनक

प्रभुत्व बराबर बना रहा और बिना उनके किसी बड़े संघर्ष या लड़ाई का ख़याल तक नहीं किया जा सकता था। समाजवादियों का यद्यपि छोटा ही दल था और वे एक अल्प-संख्या की ही हिमायत करते थे, लेकिन एक महत्त्वपूर्ण और बढ़ते हुए समूह के प्रतिनिधि थे और उनका प्रभाव खासकर नवयुवकों में बहुत फैल रहा था। मैं उनके सिद्धान्त और उनके उद्देश्य से सहमत था और मेरे और बहुत से दूसरों के लिए वे भावी के प्रतिनिधि थे।

लखनऊ-अधिवेशन

लखनऊ-कॉंग्रेस की शुरूआत के पहले हम कार्यसमिति की बैठक में इकट्ठा हुए और यह देखकर प्रसन्नता और उल्लास हुआ कि इस समिति ने कई प्रस्ताव जो मैंने पेश किये और जो कॉंग्रेस को एक नया ही रंग और उसके दृष्टिकोण को अधिक उग्र बनानेवाले मालूम होते थे, पास कर दिये। इसने मेरी कॉंग्रेस के विभिन्न दलों को मिलाये रख सकने की क्षमता के मेरे विश्वास को बढ़ा दिया। लेकिन खुद कॉंग्रेस अधिवेशन ने मेरे इस ख़याल को कमज़ोर कर दिया और मुझे अनुभव हुआ कि मेरे रास्ते में कुछ कठिनाइयाँ तैयार खड़ी हैं। अधिवेशन ने मेरी कुछ महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिशों को रद्द कर दिया और पुराने नेताओं का पूरी तरह समर्थन किया। वहाँ मैंने अपने को अल्पमत में पाया और मैं इस चक्कर में पड़ गया कि क्या मुझे अब भी सभापति बना रहना चाहिए। कार्य-समिति के निर्माण ने मुझे और भी ज्यादा परेशान किया, क्योंकि इसमें उन पाबन्दियों पर ज़ोर दिया गया जिनके नीचे मुझे काम करना था। सिद्धान्त के अनुसार तो कार्य-समिति को नामज़द करना मेरा काम था, लेकिन मैं कॉंग्रेस के बहुमत का उल्लघंन नहीं कर सकता था। मैंने कॉंग्रेस के सभापतित्व से इस्तीफ़ा दे देने का निश्चय कर लिया और कॉंग्रेस के खुले अधिवेशन की समाप्ति के समय मैंने जो अन्तिम शब्द कहे थे उनका मतलब यही था कि पिछले कुछ दिनों की शान-शौक़त के बाद मैं फिर विस्मृति के गर्भ में विलीन होने जा रहा हूँ।

४

लखनऊ-कॉंग्रेस समाप्त हुई और कार्य-समिति का ऐलान कर दिया गया। भारी मानसिक संघर्प के बाद मैंने इस्तीफ़ा न देने का निश्चय किया क्योंकि इस्तीफ़ा दे देने का परिणाम भयंकर होता और सारा कॉंग्रेस-संगठन उससे हिल उठा होता। मैंने अपने-को अपने सामने के काम में लगा दिया और महासमिति (आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी) के दफ्तर को बढ़ाने और उसमें कई नये विभाग खोलने की योज-

नायें तैयार कीं। अपने दिमाग़ में ये योजनायें लिये हुए मैं कार्य-समिति की पहली बैठक में गया। उनमें सिद्धान्त या किसी उच्च नीति का कोई प्रश्न नहीं था लेकिन फिर भी मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि मेरे कई साथियों ने मेरी तजवीज़ों को शक की नज़र से देखा। यह बात नहीं थी कि उनको उनपर कुछ आपत्ति थी लेकिन वे यह नहीं जानते थे कि ये बातें उन्हें कहाँ ले जायँगी। आख़िर लम्वी और थका देनेवाली बहस के बाद कुछ कमबेश मामूल की तजवीज़ें जिनके मंज़ूर होने में कुछ मिनटों से ज्यादा नहीं लगने चाहिएँ थे, मंजूर हुईं।

मैंने दौरे शुरू किये और दूसरी जगहों के साथ-साथ वम्वई भी गया। हर जगह मैं लखनऊ में तय हुए कांग्रेस के प्रोग्राम पर बोला और कांग्रेस को मज़बूत वनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। अपने भाषणों में मैंने हिन्दुस्तान की ग़रीबी और वेकारी के मसलों पर ज़ोर दिया और कहा कि इनका सही हल सिर्फ़ समाज-वाद के ज़रिये ही होसकता है। लेकिन आज़ादी के बिना सच्चा समाजवाद हो नहीं सकता और इसलिए हम सबको पहले आज़ादी हासिल करने के लिए अपनी पूरी ताक़त लगा देनी चाहिए। हर जगह अपार जनसमूह ने वड़े उत्साह के साथ मेरी इन वातों का स्वागत किया।

इस्तीफे

शुरू जुलाई १९३६ में कार्य समिति की दूसरी बैठक हुई और जिस उत्साह का मुझे प्रदर्शन हुआ था उससे उत्साहित होकर मैं वहाँ गया। मुझे यह देखकर ताज्जुव हुआ और मैं सहम गया कि मेरे कुछ साथी इससे सहमत नहीं हैं और जो कुछ हो रहा था उससे वे बहुत अधिक आशंकित थे। उन्होंने कार्य-समिति से इस्तीफ़ा दे दिया। (मौलाना अबुलकलाम आज़ाद इस बैठक में हाज़िर न होने वालों में थे) मैं यह देखकर सुन्न रह गया। ऐसा मालूम होता है कि उन्हें प्रचार-कार्य से सख्त चोट पहुँची थी; क्योंकि उनकी राय में एक तरह से वह उनके खिलाफ़ नियमित और लगातार आन्दोलन था और उसका अर्थ था कि उन्हें ऐसा व्यक्ति समझा जाता है जिसका समय वीत चुका है, जो पुराने विचारों के प्रतिनिधि हैं और जो देश की उन्नति में रुकावट डाल रहे हैं। वस्तुतः उनका यह कहना नहीं था कि मेरा इस प्रचार से कोई सम्बन्ध है, लेकिन इस तरह का प्रचार करनेवालों में से कुछ के सिद्धान्तों के साथ मेरी सहानुभूति का अर्थ उसका अप्रत्यक्ष समर्थन समझा गया।

इस सवसे मुझे वड़ा ताज्जुव हुआ। कुछ ग़ैर-ज़िम्मेदार आदमियों के वेवकूफ़ी भरे और आपत्तिजनक भाषण हुए और वक्तव्य निकले थे, लेकिन इस्तीफ़ा देने की

यह कोई माकूल वजह नहीं थी। लम्बे अर्से से चली आनेवाली कटुता और संघर्ष का मेरे साथियों पर जो असर पड़ा था शायद वही इसके पीछे रहा हो, हालाँकि उस कटुता और संघर्ष में तेज़ी से कमी होती जा रही थी। कुछ हदतक यह ख़याल था कि कांग्रेस समाजवादी दल ईमानदारी का व्यवहार नहीं कर रहा है। यद्यपि उसके तीन सदस्य कार्य-समिति में थे फिर भी दल एक तरह से विरोधी का-सा काम करता रहा। लेकिन मैं समझता हूँ सबसे बड़ा कारण उन लोगों का यह ख़याल था कि मेरे भाषण सम्भव है मतदाताओं को चौंका दे और इस तरह आनेवाले आम चुनावों पर उनका उलटा असर पड़े। लेकिन बाद को यह मालूम होगया कि चुनाव जीतने में मैं काफ़ी योग्य था।

गांधीजी को पत्र

गांधीजी के बीच में पड़ने से इस्तीफ़े वापस ले लिये गये, लेकिन मैं वर्धा से हताश-सा लौटा। मैंने सोचा कि मैं इस्तीफ़ा देदूँ और सारा मामला महा-समिति के सामने रख दूँ ताकि आगे के काम के लिए माक़ूल इन्तज़ाम होसके। मैंने इलाहाबाद से गांधीजी को एक लम्बा पत्र लिखा, जिसके कुछ उद्धरण नीचे देता हूँ।

"जबसे मैंने वर्धा छोड़ा है में अपने शरीर में कमज़ोरी और दिमाग़ में परेशानी महसूस करता हूँ। अवश्य ही कुछ तो इसका कारण सर्दी है, जिसने मेरे गले की तकलीफ़ को बढ़ा दिया है। लेकिन साथ ही कुछ दूसरे भी कारण हैं, जो सीधे मन और आत्मा पर असर करते हैं। अपने यूरप से लौटने के बाद से मैंने देखा है कि कार्यसमिति की बैठकें मुझे बहुत थका देती हैं, और मेरी शक्ति क्षीण कर देती हैं और हरेक नई बैठक के बाद मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं उम्र में कई वर्ष ज्यादा बूढ़ा होगया हूँ। मुझे कुछ ताज्जुब न होगा अगर कार्यसमिति के मेरे दूसरे साथी भी ऐसा ही महसूस करते हों। यह एक अशुभ अनुभव है और किसी भी कार्य की सफलता के रास्ते में बाधक होजाता है।

"जब मैं यूरप से लौटा तब मुझसे कहा गया था कि इस समय देश में गिरावट आ गई है इसलिए हमें धीमी चाल से चलना होगा। लेकिन पिछले चार महीने में मुझे ख़ुद को जो थोड़ा-सा अनुभव हुआ है, उससे यह ख़याल ठीक नहीं मालूम होता। जहाँ-जहाँ मैं गया वहाँ मुझे उभरता हुआ जोश ही दिखाई दिया और जनता का उत्साह देखकर मैं चकित रह गया।.........मामलों को ठीक करने और संकट के टालने में आपने जो कष्ट किया उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे तब भी यकीन था और अब भी मेरा विश्वास है कि उस तरह अलग होने की तजवीज का अपने सारे काम पर चुनावों तक पर भयंकर असर होता। और इतने

पर भी इस समय हम कहाँ हैं और हमारे लिए भविष्य के गर्भ में क्या है ?······मैंने अपनी किताब में और उसके बाद भी अपने वर्तमान विचारों के बारे में विस्तार से लिखा है। वे विचार आकस्मिक नहीं हैं। वे मेरे अंग हैं, और यद्यपि यह सम्भव है कि भविष्य में उन्हें बदल दूँ या उनमें सुधार कर लूँ, लेकिन जबतक मैं उन्हें मानता हूँ तबतक मैं उन्हें प्रकट अवश्य करूँगा। मैं व्यापक एकता को ज्यादा महत्त्व देता हूँ इसलिए मैंने उनको अधिक-से-अधिक नम्र तरीक़े पर प्रकट किया है और निश्चित मत के रूप में रखने के बजाय उनके द्वारा विचार जागृत करने की ही भावना अधिक रही है। मुझे अपने इस तरीक़े में और कांग्रेस जो-कुछ कर रही है उसमें कोई विरोध नहीं पाया·········।"

चुनाव

इस्तीफ़ा देने और सारा मामला अगले महीने बम्बई में होनेवाली महासमिति (आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी) की बैठक पर छोड़ने के निश्चित इरादे से मैं सिन्ध को रवाना हुआ। वहाँ मुझे स्पेन में बग़ावत हो जाने की ख़बर मिली और उसका मुझपर बड़ा असर हुआ। मैंने इस बग़ावत को यूरप-व्यापी ही नहीं बल्कि संसार व्यापी युद्ध में बदल जानेवाली चीज़ के रूप में देखा। बड़े-से-बड़े संघर्षों का छिड़ जाना नज़रों के सामने दिखाई देने लगा और हिन्दुस्तान का उनमें क्या हिस्सा होगा यह मसला मेरे लिए बहुत ज़रूरी होगया। मैंनें सोचा ऐसे वक़्त में जबकि हम सबका मिलकर काम करना इतना लाज़िमी है, क्या मैं इस्तीफ़ा देकर अपनी संस्था को कमज़ोर बनानें और आन्तरिक संकट पैदा करने का कारण बनूँ ? तरह-तरह की आशंकाओं से मेरा दिमाग़ परेशान हो उठा और इस्तीफ़े का ख़याल उसी में बह गया।

बम्बई में कार्यसमिति ने चुनाव-घोषणा-पत्र तैयार किया और यह ताज्जुब की बात थी कि बिना किसी लम्बी-चौड़ी बहस के वह पास होगया। हम लोगों में सहयोग का एक नया वातावरण छा गया और मनमुटाव कम हुआ मालूम होता था; जैसा कि एक साथी ने ख़ुशी के साथ कहा, ऐसा लगता था कि मानों फिर वही पुराना समय आ गया।

ज्योंही चुनाव नज़दीक आये, हम सब उसके आन्दोलन में कूद पड़े और उस समय के लिए हमारे आपसी झगड़े ग़ायब होगये। कई महीनों तक मैं हिन्दुस्तान के एक ओर से दूसरी ओर तक घूमा और लाखों आदमियों के चेहरे मेरी नज़रों के सामने से गुज़रे। मैंने अपने इस देश के हज़ारों पहलू देखे जिनमें परस्पर बहुत भिन्नता थी, लेकिन जिनपर भारत को एक करनेवाली छाप थी। मैंने यह समझने

की कोशिश की कि उन करोड़ों आँखों के पीछे क्या चीज़ है जो मेरी ओर टकटकी लगाये हुए थी, क्या उनकी आशायें और आकाँक्षायें हैं और कितनी अगणित उनकी मूक वेदनायें और मुसीबतें हैं। मुझे ऐसी झांकियाँ दिखाई दीं, जिन्होंने मेरी आँखों को रोशन कर दिया और मुझे यह अनुभव करा दिया कि हमारे लाखों करोड़ों लोगों की समस्यायें कितनी अधिक हैं।

नई शक्तियाँ

चुनाव हुए, महासमिति ने कुछ शर्तों के साथ पदग्रहण करने का निश्चिय किया, और उसके वाद अस्थायी मन्त्रिमण्डलों का समय आया। कुछ प्रान्तों में काँग्रेस ने पदग्रहण किया, और स्वयं इसके कारण जनता की शक्ति खुल गई और किसान और मज़दूर जाग उठे और आगे क़दम वढ़ाने लगे। नई समस्यायें खड़ी हुई और आन्तरिक संघर्षों ने, जो अभीतक ज्यादातर सैद्धान्तिक थे नया रूप धारण किया। कोई भी, यहाँतक कि पदग्रहण के विरोधी तक काँग्रेस मंत्रिमण्डलों के लिए संकट खड़ा नहीं करना चाहते थे। लेकिन हड़तालियों और किसान-प्रदर्शनकारियों की तरफ़ से उनपर दवाव डालने के लगातार प्रयत्न हुए, जिससे मन्त्रि-मण्डलों को वहुत-कुछ परेशानी हुई। विहार में किसान आन्दोलन का काँग्रेस संस्था के साथ संघर्ष होगया। दूसरी जगहों पर भी, काँग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के क़ायम होने से जो ऊँची आशाएं पैदा हो गई थीं उनके पूरा न होने के कारण असन्तोष पैदा होगया। कुछ सुधारों के जारी किये जाने के वावजूद सरकार का शासन-तन्त्र पुराने तरीक़े पर ही चल रहा था। खासकर मद्रास में तो काँग्रेसी सरकार ने कुछ हद तक पुरानी सरकार के ही खतरनाक तरीक़े पर काम किया।

कुछ हदतक ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि सरकार का पुराना फ़ौलादी ढाँचा वहाँ अव भी वदस्तूर क़ब्ज़ा जमाये हुए है और प्रान्तीय सरकारों के कार्यो पर रुकावटें लगाये हुए हैं। लेकिन काँग्रेस में ऐसे लोगों की तादाद दिन-पर-दिन वढ़ती गई जिनका खयाल था कि मन्त्रि-मण्डल अपने सिद्धान्तों के मुताविक ज्यादा सफलतापूर्वक काम कर सकते थे, लेकिन वे वहुत अधिक अत्म-सन्तोपी होते जा रहे हैं। मन्त्रि-मण्डलों और प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों के वीच पूरा सहयोग नहीं था जोकि सफल-प्रगति के लिए जरूरी था, और नरीमेन का मामला और वाटली-वाला की गिरफ्तारी आदि की कई घटनायें ऐसी होगई जिनसे आन्तरिक संघर्प को और वल मिल गया। मेरे लिए इन संक्षिप्त लेखों में इन सव मामलों पर चर्चा करना मुश्किल है, उस हालत में मैं लिखता ही चला जाऊँगा और मौजूदा स्थिति पर पहुँचने में वहुत देर लग जायगी। फिर भी यह जरूरी है कि इन घटनाओं और

१९३७ की काँग्रेस की आधार भूत बातों को ध्यान में रखना चाहिए और इसलिए बाद के लेख में मैं इनकी चर्चा करूँगा।

गांधीजी क्षुब्ध

लोगों में जो अस्पष्ट लेकिन आम असन्तोष था, अक्तूबर १९३७ की महासमिति की बैठक में उसने कुछ रूप धारण किया और धीमें शब्दों में प्रकाश में आया। रियासत मैसूर में लम्बे अर्से से जारी दमन का भी बहुत विरोध हुआ और एक प्रस्ताव, जिसकी भाषा अच्छी नहीं बनी थी, पास हुआ। ये प्रस्ताव, और खासकर मैसूर वाला, कार्यसमिति के बहुत-से सदस्यों के पसन्द नहीं थे, और गाँधीजी, जोकि उस समय बहुत बीमार थे, इनसे क्षुब्ध हो उठे। कार्यसमिति की एक बैठक में उन्होंने अपने विचार असाधारण रूप से कड़ी भाषा में प्रकट किये और कांग्रेस में विभिन्न दलों के बनावटी सहयोग की निन्दा की। उन्होंने कहा कि इस तरह का सहयोग चल नहीं सकता, और इसलिए संस्था ऊपर से नीचे तक एक-सी होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि अगर काँग्रेस में तब्दीली नहीं की गई और इस रवैये को ख़तम नहीं किया गया तो वे अपने-आपको काँग्रेस से बिलकुल हटालेंगे। मैं यह साफ़ नहीं समझ सका कि वे दरअसल क्या कराना चाहते हैं, लेकिन यह साफ़ था कि मैंने जो-कुछ किया वह उन्हें सख्त ना-पसन्द था। मैंने तजवीज़ पेश की कि महा-समिति की बैठक फिर बुलाई जाय क्योंकि संकट सामने ही खड़ा दिखाई देता है। बाद को यह तय पाया कि फिलहाल जिस तरह काम चल रहा है चलता रहे।

'हरिजन' में गाँधीजी ने मैसूर के प्रस्ताव की आलोचना की और महासमिति के लिए उसे अनियमित बताया, जिसका मतलब यह हुआ कि वहाँ मैंने उसकी जो चर्चा होने दी, मेरे उस काम की उन्होंने निन्दा की। मैं इससे आश्चर्य-चकित होगया, क्योंकि मेरा यह विश्वास था और अब भी है कि विधान और क़ानून की रू से गाँधी जी ग़लती पर थे। मैंने इसपर उन्हें और कार्यसमिति के दूसरे सदस्यों को लिखा और प्रेस-वक्तव्य देने का विचार किया, लेकिन बाद को सार्वजनिक वाद-विवाद से बचने के खयाल से अन्त में ऐसा नहीं किया। लेकिन मेरा यह ख़याल ज्यादा-ज्यादा बढ़ता ही गया कि कार्यकारिणी के एक ज़िम्मेदार सदस्य की हैसियत से मैं अब निभ नहीं सकता। मैंने ऐसा कोई काम न करने का जिससे संकट पैदा हो जाय, और जल्दी ही होनेवाले अगले काँग्रेस अधिवेशन से कार्य समिति से निकल आने का निश्चय किया। इसके अनुसार मैंने गाँधीजी को और अपने कुछ साथियों को इसकी इत्तिला दे दी और सुभाष बाबू को भी, जोकि उस समय यूरप में थे, लिख दिया। (वह उस समय तक बाक़ायदा सभापति नहीं चुने गये थे, लेकिन उनका चुनाव निश्चित था)।

की कोशिश की कि उन करोड़ों आँखों के पीछे क्या चीज़ है जो मेरी ओर टकटकी लगाये हुए थी, क्या उनकी आशायें और आकाँक्षायें हैं और कितनी अगणित उनकी मूक वेदनायें और मुसीबतें हैं। मुझे ऐसी झांकियाँ दिखाई दीं, जिन्होंने मेरी आँखों को रोशन कर दिया और मुझे यह अनुभव करा दिया कि हमारे लाखों करोड़ों लोगों की समस्यायें कितनी अधिक हैं।

नई शक्तियाँ

चुनाव हुए, महासमिति ने कुछ शर्तों के साथ पदग्रहण करने का निश्चिय किया, और उसके वाद अस्थायी मन्त्रिमण्डलों का समय आया। कुछ प्रान्तों में काँग्रेस ने पदग्रहण किया, और स्वयं इसके कारण जनता की शक्ति खुल गई और किसान और मज़दूर जाग उठे और आगे क़दम वढ़ाने लगे। नई समस्यायें खड़ी हुईं और आन्तरिक संघर्षों ने, जो अभीतक ज्यादातर सैद्धान्तिक थे नया रूप धारण किया। कोई भी, यहाँतक कि पदग्रहण के विरोधी तक काँग्रेस मंत्रिमण्डलों के लिए संकट खड़ा नहीं करना चाहते थे। लेकिन हड़तालियों और किसान-प्रदर्शनकारियों की तरफ़ से उनपर दवाव डालने के लगातार प्रयत्न हुए, जिससे मन्त्रि-मण्डलों को वहुत-कुछ परेशानी हुई। विहार में किसान आन्दोलन का काँग्रेस संस्था के साथ संघर्ष होगया। दूसरी जगहों पर भी, काँग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के क़ायम होने से जो ऊँची आशाएं पैदा हो गई थीं उनके पूरा न होने के कारण असन्तोष पैदा होगया। कुछ सुधारों के ज़ारी किये जाने के वावजूद सरकार का शासन-तन्त्र पुराने तरीक़े पर ही चल रहा था। खासकर मद्रास में तो काँग्रेसी सरकार ने कुछ हद तक पुरानी सरकार के ही खतरनाक तरीक़े पर काम किया।

कुछ हदतक ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि सरकार का पुराना फौलादी ढाँचा वहाँ अव भी वदस्तूर क़ब्ज़ा जमाये हुए है और प्रान्तीय सरकारों के कार्यों पर रुकावटें लगाये हुए हैं। लेकिन काँग्रेस में ऐसे लोगों की तादाद दिन-पर-दिन वढ़ती गई जिनका खयाल था कि मन्त्रि-मण्डल अपने सिद्धान्तों के मुताविक ज्यादा सफलतापूर्वक काम कर सकते थे, लेकिन वे वहुत अधिक अत्म-सन्तोपी होते जा रहे हैं। मन्त्रि-मण्डलों और प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों के वीच पूरा सहयोग नहीं था जोकि सफल-प्रगति के लिए ज़रूरी था, और नरीमेन का मामला और वाटली-वाला की गिरफ्तारी आदि की कई घटनायें ऐसी होगई जिनसे आन्तरिक संघर्ष को और वल मिल गया। मेरे लिए इन संक्षिप्त लेखों में इन सव मामलों पर चर्चा करना मुश्किल है, उस हालत में मैं लिखता ही चला जाऊँगा और मौजूदा स्थिति पर पहुँचने में वहुत देर लग जायगी। फिर भी यह ज़रूरी है कि इन घटनाओं और

अनुपयुक्त

"पिछले कई महीनों से मैं यह महसूस कर रहा हूँ कि जिस तरह की बातें हो रही हैं मैं हिन्दुस्तान में सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकता। निस्सन्देह एक आदमी जहाँतक हमेशा निभा सकता है मैंने साथ निभाने की कोशिश की है। लेकिन मैंने देखा कि मेरे लिए यहाँ स्थान नहीं है और मैं यहाँ के लिए अनुपयुक्त हूँ। यह था एक कारण (यद्यपि और दूसरे भी कारण थे) जिससे कि मैंने यूरप जाने का निश्चय किया। मुझे ऐसा लगा कि मैं वहाँ अधिक उपयोगी होऊँगा और किसी भी वक्त में अपने थके और परेशान दिमाग़ को ताज़ा कर सकूँगा।"

इस पत्र में मैंने गांधी सेवा संघ का ज़िक्र किया है। बाद की जांच से मुझे मालूम हुआ कि, जैसाकि मुझे विश्वास दिलाया गया था, दरअसल चोटी के लोगों में कोई नया राजनैतिक परिवर्त्तन नहीं हुआ था। ग़लती स्थानीय क्षेत्रों के कुछ व्यक्तियों की थी, जिन्होंने चुनावों के बारे में गाँधीजी के और संघ के नाम का दुरुपयोग किया।

५

प्रान्तीय स्वराज्य क्योंकि सीमित था इसलिए उसके अमल में लाने में कई खतरे थे। एक तो इससे, जैसीकि दरअसल इसकी मंशा थी, प्रान्तीयता बढ़ने की सम्भावना थी और दूसरे हमारी साम्राज्य-विरोधी लड़ाई संकीर्ण धाराओं में बदल जाती थी। इन कारणों से आन्तरिक झगड़े—साम्प्रदायिक, सामाजिक और संस्था-सम्बन्धी—बढ़ गये। ग़रीबी, बेकारी, ज़मीन और उद्योग-सम्बन्धी समस्याएँ हमसे अपने हल किये जाने का तक़ाज़ा कर रही थीं, लेकिन मौजूदा विधान और आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत उनका हल हो नहीं सकता था। हमारे लिए एक ही रास्ता खुला था, वह यह कि इन समस्याओं के हल करने में हम जितनी दूर जा सकें जायँ—लेकिन वह दूरी ज्यादा लम्बी न थी—और कुछ हद तक आम जनता का बोझ हलका करें और उसके साथ ही उस विधान और ढांचे को बदलने की अपनी तैयारी करें। वह वक्त तो आयगा ही जबकि मौजूदा विधान से प्राप्त हो सकनेवाली सब सुविधायें समाप्त हो जायँगी और हमें विधान के प्रति मूक आत्म-समर्पण अथवा उसके ख़िलाफ़ चुनौती, इन दो रास्तों में से एक चुनना पड़ेगा। दोनों के ही साथ संकट लगा हुआ है। क्योंकि अगर हम झुके तो बड़ी समस्याएँ हल न निकलने या रास्ता न पाने पर हमें दबा लेंगी। अगर हमने आत्म-समर्पण नहीं किया, और ऐसा करने का हमारा कोई इरादा भी न हुआ, तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष अनिवार्य है, बशर्त्ते कि वह स्वयं न झुक जाय जिसके किये जाने की कोई सम्भावना

नहीं। लेकिन एक दूसरी ही सम्भावना हो सकती है वह यह कि अगर हमार राष्ट्रीय आन्दोलन काफ़ी शक्तिशाली होजाय तो संकटपूर्ण स्थिति को देखते हुए तं बिना किसी वड़ी लड़ाई के ही हम अपना उद्देश्य प्राप्त करलें।

सामञ्जस्य

इसमें शक नहीं कि हमारी ताक़त बहुत बढ़ गई है और हमारे आन्तरि झगड़ों और कभी-कभी झूठी सदस्यता के बावजूद काँग्रेस आज अपने पहले किर्स भी ज़माने से कहीं ज्यादा शक्तिशाली है। जनता राजनैतिक दृष्टि से पहले कं बनिस्बत कहीं ज्यादा जागृत है। फिर भी अगर इस शक्ति को संगठित करके ठीव दिशा में प्रवाहित न किया तो वही हमारे मार्ग में विरोधिनी हो जायगी। फिलहाल मैं साम्प्रदायिक समस्या पर विचार करना नहीं चाहता, यद्यपि मैं इसके प्रत्यक्ष महत्त्व को और उसका हमारी लड़ाई पर कितना असर पड़ता है इस बात को जानता हूँ।

हमें, अपनी संस्था—काँग्रेस और प्रान्तीय सरकार, दोनों में ही राजनैतिक संघर्ष का और जनता की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामञ्जस्य करना था। दोनों को पूरा न कर सकने का मतलब होता कमज़ोरी और बढ़ता हुआ पक्षाघात। एक तरफ़ तो हमें अपनी लड़ाई को मुख्यतया राजनैतिक और साम्राज्य-विरोधी बनाये रखना था; दूसरी तरफ़, हमें जहाँतक सम्भव हो सकता था हमें सामाजिक प्रगति की ओर जाना था। इन सबसे ज्यादा ज़रूरी यह था कि काँग्रेस को अनुशासन में बंधी हुई एक सुसंगठित संस्था बनाकर रक्खा जाय, जिसका लड़ाई के सब पहलुओं पर अच्छी तरह नियन्त्रण हो। अगर कांग्रेस कमज़ोर हो जाती है तो हमारे लिए कोई सफल लड़ाई लड़ने की सम्भावना नहीं रह जाती।

मन्त्रिमण्डल

जैसाकि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ मैं काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की प्रगति से असन्तुष्ट था। यह सच है कि उन्होंने अच्छा काम किया है, उनकी कारगुज़ारियों का हिसाब प्रभावोत्पादक था, मिनिस्टरों को बहुत कड़ी मिहनत करनी पड़ती थी, और तिसपर भी उन्हें तरह-तरह के आक्षेप और आलोचनायें सहनी पड़ती थीं, जिनका आधार अक्सर ग़लतफ़हमी हुआ करता था। उनका काम गुनाह बेलज्जत था। फिर भी मैं यह महसूस करता था कि प्रगति की रफ़्तार धीमी है और उनका दृष्टिकोण वह नहीं है जो कि होना चाहिए। न मैं उस ढंग से ही सन्तुष्ट था, जिससे कि हमारे काँग्रेसी नेता हमारे सामने उपस्थित होनेवाली समस्याओं को हल करने

की कोशिश करते थे। मतभेद का या किस बात पर कितना ज़ोर दिया जाय इसका इतना प्रश्न नहीं था, हालांकि कभी-कभी मतभेद भी हो जाता था। जिस चीज़ नें मुझे चौंकाया वह थी ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को, जो बहुत आगे बढ़े हुए दिखाई देते थे अथवा प्रचलित दृष्टिकोण में ठीक बैठते हुए मालूम नहीं होते थे, दबा देने की प्रवृत्ति। यह एक ख़तरनाक प्रवृत्ति थी यद्यपि यह बहुत आगे नहीं बढ़ी थी, और इसने मुझे जर्मन समाजवादी-जनतन्त्रवादियों और ब्रिटिश मज़दूर दल के भविष्य की याद दिला दी। यह सच है कि कांग्रेस में कुछ तथाकथित गरमदल वालों ने ज़िम्मेदारी से काम नहीं किया और जानबूझकर इन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जिनसे आन्तरिक संघर्ष की वृद्धि और कांग्रेस की शक्ति कमज़ोर होती थी। उनके संयुक्त मोर्चे के भाव का मतलब था कांग्रेस का पूरा संरक्षण पाना, और उसकी प्रतिष्ठा का लाभ उठाना, और इसके बावजूद बाहर से उसकी आलोचना और उसपर आक्रमण करना। लाल झण्डा जोकि अपने क्षेत्र में पूरी तरह उपयुक्त था, अक्सर राष्ट्रीय झण्डे का चुनौती-स्वरूप होगया। किसान-सभा अक्सर स्थानीय कांग्रेस कमेटी के स्थायी रूप से विरोध का काम करती थी, और कभी-कभी ऐसे प्रदर्शनों का भी आयोजन किया जाता था जिनसे संघर्ष और उत्तेजना ही पैदा हो सकती थी। यह बात ज्यादातर निम्नश्रेणियों में ही हुई, लेकिन किसान सभाओं के नेता भी आश्चर्यजनक रूप में ग़ैर ज़िम्मेदार लोग थे। गांवों में सब तरह के अवाञ्छनीय व्यक्ति जिन्हें स्थानीय कांग्रेस कमेटी में स्थान नहीं मिल पाता था या जो किसी और कारण से असन्तुष्ट होते थे स्थानीय किसान सभा में शरण पाजाते थे। कभी-कभी राजनैतिक दृष्टि से प्रतिगामी लोग भी कांग्रेस को कमज़ोर बनाने के लिए किसान सभाओं का उपयोग कर लेते थे।

इन सब बातों से कांग्रेस में छोटे-मोटे संघर्ष हुए और इससे भी ज्यादा ख़राबी यह हुई कि उसमें अनुशासन-हीनता की भावना बढ़ने लगी। अगर इससे संगठित और अनुशासित वामपक्ष की वृद्धि हुई होती तो यह अच्छी प्रगति का चिन्ह होता, भले ही उससे कोई सहमत होता या नहीं। वास्तव में यह जनता में अच्छी जागृति होने का द्योतक था, जिससे अपने को गरमदलीय या वामपक्षी कहलाने वाले पारस्परिक विरोधी विभिन्न दल अनुचित लाभ उठा रहे थे। काफ़ी अरसे तक वामपक्षी दलों की आपसी लड़ाई ने ही उनकी ज्यादातर शक्ति लेली।

अव्यवस्थित शक्तियाँ

गांधीजी की इन सैद्धान्तिक संघर्षों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन परिस्थिति को ताड़ने की अपनी असाधारण कुशलता के कारण उन्होंने यह अनुभव

कर लिया कि कांग्रेस में अनुशासन-हीनता बड़ी तेजी से बढ़ रही है और अव्यवस्थित शक्तियों को खुला छोड़ दिया गया है। वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद से एक बड़ी टक्कर लेने के बारे में अधिकाधिक सोच रहे थे, और अनुशासन-हीनता उसकी भूमिका नहीं होसकती थी। मैं खुद इस स्थिति से दुःखी था। इससे मुझे चीनी क्रान्ति की कुछ दुःखद स्थितियों की याद हो आई और मैं नहीं चाहता था कि भारत भी उस उच्छृंखल प्रक्रिया में से गुज़रे

१९३७ का नरीमान-प्रकरण १९३८ का खरे-काण्ड इस अनुशासन-हीनता की भावना के ही चिन्ह थे। इन दोनों बातों के लिए सरदार वल्लभभाई को ही दोषी ठहराया जाता था। यह उनके साथ परले सिरे की बेइन्साफ़ी थी क्योंकि कार्य समिति के दूसरे सभी सदस्य भी इनके लिए पूरी तरह ज़िम्मेदार थे। श्री नरीमान के सम्बन्ध में जो-कुछ भी कार्रवाई की गई, कांग्रेस के सभापति की हैसियत से उनके हरेक के साथ मेरा निकट सम्बन्ध था। इसी तरह डा० खरे के सम्बन्ध में जो फ़ैसला हुआ उसके लिए राष्ट्रपति बोस ज़िम्मेदार थे।

सत्तावाद

मैं समझता हूँ कांग्रेस में सत्तावाद की कुछ प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति कम की जा सकती थी, लेकिन जबकि हमारे यहाँ अनुशासन इतना ज़रूरी था और बिना उसके हमारी इतनी बड़ी संस्था के टुकड़े-टुकड़े होजाने का खतरा था, कुछ हदतक वह अनिवार्य थी। लोगों को जिस बात पर ऐतराज था सम्भवतः वह कीगई कार्रवाइयों पर उतना नहीं था जितना कि उनके किये जाने के ढंग पर। लेकिन हर हालत में श्री नरीमान और डा०. खरे के साथ जो-कुछ किया गया उसको लेकर कांग्रेस में फ़ासिज्म की बात करना महज़ सनकीपन और बेहूदगी थी। डा० खरे ने जो-कुछ किया वह राजनीतिक दृष्टि से और कांग्रेस के दृष्टिकोण से भी अक्षम्य था। उन्होंने कार्यसमिति की पीठ पीछे और उसके शुरू होने के कुछ ही समय पहले इस इरादे से गवर्नर के साथ साज़िश की कि जब कार्यसमिति की बैठक हो तो वह अपने सामने पहले से ही सब बातें तय हुई पावें। अगर उस वक़्त उस चीज़ को चलने दिया जाता तो कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों पर से सारे नियन्त्रण का खातमा होजाता और मिनिस्टर लोग अपने आप में खुद ही क़ानून बन जाते।

श्री नरीमान ने खुद ही आफ़त मोल ली थी। ऐसा मालूम होता है वे अपने को पार्टी का नेता नियुक्त किया जाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे और जब यह बात नहीं हुई तो उन्होंने एक आन्दोलन खड़ा कर दिया जो कई महीनों तक जारी रहा। इस आन्दोलन ने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया और हैरत में

डाल दिया। मैं श्री नरीमान को तबसे काफ़ी निकट रूप से जानता था जबकि अपनी छोटी उमर में ही वह कांग्रेस में शरीक हुए थे। मैंने उन्हें शान्ति के समय और संघर्ष-काल दोनों में ही काम करते देखा है और उनके गुणों और अवगुणों के बारे में अपनी कुछ राय बना चुका था। अगर मैं इस बात के लिए मतदाता होता तो मैंने उन्हें नेता बनाये जाने के लिए अपना मत न दिया होता क्योंकि मैं नहीं समझता कि इस ज़िम्मेदारी को वे अच्छी तरह निभा सकते थे। बाद की घटनाओं ने मेरी इस राय को और भी मज़बूत कर दिया है और श्री नरीमान ने ज़िम्मेदारी के जिस अभाव का परिचय दिया है उसने मुझे आश्चर्य चकित कर दिया है।

लेकिन कुछ भी हो, अगर वह अधिक योग्य और अधिक उपयुक्त व्यक्ति हैं तो भी उन्होंने और उनके समर्थकों ने जो आन्दोलन चलाया उसकी सफ़ाई दी नहीं जा सकती। इसमें सबसे ज्यादा दुःखद बात यह हुई कि इस बात को साम्प्रदायिक रंग दे दिया गया। ठीक इसी तरह डा० खरे के मामले में कांग्रेस के ख़िलाफ़ महाराष्ट्रीयपन की भावना को भड़काने का प्रयत्न किया गया।

प्रजातन्त्र

नरीमान और खरे के प्रकरणों में प्रजातन्त्र का गला घोंटने की बात बहुत कही गई है। मैं समझता हूँ जो ऐसा कहते हैं उन्होंने या तो असलियत को जानने की तकलीफ नहीं की है या तो हमारे प्रजातन्त्र-सम्बन्धी विचारों में बहुत अन्तर है। नाक-भौं चढ़ाना और ताने मारना तो बड़ा आसान है। और आज न सिर्फ़ कांग्रेस में ही बल्कि उन साधारण लोगों में भी जो करते-धरते तो कुछ नहीं और दूर से ही उपदेश बघारते हैं, यह एक फैशन या रिवाज-सा हो गया है। मैं समझता हूँ कि अगर कार्यसमिति इन दोनों ही मामलों में स्पष्ट कार्रवाई न करती तो अपने कर्त्तव्य से बिल्कुल च्युत होती। सिर्फ़ ज़ोर-ज़ोर से और लगातार चिल्लाने का ही अर्थ प्रजातन्त्र नहीं है, यद्यपि कभी-कभी उसका भी महत्त्व होता है। स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र में उत्तरदायित्व, आचरण के कुछ आदर्श और आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। हमारी लड़ाई में खासकर जिस ढंग की लड़ाई हम लड़ रहे हैं, इन सब गुणों की आवश्यकता है और वह हममें काफ़ी मात्रा में नहीं है तो हमें समझ रखना चाहिए कि हम असफलता की जोखिम उठा रहे हैं।

वामपक्ष

वामपक्षी, अगर शब्द का सही अर्थ में प्रयोग किया जाय तो, कुछ सिद्धान्तों और नीतियों के लिए खड़े हैं। स्वभावतः वे अपनी तरफ़ सब तरह के व्यक्तियों

को आकृष्ट करते हैं—बलिदान की भावना से भरे हुए सर्वोत्तम ढंग के व्यक्तियों को भी और बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को भी। अगर वे सावधानी नहीं रक्खेंगे तो उनमें अयोग्य व्यक्तियों की भरमार हो जायगी और वे अपनी वह नेकनामी खो बैठेंगे जो उनकी होनी चाहिए। अव्यवस्था, बे सिर-पैर के विचार अथवा ग़ैर ज़िम्मेदार कार्यवाइयों से उन्हें सफलता नहीं मिलेगी। भारत के विद्यार्थी-वर्ग को नूतन विचारों, स्पष्ट निर्णय और व्यवस्थित कर्म का पोषण-स्थल होना चाहिए। दुःख है कि अक्सर उनमें इन गुणों का अभाव दिखाई देता है।

ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट

एक बात और है जिसका मैं ज़िकर कर देना चाहता हूँ गोकि इस विवरण में उसकी चर्चा बाद में आती है। वह है बम्बई का 'ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट'। मुझे अत्यन्त खेद है कि जिस समय इस एक्ट पर विचार हुआ और यह पास हुआ मैं भारत से बाहर था। अगर मैं यहाँ होता तो सम्भव था कि मैं इसमें कुछ परिवर्तन करवा लेता। कुल मिलाकर यह क़ानून निश्चय ही अच्छा है, लेकिन मेरे खयाल के मुताबिक़ इसमें कुछ ज़बर्दस्त ख़राबियाँ हैं जो मज़दूरों को नुक़सान पहुँचानेवाली हैं और जो उसकी सारी विशिष्टता या ख़ूबी को ही मिटा देती हैं। जिस ढंग से यह पास हुआ वह भी दुःखपूर्ण था। दूसरी तरफ़ यह भी उतने ही दुःख की बात थी कि मज़दूरों के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के माने हुए विरोधियों के साथ सहयोग किया और स्थिति का, कांग्रेस को हानि पहुँचाने के लिए दुरुपयोग किया। अगर कोई दूसरा रवैया इख्तियार किया जाता और दूसरे ढंग से काम किया जाता तो सम्भव है उसका नतीजा कहीं ज्यादा बेहतर होता।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने कुछ निश्चित और ठोस सफलतायें प्राप्त की हैं; कुछ बातों में असफल भी हुए हैं। उनकी एक सफलता, जिससे बहुत आशाएँ हैं, सार्वजनिक शिक्षा-सम्बन्धी उनका नया तरीक़ा है। साक्षरता आन्दोलन अच्छा साबित हुआ है। इससे भी ज्यादा महत्त्व की बात प्रारम्भिक शिक्षा की वह नई योजना है जिसका आधार ज़ाकिर हुसैन कमेटी की रिपोर्ट है। मैं उससे बहुत प्रभावित हुआ हूँ और मैं समझता हूँ कि हमने अपनी नई पीढ़ी की शिक्षा के लिए सही प्रणाली पाली है।

६

पिछले साल मेरी यूरप-यात्रा का अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के तीव्र संघर्षों के समय का मेल होगया। स्वभावतः ही मैंने अपने को उसके अनुकूल बना लिया और मैं

सीधा बार्सिलोना जा पहुँचा, जिसे कि सर्वेण्टीज़ 'संसार के सुन्दर नगरों का मुकुट' कहते हैं। आह, वही मुकुट आज चूर-चूर किया जानेवाला है और स्वतन्त्रता का वह पुरातन स्थान जो फर्डीनेण्ड और इसाबेला के ज़माने तक में आज़ादी के लिए जूझता रहा अब दुश्मनों के हाथों में जानेवाला है! लेकिन जिस समय मैं इस सुन्दर नगर में पहुँचा, अभी भी वह मानव की इस दुर्दमनीय भावना का यह निवास-स्थान था जो हारना जानती ही नहीं और जो आज़ादी के लिए मौत और तबाही को कुछ भी नहीं गिनती। रात को मैंने आकाश से बम गिरते हुए और जनता पर मृत्यु और ध्वंसता बरसते हुए देखा। सड़कों और गलियों में भूखों मरते हुए लोगों के झुण्ड देखे, शरणागतों की दुर्दशा देखी; मैंने मोर्चे पर की सेनायें देखीं और अन्तर्राष्ट्रीय सेना के उन नौजवानों को देखा; जिनमें के इतने नौजवान स्पेन की उस भूमि में सदा के लिए चिर-विश्राम कर रहे हैं। स्पेन के दु:खान्तक दृष्य से भरा हुआ मैं वापस लौटा—उस स्पेन के जिसका गला दुश्मनों के हाथों उतना नहीं जितना उन लोगों के हाथों घोटा जा रहा है जो अपने को प्रजातन्त्र का मित्र कहते हैं।

बाद को मैं चेकोस्लोवाकिया गया और एक दूसरा दु:खान्तक दृष्य देखा, एक और दूसरे विश्वासघात का पट अपनी आँखों के सामने खुलते देखा। इन सब घटनाओं का मुझपर ज़बर्दस्त असर पड़ा और मैंने अपने मन में अपनी आज़ादी की लड़ाई की इनके साथ तुलना करके देखने की कोशिश की। इस तेज़ी से बदलने वाले नाटक में संघ-शासन—फेडरेशन और भारत की बहुत-सी छोटी-मोटी समस्याएं हक़ीक़त में ग़ायब-सी होती दिखाई देने लगीं। ज्यादा बड़ी और महत्त्व की चीज़ें आगे आ रही थीं और वही समय था जबकि भारत भी उन्हींको सामने रखकर विचार करता।

मैं व्यक्तिगत हैसियत से यूरप गया था लेकिन स्वभावत: ही मैं कुछ प्रातिनिधिक हैसियत रखता था। मैं अपने सार्वजनिक और ख़ानगी भाषणों में इस चीज़ को भुला नहीं सकता था और इसलिए मैं इस बात में सतर्क था कि कोई बात ऐसी न कहूँ या करूँ जो भारत के मेरे सहयोगियों को उलझन या कठिनाई में डाल दे। इसलिए मैंने इस बात की सावधानी रक्खी कि अपनी सार्वजनिक और ख़ानगी सब तरह की राजनीतिक कार्रवाइयों की पूरी और विस्तृत रिपोर्ट भेजता रहा; मैं यह दर्याफ्त करता रहा कि मैंने जो रास्ता इख्तियार किया है वह ठीक है या नहीं, मैंने पूरी हिदायतों के लिए लिखा और जवाब के लिए कुछ सवाल भी लिख भेजे। मैंने ऐसी कई रिपोर्टें भेजीं, और इनमें से हरेक कांग्रेस के सभापति के पास, कार्यसमिति के सदस्यों के लिए उसके प्रधान-मन्त्री के पास और गांधीजी

के पास पहुँची। मेरा यह दुर्भाग्य था कि सभापति ने इनकी पहुँच की स्वीकृति तक नहीं भेजी और फलतः मुझे उनकी तरफ़ से कोई हिदायत नहीं मिली। प्रधान-मन्त्री ने मुझे इत्तिला दी कि कार्यसमिति के सदस्यों ने आमतौर पर मेरे रवैयें को पसन्द किया है। गाँधीजी ने भी अपनी पसन्दगी ज़ाहिर की।

यह ज़ाहिर था कि किसी बहस-मुबाहसे या बातचीत में कांग्रेस के संक्षिप्त प्रस्ताव की भाषा में ही बोलना काफ़ी नहीं होता; यह ज़रूर है कि बहस का आधार उसी पर होना चाहिए। सब तरह की सम्भावनाओं की जांच और कांग्रेस के निर्णय की छाया में सब तरह की प्रगतियों पर विचार करना होता है। किसी विषय से तफ़सीलवार विचार के लिए महज़ आन्दोलनकारी रुख़ काफ़ी नहीं होता। यही वह वजह थी कि जिससे मैं हिन्दुस्तान के कांग्रेसी नेताओं से पूरी हिदायतें चाहता था। मेरा ख़ुद का आमरुख़ यह था कि संघ-शासन—फेडरेशन का सारा सवाल ही अब पुराना अथवा समय से पीछे पड़ गया है और यही वह समय है जबकि राष्ट्रीय पंचायत (कांस्टिटयूएण्ट असेम्बली) द्वारा बनाये गये विधान के ज़रिये भारतीय समस्या का हल किया जाय।

मुझे मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड में पर्दे की ओट में जनता पर यह असर डालने की कोशिश की जा रही है कि संघशासन—फेडरेशन—के बारे में जो-कुछ भी मैंने कहा वह कांग्रेस अथवा गांधीजी के मत को ज़ाहिर नहीं करता, और गांधीजी ही वह व्यक्ति हैं जोकि इसका आख़िरी फैसला कर सकते हैं। उसके बारे में मैंने कार्य-समिति को और साथ ही गांधीजी को लिखा। गांधीजी ने इसके जवाब में मुझे एक तार भेजा। जिसमें उन्होंने मैंने जो-कुछ कहा उससे अपनी सहमति प्रकट की, यह बात दूसरी है कि उनकी भाषा कुछ दूसरी हो। उसी समय उन्होंने इस सम्बन्ध में 'हरिजन' में भी एक लेख लिखा।

अन्तर्राष्ट्रीय संकट और युद्ध की सम्भावना ने भी हमारे लिए महत्त्व की समस्याएं खड़ी कर दीं और मैं हिन्दुस्तान के अपने सहयोगियों से उनके बारे में हिदायतें चाहता था। काँग्रेस के सभापति की तरफ़ से मुझे किसी भी तरह की हिदायत नहीं मिली और दूसरे लोगों से जो मिलीं वह बहुत कम थीं। इससे और कई दूसरे संकेतों से मैंने समझा कि मैंने जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति इख़्तियार की है, काँग्रेस सभापति उसे क़तई पसन्द नहीं करते।

यूरप के संघर्ष और तेज़ी से होनेवाली वहाँ की उथल-पुथलों को देखते हुए, मैं समझता हूँ हममें से अधिकांश के लिए यह सोचना लाज़मी हो गया था कि आगे उनका राजनीतिक धर्म क्या होना चाहिए। सम्भवतः संघर्ष और तनाव का यह ख़याल हिन्दुस्तान में इतना स्पष्ट नहीं था और घटनाओं ने हमें अपने पहले दावों

र फिर नये सिरे से विचार करने को मजबूर नहीं किया। भारत के हमारे समाजवादी मित्रों ने बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने में उचित परिवर्त्तन नहीं किया। घटनाओं से विवश किये जाने पर यूरप के कम्यूनिस्ट—साम्यवादी—बदल सकते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के नहीं।

सोवियट यूनियन में घटनाएँ जिस तरह का रुख़ पकड़ती जा रही थीं; वहाँ जो मुक़दमे चल रहे थे और लगातार बहुसंख्यक कम्यूनिस्टों की सफ़ाई हो रही थी मैं उससे बहुत विचलित हो गया था। मेरा ख़याल है कि मुक़दमे आमतौर पर नेकनीयती से चलाये गये थे और शासन के ख़िलाफ़ निश्चित रूप से षड़यन्त्र किये गये थे और जानबूझकर आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को नष्ट करने की व्यापक कोशिशें जारी थीं। इतने पर भी वहाँ जो-कुछ भी हो रहा था मैं उसके औचित्य को स्वीकार न कर सका और यह मुझे शासन में किसी ख़राबी का चिन्ह मालूम हुआ, जिसके कारण कि निरन्तर हिंसा और दमन के प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती थी। फिर भी रूसी अर्थव्यवस्था में जो प्रगृति हुई थी, जनता का दर्जा जितना ऊँचा उठता जा रहा था, सांस्कृतिक विषयों में हुई भारी प्रगृति और वहां की ऐसी ही बहुत-सी दूसरी बातें मुझे बराबर प्रभावित करती रहीं। मैं सोवियट यूनीयन जाने के लिए उत्सुक था, लेकिन बदक़िस्मती से मेरी लड़की की बीमारी ने मुझे वहाँ जाने से रोक दिया।

रूस की आन्तरिक घटनाओं के बारे में मेरे कुछ भी सन्देह रहे हों, मेरे ख़याल उसकी वैदेशिक नीति के बारे में बिलकुल साफ़ थे। वह निरन्तर शान्ति और सुलह की ओर इंग्लैण्ड और फ़्रांस की नीति के विपरीत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारियों को पूरा करने और विदेशों के प्रजातन्त्रों के समर्थन की हामी रही है। सोवियट यूनियन यूरप और एशिया में फ़ासिज्म के खिलाफ़ एक ज़बर्दस्त गढ़ के रूप में मौजूद है। सोवियट यूनियन के बिना आज यूरप का भाग्य क्या हुआ होता? फासिस्ट प्रतिक्रियावादी हर जगह विजयी हो गए होते और प्रजातन्त्र और आज़ादी भूतकाल का स्वप्न हो गई होती।

स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में और सारे सितम्बर[1] (१९३८) के संघर्ष में कम्यूनिस्ट पार्टी ही मुझे बिलकुल ठीक और सीधा रास्ता लेती हुई दिखाई दी। परिस्थिति का उनका विश्लेषण क़रीब-क़रीब हमेशा ही ठीक निकला और जबकि बहुत-से प्रगतिशील दलों की नाड़ियाँ ढीली हो गई थीं कम्यूनिस्ट आमतौर पर

१. सितम्बर १९३८ में जर्मनी के भाग्यविधाता हर हिटलर ने फ्रांस और इंग्लैण्ड की अनुमति से चेकोस्लोवाकिया का सुडेटनलैण्ड प्रान्त जर्मनी में मिला लिया था।—अनु०

के पास पहुँची। मेरा यह दुर्भाग्य था कि सभापति ने इनकी पहुँच की स्वीकृति तक नहीं भेजी और फलतः मुझे उनकी तरफ़ से कोई हिदायत नही मिली। प्रधान-मन्त्री ने मुझे इत्तिला दी कि कार्यसमिति के सदस्यों ने आमतौर पर मेरे रवैये को पसन्द किया है। गाँधीजी ने भी अपनी पसन्दगी ज़ाहिर की।

यह ज़ाहिर था कि किसी बहस-मुबाहसे या बातचीत में कांग्रेस के संक्षिप्त प्रस्ताव की भाषा में ही बोलना काफ़ी नहीं होता; यह ज़रूर है कि बहस का आधार उसी पर होना चाहिए। सब तरह की सम्भावनाओं की जांच और कांग्रेस के निर्णय की छाया में सब तरह की प्रगतियों पर विचार करना होता है। किसी विषय से तफ़सीलवार विचार के लिए महज़ आन्दोलनकारी रुख़ काफ़ी नहीं होता। यही वह वजह थी कि जिससे मैं हिन्दुस्तान के कांग्रेसी नेताओं से पूरी हिदायतें चाहता था। मेरा खुद का आमरुख़ यह था कि संघ-शासन—फेडरेशन का सारा सवाल ही अब पुराना अथवा समय से पीछे पड़ गया है और यही वह समय है जबकि राष्ट्रीय पंचायत (कांस्टिटचूएण्ट असेम्बली) द्वारा बनाये गये विधान के ज़रिये भारतीय समस्या का हल किया जाय।

मुझे मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड में पर्दे की ओट में जनता पर यह असर डालने की कोशिश की जा रही है कि संघशासन—फेडरेशन—के बारे में जो-कुछ भी मैंने कहा वह कांग्रेस अथवा गांधीजी के मत को ज़ाहिर नहीं करता, और गांधीजी ही वह व्यक्ति हैं जोकि इसका आखिरी फैसला कर सकते हैं। उसके बारे में मैंने कार्य-समिति को और साथ ही गांधीजी को लिखा। गांधीजी ने इसके जवाब में मुझे एक तार भेजा। जिसमें उन्होंने मैंने जो-कुछ कहा उससे अपनी सहमति प्रकट की, यह बात दूसरी है कि उनकी भाषा कुछ दूसरी हो। उसी समय उन्होंने इस सम्बन्ध में 'हरिजन' में भी एक लेख लिखा।

अन्तर्राष्ट्रीय संकट और युद्ध की सम्भावना ने भी हमारे लिए महत्त्व की समस्याएं खड़ी कर दीं और मैं हिन्दुस्तान के अपने सहयोगियों से उनके बारे में हिदायतें चाहता था। काँग्रेस के सभापति की तरफ़ से मुझे किसी भी तरह की हिदायत नहीं मिली और दूसरे लोगों से जो मिलीं वह बहुत कम थीं। इससे और कई दूसरे संकेतों से मैंने समझा कि मैंने जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति इख़्तियार की है, काँग्रेस सभापति उसे क़तई पसन्द नहीं करते।

यूरप के संघर्ष और तेज़ी से होनेवाली वहाँ की उथल-पुथलों को देखते हुए, मैं समझता हूँ हममें से अधिकांश के लिए यह सोचना लाज़मी हो गया था कि आगे उनका राजनीतिक धर्म क्या होना चाहिए। सम्भवतः संघर्ष और तनाव का यह ख़याल हिन्दुस्तान में इतना स्पष्ट नहीं था और घटनाओं ने हमें अपने पहले दावों

पर फिर नये सिरे से विचार करने को मजबूर नहीं किया। भारत के हमारे समाजवादी मित्रों ने बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने में उचित परिवर्त्तन नहीं किया। घटनाओं से विवश किये जाने पर यूरप के कम्यूनिस्ट—साम्यवादी—बदल सकते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के नहीं।

सोवियट यूनियन में घटनाएँ जिस तरह का रुख़ पकड़ती जा रही थीं; वहाँ जो मुक़दमे चल रहे थे और लगातार बहुसंख्यक कम्यूनिस्टों की सफ़ाई हो रही थी मैं उससे बहुत विचलित हो गया था। मेरा ख़याल है कि मुक़दमे आमतौर पर नेकनीयती से चलाये गये थे और शासन के ख़िलाफ़ निश्चित रूप से षड़यन्त्र किये गये थे और जानबूझकर आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को नष्ट करने की व्यापक कोशिशें जारी थीं। इतने पर भी वहाँ जो-कुछ भी हो रहा था मैं उसके औचित्य को स्वीकार न कर सका और यह मुझे शासन में किसी ख़राबी का चिन्ह मालूम हुआ, जिसके कारण कि निरन्तर हिंसा और दमन के प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती थी। फिर भी रूसी अर्थव्यवस्था में जो प्रगृति हुई थी, जनता का दर्जा जितना ऊँचा उठता जा रहा था, सांस्कृतिक विषयों में हुई भारी प्रगृति और वहां की ऐसी ही बहुत-सी दूसरी बातें मुझे बराबर प्रभावित करती रहीं। मैं सोवियट यूनीयन जाने के लिए उत्सुक था, लेकिन बदक़िस्मती से मेरी लड़की की बीमारी ने मुझे वहाँ जाने से रोक दिया।

रूस की आन्तरिक घटनाओं के बारे में मेरे कुछ भी सन्देह रहे हों, मेरे ख़याल उसकी वैदेशिक नीति के बारे में बिलकुल साफ़ थे। वह निरन्तर शान्ति और सुलह की ओर इंग्लैण्ड और फ़्रांस की नीति के विपरीत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारियों को पूरा करने और विदेशों के प्रजातन्त्रों के समर्थन की हामी रही है। सोवियट यूनियन यूरप और एशिया में फ़ासिज्म के खिलाफ़ एक ज़बर्दस्त गढ़ के रूप में मौजूद है। सोवियट यूनियन के बिना आज यूरप का भाग्य क्या हुआ होता? फासिस्ट प्रतिक्रियावादी हर जगह विजयी हो गए होते और प्रजातन्त्र और आज़ादी भूतकाल का स्वप्न हो गई होती।

स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में और सारे सितम्बर[1] (१९३८) के संघर्ष में कम्यूनिस्ट पार्टी ही मुझे बिलकुल ठीक और सीधा रास्ता लेती हुई दिखाई दी। परिस्थिति का उनका विश्लेषण क़रीब-क़रीब हमेशा ही ठीक निकला और जबकि बहुत-से प्रगतिशील दलों की नाड़ियाँ ढीली हो गईं थीं कम्यूनिस्ट आमतौर पर

१. सितम्बर १९३८ में जर्मनी के भाग्यविधाता हर हिटलर ने फ्रांस और इंग्लैण्ड की अनुमति से चेकोस्लोवाकिया का सुडेटनलैण्ड प्रान्त जर्मनी में मिला लिया था।—अनु०

साबित क़दम रहे और काम करते रहे। ब्रिटिश मजदूर दल के विपरीत, जिसने कि बदलती रहने वाली ज़माने की रफ्तार को समझने में आश्चर्यजनक अयोग्ता सिद्ध की, वे घटनाओं से सबक़ सीखने और उसके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करने की क्षमता रखते थे।

यूरप की घटनाओं,—फ़ासिज्म की वृद्धि, स्पेन का गृहयुद्ध और सबसे अधिक इंग्लैण्ड और फ्रांस की नामधारी प्रजातन्त्री सरकारों द्वारा जान-बूझकर नाज़ी और फ़ासिस्ट सरकारों को दिये गये प्रोत्साहन का मेरे दिल पर यह असर पड़ा कि सत्ताधारी वर्गों की सबसे बड़ी ख्वाहिश यही रहती है कि उनके स्थापित हित सुरक्षित रहें, जब राष्ट्रीयता का अर्थ होता है उनके हितों की रक्षा करना तब वे राष्ट्रीय और देशभक्त बन जाते हैं, लेकिन अगर उनके हितों पर आँच आती हो तो उनकी नज़रों में राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति का कोई मूल्य न रहेगा। ब्रिटेन और फ्रांस के शासक वर्ग सोवियट रूस के साथ मिल कर प्रजातन्त्र की रक्षा करने के बजाय अपने साम्राज्यों की सुरक्षता तक को ख़तरे में डाल देने के लिए तैयार हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि रूस के साथ सहयोग करने से कहीं ऐसी शक्तियां खड़ी न हो जायँ जो उनके विशिष्ट अधिकारों की जड़ खोद डालें। प्रजातन्त्र का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है, न आजादी का ही कोई मतलब, गोकि वे इनकी बड़ी लम्बी-लम्बी डींगें हांकते हैं; उनका मुख्य काम अपने स्थापित हित और विशिष्ट अधिकारों की रक्षा करना होता है। इस नीति से चलने पर भी अगर किसी तरह इनको खो बैठते हैं तो यह उनका दुर्भाग्य होगा।

मार्क्सवादी फ़िलासफी अथवा तत्त्वज्ञान व्यापक अर्थों में मुझे बहुत पसन्द है और इससे मुझे इतिहास की प्रक्रिया समझने में मदद मिलती है। मैं कट्टर मार्क्सवादी होने से बहुत दूर हूँ, न कोई और दूसरी कट्टरता ही मुझे पसन्द है। लेकिन मेरा यह विश्वास होगया है कि इंग्लैण्ड या और किसी दूसरी जगह लिबरलों का पुराना तरीका अब उपयुक्त या जायज नहीं रहा। 'व्यक्तिगत कार्य-स्वातन्त्र्य में अ-हस्तक्षेप' का सिद्धान्त अब मर चुका है और अगर हम इस विषय में काफ़ी तेज़ी से और भारी परिवर्त्तन नहीं करते तो हम चाहे इंग्लैण्ड में हों चाहे हिन्दुस्तान में, विनाश हमारी प्रतीक्षा में खड़ा है। आज सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए समाज का संगठन होगा। फासिस्ट आधार पर भी यह संगठन सम्भव है, लेकिन इसमें न्याय अथवा समानता नहीं होगी और इसलिए स्वभावतः ही अनुपयुक्त है। इसके सिवा दूसरा तरीक़ा एक ही है और वह है समाजवादी तरीक़ा।

बिना समानता के स्वतन्त्रता और प्रजासत्ता का कोई अर्थ नहीं है और समा-

नता तबतक स्थापित नहीं हो सकती जबतक कि उत्पत्ति के प्रमुख साधन व्यक्तिगत सम्पत्ति बने हुए हैं, इस तरह उत्पत्ति के इन साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व वास्तविक प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधक है। लोकमत के निर्माण में बहुत-सी बातें काम करती हैं लेकिन उन सबमें महत्त्वपूर्ण और प्रमुख सम्पत्ति है, जिससे अन्त में सारी संस्थायें और हमारे सामाजिक सूत्र चलते हैं। जो लोग वर्त्तमान सम्पत्ति-व्यवस्था से लाभ में हैं, वे एक वर्ग के रूप में स्वेच्छा से ऐसे परिवर्त्तन से सहमत नहीं होंगे जिससे उनकी शक्ति और अधिकारों की हानि होने की सम्भावना हो। हम एक ऐसी मञ्ज़िल तक पहुँच गये हैं जिसमें वर्त्तमान अर्थ-व्यवस्था और उत्पत्ति के साधनों में विरोध अवश्यम्भावी है और प्रजातन्त्र तबतक सफलतापूर्वक काम कर नहीं सकता जबतक इस व्यवस्था में पतिवर्त्तन न हो। मौजूदा प्रणाली में वर्गयुद्ध स्वाभाविक है क्योंकि उसे बदलने और उसे आधुनिक आवश्यकता के अनुकुल बनाने के प्रयत्नों का शासक तथा पूँजीपति वर्ग की तरफ़ से भारी विरोध होता ह। आज के संघर्षों का रहस्य यही है और इसका व्यक्तियों की सद्भावना या दुर्भावना से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि जोकि अपनी व्यक्तिगत हैसियत में अपने वर्गगत सम्बन्धों से भी ऊपर उठ सकते हैं। लेकिन समष्टि रूप से वर्ग के सब आदमी एक हो जायंगे और परिवर्त्तन का विरोध करेंगे। मैं नहीं समझता कि समाजवाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता काफ़ी अधिक तादाद में, बेशक मौजूदा व्यवस्था से भी ज्यादा तादाद में, क्यों न होगी। उसमें व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता होगी, विचार की स्वतन्त्रता होगी, साहसिक कार्य करने की स्वतन्त्रता होगी और परिमित रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की भी स्वतन्त्रता होगी। और इस सबसे बढ़कर वह स्वतंत्रता भी होगी जो आर्थिक सुरक्षा से प्राप्त होती है और जो आज सिर्फ़ थोड़े से लोगों को प्राप्त है।

मेरा ख़याल है कि अगर कोई आफ़त इस दुनिया को नष्ट न करदे तो हिन्दुस्तान और सारी दुनिया को समाजवाद की दशा में ही आगे बढ़ना पड़ेगा। यह प्रगति मुख़्तलिफ़ मुल्कों में अलग-अलग तरह की हो सकती है और यह भी सम्भव है कि इस बीच जो तरीक़े इख़्तियार किये जायँ वे एक-साँ न हों। लेकिन यह सोचना तो हद दर्जे की मूर्खता है कि विभिन्न पार्श्वभूमिवाले मुख़्तलिफ़ मुल्कों में ठीक एक ही तरह की प्रक्रियायें हों। हिन्दुस्तान अगर इस ध्येय को स्वीकार करे तो भी उसे इसके लिए ख़ुद अपना ही तरीक़ा ढूँढ़ना पड़ेगा, क्योंकि हमें व्यर्थ की क़ुरबानी और उस उच्छृंखलता से बचना होगा जो हमारी प्रगति को एक पीढ़ी के लिए अवरुद्ध कर सकती है।

लेकिन हिन्दुस्तान ने इस ध्येय को स्वीकार नहीं किया है और हमारा तात्का-

लिक ध्येय राजनीतिक स्वतंत्रता है। यह हमें याद रखना चाहिए और समस्या को घपले में नहीं डाल देना चाहिए, नहीं तो हमें न तो समाजवाद मिलेगा और न स्वतंत्रता। यह हम देख ही चुके हैं कि योरप तक में मध्यम श्रेणीवाले अभी इतने शक्तिशाली हैं कि वे आज व्यापक सामाजिक परिवर्त्तन का उद्देश्य रखनेवाले किसी भी आन्दोलन को कुचल सकते हैं, और जब किसी खतरे की आशंका होती है तो उनका झुकाव फ़ासिज्म की ओर होता है। कम-से-कम तुलनात्मक रूप से भारत के मध्यम श्रेणीवाले भी उतने ही शक्तिशाली हैं। ऐसी हालत में अगर हम उन्हें अपने से दूर रखकर विरोधी बनने के लिए मजबूर करें तो यह हमारी निहायत बेवकूफ़ी होगी। इसलिए हमारी राष्ट्रीय नीति ऐसी होनी चाहिए जिसमें राजनैतिक स्वाधीनता और साम्राज्यवाद-विरोध के संयुक्त आधार पर उनमें का एक भारी बहुमत शामिल हो सके, और हमारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति फ़ासिज्म विरोधी हो।

मार्क्सवाद या समाजवाद हिंसात्मक नीतियाँ नहीं हैं हालाँकि पूँजीवादी या नरमदल जैसे लगभग सभी दूसरे दलों की तरह उनमें भी हिंसा को अपना लेने की सम्भावना है। क्या वे काँग्रेस के शान्तिपूर्ण उपायों के साथ मेल खा सकते हैं, सिर्फ़ एक अस्थायी समाधान के रूप में नहीं, बल्कि ईमान्दारी के साथ सही और सच्चे रूप में? अहिंसा की सारी फ़िलासफ़ी की छानबीन करने या यह सोचने की हमें कोई ज़रूरत नहीं कि बहुत दूर के और तीव्र मामलों में वह कहाँतक लागू हो सकती है। हमारे लिए तो सवाल सिर्फ हिन्दुस्तान का है, आज और कल के हिन्दुस्तान का। और मेरा यह पूरा विश्वास होगया है कि अहिंसा हमारे लिए न केवल एकमात्र संभव उपाय है, बल्कि अपने गुणों के कारण वही सर्वोत्तम और सबसे कारगर उपाय है। मेरा ख़याल है कि ज्यों-ज्यों इसकी क्षमता का पता लगता जायगा त्यों-त्यों इसका प्रयोग-क्षेत्र भी बढ़ता जायगा। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में तो लोगों की एक बड़ी तादाद ने इसकी उपयोगिता को स्वीकार कर लिया है और यह हमारे आन्दोलन का ठोस आधार बन चुकी है। अभी ही यह काफ़ी कारगर साबित हो चुकी है, लेकिन इस बात की पूरी सम्भावना है कि भावी प्रयोगों से यह और भी विविध रूपों में लागू हो सकेगी। इसकी खिल्ली उड़ाकर उसकी असफलताओं को दिखलाना बहुत आसान है, लेकिन हिंसात्मक तरीक़ों की असंख्य असफलताओं को दिखलाना उससे भी कहीं आसान है। शस्त्रास्त्र से सुसज्जित शक्तिशाली देशों को बिना किसी युद्ध के पराज्य और गुलामी का शिकार होते हमने देखा है। लेकिन हिन्दुस्तान, शस्त्रास्त्र की सारी ताक़त के बग़ैर भी, इस तरह कभी नष्ट न होता।

हिन्दुस्तान में हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करने में ख़ासतौर से कई ख़तरे

हैं। संगदिल और अनुशासित रूप में यहाँ इसका प्रयोग नहीं हो सकता। सामूहिक संगठन और सामूहिक कार्रवाई में इससे रुकावट पड़ती है, और इससे बड़े पैमाने पर अन्दरूनी झगड़े पैदा होना निश्चित है, जिससे उच्छृंखलता बढ़कर हमारे आन्दोलन का ही खातमा हो जायगा। मैं इतना आशावादी नहीं हूँ, जो यह सोच सकूँ कि इस गड़बड़ में से स्वतंत्र, संयुक्त और उन्नत भारत का आविर्भाव होगा।

इस तरह की हिंसा की बात हिन्दुस्तान में कोई नहीं सोचता। अलबत्ता कुछ लोगों का यह खयाल ज़रूर है कि हिंसात्मक मनोवृत्ति से सर्वसाधारण की युद्ध-वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, इसलिए कल-कारखानों के मज़दूरों और किसानों में अस्पष्ट रूप से उसको फैलाना चाहिए। लेकिन यह बेवकूफ़ी है, और अगर यह जारी रही तो इसके परिणाम बड़े खतरनाक हो सकते हैं। जबतक कोई सरकार नरमी से पेश आये यह बढ़ती रहेगी, लेकिन कोई सरकार इसे नष्ट करने पर तुल जाय तो वह आसानी के साथ इसको कुचलकर मज़दूरों के संगठन को बिलकुल अस्तव्यस्त कर सकती है। क्योंकि शक्ति व्यक्तियों या दलों द्वारा कभी-कदास हिंसा का प्रदर्शन करने से प्राप्त नहीं होती, बल्कि जन-संगठन और जन-आन्दोलन की क्षमता से प्राप्त होती है, और जन-आन्दोलन के प्रभावशाली होने के लिए उसका शान्तिपूर्ण होना आवश्यक है।

हर हालत में यह तय है कि कांग्रेस की नीति शान्तिपूर्ण है, और अगर हम उसको माने तो ऐसा हमें पूरी तरह और ईमानदारी के साथ करना चाहिए। ऐसा न करना तो दो घोड़ों पर एक साथ सवार होने के समान है। जो भी कोई समाजवादी या साम्यवादी मुँह से अहिंसा की तारीफ़ करते हुए अमल उससे उलटा करता है, वह अपने आदर्श को हानि पहुँचाता है और लोगों को यह सोचने का मौक़ा देता है कि वह जो-कुछ कहता है उसपर अमल नहीं करता।

७

हम अपने मत-भेदों पर बहस करते हैं और बाज़ वक्त उनपर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देने लगते हैं। तो भी हमें याद रखाना चाहिए कि आज़ादी के राजनीतिक आन्दोलन के बारे में हमारी एकता बुनियादी है और दृष्टिकोणों और तरीकों का मत-भेद उसे कम नहीं कर सकता। संग्राम-काल में तो वह एकता अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप में सामने आ ही जाती है, दूसरे समयों में भी वह प्रत्यक्ष दिखाई देती रहती है। हमारे वाद-विवाद और आलोचनायें उस एकता पर हमला नहीं करतीं; अमल में वह भी उसके आधार पर होती हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि वर्त्तमान परिस्थितियों में भारत की स्वतन्त्रता, और साम्राज्यवाद का विरोध यही सबकी

एक-सी आकांक्षायें हैं जो हमारे देश के लाखों हृदयों को गतिमान कर रही हैं।

असली फूट साम्प्रदायिकता के दरवाज़े से हमारे अन्दर घुसती है और हमें मानना पड़ेगा कि कुछ प्रमुख संस्थायें ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार करती हैं जो हमारी राष्ट्रीय एकता की जड़ में ही कुठाराघात करते हैं। फिर भी मैं नहीं समझता कि इन सिद्धान्तों ने उन साम्प्रदायिक संस्थाओं के सदस्यों पर भी बहुत ज्यादा हद तक असर डाला हो। ज्योंही साम्प्रदायिक वातावरण में सुधार होगा विचार का यह तरीक़ा सम्भवतः ख़तम हो जायगा।

दो विभाग या दल

जहाँतक कांग्रेस का संबन्ध है, उसके सामने कोई कठिनाई नहीं है। असली कठिनाई हम क्या करते हैं या कौन-से प्रस्ताव पास करते हैं इसमें नहीं है, बल्कि हमारे अमल के तरीक़े और अपने पास किये हुए प्रस्तावों की व्याख्या में है। कांग्रेस में, जैसाकि एक प्रभावशाली संस्था में होना चाहिए, एक-दूसरे को दबानेवाले और फिर भी एकता की श्रृंखला में बँधे हुए कई तरह के विचारों के लोग हैं, मोटे अर्थों में इनके दो विभाग या धर्म हैं—(दरअसल इनका दक्षिण या वाम पक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है)—एक उन लोगों का जिन्हें गाँधीवादी कहा जा सकता है और दूसरे उनका जो अपने को आधुनिकतावादी समझते हैं। ये शब्द सही या ठीक अर्थों के परिचायक नहीं हैं, क्योंकि इनसे प्रतीत होता है कि गाँधीवाद कोई प्राचीन और गये-बीते ज़माने की चीज़ है जबकि सचाई यह है कि यह अत्यन्त आधुनिक और कुछ अंशों में हमारे मौजूदा ज़माने से भी आगे बढ़ा हुआ है। लेकिन यह पश्चिम के आधुनिकवाद से भिन्न है और इसमें जो-कुछ धार्मिक और आध्यात्मिक पुट है वह विज्ञान की उस भावना से मेल नहीं खाता जो यूरप के आज के विचारों की सर्वोच्च प्रतिनिधि है। उसमें दिमाग़ पर या उसकी प्रक्रियाओं पर तो कम और आत्म-प्रेरणा और आप्त-प्रामाणिक व्याख्या पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है, फिर भी कोई कारण नहीं कि गांधीवाद पर भी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से क्यों न देखा जाय और उसे विज्ञान की भावना के उपयुक्त क्यों न बनाया जाय।

ये नामधारी आधुनिकतावादी पचरंगे लोगों का समूह है, जिसमें विभिन्न प्रकार के समाजवादी और निकम्मे आदमी शामिल हैं, जो विज्ञान और आधुनिक प्रगति की बेसिर-पैर की बातें करते रहते हैं। इनमें के बहुत-से तो गये बीते ज़माने की राष्ट्रीयता के अवशेष हैं जिनका अधुनिकतावाद और विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं हैं।

दक्षिण और वाम

इन दो व्यापक दलों को दक्षिण या वाम पक्ष की गड़बड़ में नहीं डाल देना

चाहिए। दोनों ही दलों में दक्षिण-पक्षी भी हैं और वाम-पक्षी भी और इसमें शक नहीं कि हमारे कुछ सबसे बहादुर लड़ाका गांधीवादी दल में हैं। अगर कांग्रेस को दक्षिण और वाम-पक्ष की दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि उसमें दक्षिण-पक्षियों का एक छोटा-सा हिस्सा है, वामपक्षी अल्पमत में हैं और ज्यादातर दल ऐसे हैं जिनका झुकाव मध्य-वाम की तरफ़ है।

गांधीवादी दल की गिनती इसी मध्य-वाम दल में की जायगी। राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेस बहुत-अधिक वामपक्षी है, सामाजिक दृष्टि से उसका झुकाव वाम पक्ष की तरफ़ है लेकिन वह है मुख्यतः मध्यवर्ती। किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में वह किसान-पक्षी है।

गांधी

काँग्रेस के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करते समय गांधीजी की सबसे ज़बर्दस्त स्थिति को हमेशा याद रखना चाहिए। कुछ हदतक वे काँग्रेस पर हावी हैं, लेकिन उससे भी बहुत अधिक वह आमजनता पर हावी हैं। वह साधारणतया किसी दल के चक्कर में नहीं आते और गांधीवादी कहे जानेवाले दल से भी वे बहुत अधिक महान् हैं। कभी-कभी वह एकचित्त क्रान्तिकारी हो जाते हैं और अपने लक्ष्य की तरफ़ तीर की तरह बढ़ते हुए लाखों को हिला देते हैं। दूसरे समयों में वे गतिहीन हो जाते हैं, या ऐसे दिखाई देते हैं और दूसरों को दूरदर्शिता की नसीहत देने लगते हैं। उनके लगातार खराब रहनेवाले स्वास्थ्य ने इस स्थिति को और भी पेचीदा बना दिया है। वह राष्ट्रीय मामलों में पूरा हिस्सा नहीं ले सकते और बहुत-सी बातों के संपर्क में नहीं रह पाते; और इतने पर भी वह उसमें हिस्सा लेने और नेतृत्व करने से रुक नहीं सकते; क्योंकि उनके अपने अन्तःकरण की प्रेरणा और जनता की मांग उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर कर देती है। उनका कांग्रेस से कोई बाक़ायदा सम्बन्ध है या नहीं इस बात से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता। आज की कांग्रेस उन्हींकी सृष्टि है और स्वभावतः ही वे कांग्रेस के हैं। हर हालत में, देश में उनकी जो प्रमुख स्थिति है उसका ओहदे से कोई ताल्लुक़ नहीं और वे जबतक जिन्दा हैं, और उसके बाद भी लोगों के हृदयों में वे अपना प्रमुख स्थान बनाये रहेंगे। किसी भी नीति का निर्माण करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी भी राष्ट्रीय संग्राम में उनका पूरा सहयोग और पथ-प्रदर्शन ज़रूरी है। उनके बिना हिन्दुस्तान का कोई काम चल नहीं सकता।

यह है स्थिति का एक आधारभूत तत्त्व। देश के समझदार और विचारशील वामपक्षी इस बात को समझते हैं, इसलिए गांधीजी से विचारों या स्वभाव में

उनके कितने ही मत-भेद रहे हों वे ऐसे काम से बचते रहे हैं जिसमें उनके अल हो जाने का अंदेशा हो। उनका सदा यही प्रयत्न रहा है कि कांग्रेस को उसके वर्त्तमान नेताओं के हाथ में, जिसका अर्थ है गाँधीजी के पथ-प्रदर्शन में, छोड़ दिया जाय और साथ ही उसे वाम-पक्ष की तरह जितना ढकेला जा सके ढकेला जाय, उसे उग्र बनाया जाय और इस तरह अपने सिद्धान्तों का अधिक-से-अधिक प्रचार किया जाय।

एकता की ज़रूरत

अगर साधारणतया साधारण समय में ऐसा है तो संकट-काल में तो गांधीजी का पथ-प्रदर्शन और भी ज्यादा ज़रूरी है। ऐसे नाज़ुक समय में जबकि हम सबकी सारी सम्मिलित शक्ति आवश्यक है हममें फूट या ऐसी ही किसी चीज़ का होना हमें अयोग्य और प्रभावहीन बना देगा।

एक तरफ़ जबकि गांधीजी और उनके दल के पुराने नेता हमारे राष्ट्रीय कार्य तथा हमारे संग्राम के लिए ज़रूरी हैं, दूसरी तरफ़ यह भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि काँग्रेस में या देश में दूसरे जो प्रभावशाली दल काम कर रहे हैं उनके सक्रिय सहयोग के बिना उनके काम में रुकावट रहेगी और उनका काम प्रभावहीन या किसी भी तरह कम प्रभावशाली होगा। यह बात तथाकथित आधुनिकतावादी दल को लागू होती है; और उससे भी ज्यादा लागू होती है देश के व्यापक किन्तु अस्थिर विचारवाले जनसमूह को, अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों को। सीधे जनता पर यह लागू नहीं होती, लेकिन इस तरह विचार करनेवालों के ज़रिये उसपर इसका असर होता है।

इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचे कि इस आधुनिकतावादी दल का पूरा सहयोग भी काँग्रेस के सफलतापूर्वक काम करने के लिए आवश्यक है। इन दो दलों के बीच अगर सच्चे सहयोग का अभाव हो, तो अपने संयुक्त दुश्मन के साथ लड़ाई की बात सोचना मुश्किल है; क्योंकि तब काँग्रेस में संतुलन नहीं रहेगा और हमारी शक्ति अपने आन्तरिक झगड़ों में ही ख़र्च होगी, या अगर उससे बच भी गये तो एक दूसरे के बीच झगड़े और अविश्वास का वातावरण बढ़ेगा, जो कारगर काम के लिए घातक है। चोटी के लोग एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता और शिष्टता से भले ही पेश आयें, लेकिन संस्था के निचले दर्जे के लोगों में अनुशासन-हीनता और कलह का बोलबाला हो जायगा। काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों पर भी इसका बड़ा असर पड़ेगा और उनके लिए काम चलाना मुश्किल हो जायगा। साम्प्रदायिकता की विघातक प्रवृत्तियों से पेश आना पहले ही उनके लिए एक काफ़ी मुश्किल काम है।

संयुक्त मोर्चा

हर तरह से विचार करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि काँग्रेस के लिए संयुक्त रूप से काम करना आवश्यक है। क्या यह नामुमकिन है ? या, जैसा कि कहा गया है, जिनके मिश्रण से इसका निर्माण हुआ है वे एक-दूसरे से मेल नहीं खाते ? इस सवाल का जवाब देते हुए, हमारे लिए यह जरूरी है कि हम व्यक्तियों की दृष्टि से नहीं बल्कि विस्तृत नीतियों की दृष्टि से विचार करें। अतीत ने यह बतला दिया है कि इस तरह एकता से काम लिया जा सकता है, हालाँकि इसमें कठिनाइयाँ ज़रूर हैं। इस बारे में मुझे कोई शक नहीं है कि काँग्रेस के आम लोगों में ऐसे सहयोग और संयुक्त मोर्चे की बड़ी इच्छा है। भूतकाल में जो कठिनाइयाँ पैदा हुईं, वे हक़ीक़ी होते हुए भी मूलभूत नहीं थीं। मैं समझता हूँ कि इसमें कुसूर दोनों ही ओर का था।

'संयुक्त मोर्चा' शब्द अस्पष्ट है, जिनका किसी हदतक दुरुपयोग भी किया गया है। योरप में ऐसे मोर्चों के उदाहरण फूले-फले नहीं, और एक कड़ुआपन छोड़ गये हैं। लेकिन हमारे लिए यह याद रखना ज़रूरी है कि वहाँ आपस के मतभेद कहीं ज्यादा व्यापक थे। चीन में, दूसरी ओर, हम ऐसे दलों के बीच पूरा-पूरा सहयोग देखते हैं जो एक-दूसरे के कट्टर विरोधी थे। राष्ट्रीय संकट ने उन्हें आपस में मिल जाने के लिए बाध्य किया है। हमारे सामने जो समस्यायें और संकट मौजूद हैं, क्या हमें उनका उतना मान नहीं है ?

यह स्पष्ट है कि काँग्रेस को एक जाति का दल नहीं कहा जा सकता। यह तो राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है और इसके द्वार उन सबके लिए खुले हुए हैं जो इसके उद्देश्य और साधनों में विश्वास करें। साथ ही इसको शायद मुख़्तलिफ़ दलों का एक तरह का संघ या ऐसा संयुक्त सभास्थान (प्लेटफ़ार्म) नहीं समझा जा सकता, जहाँ परस्पर विरोधी मतों और उपायों को स्वीकृति के लिए पेश किया जाय और ऐसे समझौते पर पहुँचने की कोशिश की जाय जिसपर किसीको भी उत्साह न हो। काँग्रेस तो एक लड़ाकू जमात रही है और है। और अगर इसे अपने ऐतिहासिक उद्देश्य को पूरा करना है तो इसे ऐसा ही रहना होगा। प्लेटफ़ार्म कितने ही संयुक्त क्यों न हों, उनसे संग्राम नहीं चल सकता, न बहस-मुबाहसे की संस्थायें ही कोई कारगर लड़ाई चला सकती हैं।

काँग्रेसी नेतृत्व में पिछले दिनों जातिगत, संकीर्ण और इकतरफ़ा होने की प्रवृत्ति रही है। यह अवाँछनीय है, क्योंकि इससे उनके और कांग्रेस तथा मुल्क के लोगों की एक बड़ी तादाद के बीच खाई पैदा होती है। इन दूसरे दलों में उग्र विरोध करने, इसके लिए ऐसे उपायों का सहारा लेने कि जो काँग्रेस-नीति से मेल

नहीं खाते, अनुशासन और ग़ैर जिम्मेदारी को प्रोत्साहन देने और एकता व संयुक्त मोर्चों की बातें करते हुए भी कांग्रेस की एकता को कमज़ोर करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ रही है। यही संकट और नाश का मार्ग है।

वामपक्षी

शायद एक वक्त आ सकता है जबकि समझदार वामपक्षी कांग्रेस को अपने हाथ में लेने और उसे अपनी नीति के अनुसार चलाने में काफ़ी समर्थ हो जायँ। आज वे ऐसा कर सकने की हालत में नहीं हैं। न तो उनके पीछे राष्ट्र का समर्थन है, न इस काम के लिए आवश्यक अनुशासन ही उनमें है। उनके आपस में ही कई दल हैं, जो अपनी-अपनी खिचड़ी अलग ही पकाते हैं, जिनका एक-दूसरे के प्रति ज़रा भी प्रेम नहीं है और सिर्फ़ अपने समान विरोधी के विरोध करने में ही कुछ क्षण के लिए एक हो जाते हैं, और यह एकता ऐसी है जो जल्दी ही टूट जाती है। आज का वामपक्षी ध्वंसात्मक काम कर सकते हैं रचनात्मक नहीं,—किसी चीज़ को बिगाड़ सकते हैं, बना नहीं सकते। वे अभी भी आन्दोलन के युग में रहते हैं, और इस बात को पूरी तरह नहीं जानते कि कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन अब काफ़ी ऊँचे उठ चुके हैं और अधिकार और जिम्मेदारी के साथ बोलते हैं।

वामपक्षियों में जो समाजवादी हैं उन्हें अपने आन्दोलन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए और यह समझना चाहिए कि मौजूदा हालत में क्या किये जाने की ज़रूरत है। आज निश्चित हद से आगे बढ़ जाने का नतीजा कल उलटी प्रतिक्रिया हो सकता है। अगर वे अपने ऐतिहासिक दर्जे को जानते हैं तो उन्हें अपने-को उसके लिए तैयार करना चाहिए, और कांग्रेस और देश का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। इन सबसे ऊपर उन्हें अपनी शक्ति-भर अनुशासन-हीनता और उच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोकना होगा, क्योंकि इनमें से न तो आजादी ही पैदा हो सकती है न समाजवाद ही।

कार्यकारिणी

कोई भी कार्यकारिणी व्यापक अर्थ में एक-समान या हम-क़िस्म होनी चाहिए, अन्यथा वह प्रभावशाली न होगी। कांग्रेस जैसी किसी भी लड़ाई लड़नेवाली संस्था की कार्यकारिणी इस अर्थ में स्वभावतः ही एक-समान होनी चाहिए। लेकिन मैं कोई वजह नहीं देखता कि इस एक-समानता की व्याख्या संकुचित साम्प्रदायिक अर्थ में क्यों की जाय। कार्यकारिणी के हरेक सदस्य को उसके प्रति वफ़ादार रहना चाहिए और वहाँ किसी ऐसे दल के प्रतिनिधि के रूप में नहीं रहना चाहिए, जिसके प्रति उसकी मुख्य वफ़ादारी हो। पिछले दिनों कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य

भी हमारी कार्य-समिति में थे वे कांग्रेस समाजवादी दल की कार्यकारिणी के सदस्य बने रहे और अक्सर वे जुदा-जुदा स्वरों में बोलते रहे। मुझे यह आवांछनीय मालूम होता है। कार्य-समिति का कोई भी सदस्य किसी ऐसे दल या समूह की कार्यकारिणी का सदस्य न होना चाहिए, जिसे उसकी आलोचना करने का मौक़ा आ सकता हो। इसका मतलब दूसरे दल से अलग हो जाना नहीं है, वल्कि नियम का पालन है जो हमें साथ मिलकर काम करने में सहायक और कार्यसमिति और उसके सदस्यों को ज्यादा रुतबा देनेवाला होगा।

इस तरह के थे मेरे ख़याल जब मैं पिछले नवम्बर में यूरप से वापस लौटा और स्थिति का अध्ययन किया। मैंने रियासतों में बढ़ते हुए संघर्ष और गांधीजी को उसकी रहनुमाई करते देखा, फेडरेशन और दूसरे मामले अधर में लटके हुए और प्रान्तीय सरकारों को मिली हुई सुविधायें समाप्त होती दिखाई दीं, और भविष्य गतिमान दिखाई दिया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अधिक-से-अधिक ख़राब दिखाई दी। मैं भारत में सामने आते हुए संघर्ष की दिशा में विचार करने लगा।

अहिंसा

मैंने यह अनुभव किया कि कांग्रेस के दो मुख्य दलों के एक-साथ सहयोग के लिए हर तरह कोशिश करनी चाहिए। (और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, ये दल वाम-पक्षी या दक्षिणपक्षी नहीं हैं)। और यह सहयोग, खुले शब्दों में, कांग्रेस के मौजूदा प्रोग्राम और तरीकों, और ख़ासकर अहिंसा की नीति के पालन के आधार पर होना चाहिए। वर्तमान नेताओं के मार्ग में जानबूझकर अडंगे नहीं लगाना चाहिए, लेकिन तथाकथित आधुनिकतावादी-दृष्टिकोण रखनेवाले नये लोगों को भी आगे लाना चाहिए। यह सब कार्यसमित की एक-समानता में खलन डालने के लिए नहीं, बल्कि काम का बोझ और आन्दोलन के पथ-प्रदर्शन की ज़िम्मेदारी में हिस्सा बटाने के खयाल से ही यह सोचा गया था। गांधीजी का नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन लाज़मी था और मेरा यकीन था कि इन शर्तों पर वह इसके लिए ख़ुशी से राज़ी हो जाते। इन सबसे ऊपर हम सबको मिलकर कांग्रेस में से अनुशासन-हीनता और फूट की मनोवृत्ति को ख़तम करना था, यही आनेवाली लड़ाई की तैयारी के लिए आवश्यक भूमिका थी।

८

नवम्बर में मेरे यूरप से लौटते ही, मुझसे कांग्रेस के सभापतित्व के बारे में पूछा गया। अगले साल कौन राष्ट्रपति होगा? क्या मैं फिर राष्ट्रपति बनने को राज़ी हो जाऊँगा? मैंने इस बारे में ज़रा भी विचार नहीं किया था और मेरी कोई ख़ास

दिलचस्पी इसमें नहीं थी। अलबत्ता मेरे अपने मन में यह बात साफ़ थी कि मेरे फिर से राष्ट्रपति चुने जाने का कोई सवाल नहीं है। मेरे मन में जो विचार उठ रहे थे वे राष्ट्रपति के व्यक्तित्व के बारे में नहीं, बल्कि काँग्रेस की उस नीति के बारे में थे, जिसका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप में उसे अनुसरण करना चाहिए। उस वक्त मुझे यह मालूम नहीं था कि सुभाष बाबू शायद फिर खड़े होंगे।

कुछ समय बाद गांधीजी के साथ इस बारे में मेरी बातचीत हुई। मैंने अपना निश्चित मत यह बतलाया कि राष्ट्रपतित्व के लिए मौलाना अबुलक़लाम आज़ाद का चुनाव सर्वोत्तम होगा। वह मुझे हर तरह इसके उपयुक्त मालूम हुए। क्योंकि वह किसी संकीर्ण दायरे या दलबन्दी के चक्कर में पड़े बग़ैर काँग्रेस की पुरानी परम्परा को क़ायम रख सकते हैं। उनमें दूरन्देशी है, घटनाओं की बारीकी को समझने का माद्दा है, और उनके साथ सब तरह के काँग्रेसी सहयोग कर सकते हैं। मिल-जुलकर काम करने के लिए जिसकी कि खासकर इस नाज़ुक मौक़े पर मुझे बहुत ज़रूरत मालूम पड़ती है, वह मुझे मूर्त्तिमान आदर्श की तरह मालूम पड़ते हैं।

पुनर्निर्वाचन

मुझे पता लगा कि सुभाष बाबू फिर से राष्ट्रपति चुने जाने की दिशा में विचार कर रहे हैं। कई ऐसी वजहें थीं, जिनसे मुझे उनका यह विचार पसन्द न आया। जिस वजह से मुझे अपना चुना जाना पसन्द नहीं था, उसी वजह से मैंने समझा कि उनका चुना जाना भी ठीक नहीं है। मुझे लगा कि वह और मैं दोनों ही राष्ट्रपतित्व के भार से मुक्त रहकर अपने उद्देश्य को कहीं ज्यादा अच्छी तरह साध सकते हैं। पिछले साल उनके राष्ट्रपतित्व से काँग्रेस की नीति में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा, और बहुत कुछ अध्यक्ष का-सा ही उन्होंने काम किया है। काँग्रेस-महासमिति (अ० भा० काँग्रेस कमेटी) के दफ्तर और काँग्रेस की संगठनात्मक दिशा में उन्होंने मुश्किल से ही कोई दिलचस्पी ली है, जिससे उसमें पहले से कुछ ढिलाई भी आगई है। संगठन की तेज़ प्रगति के लिए फुर्ती से और योग्यता के साथ कार्रवाई करने की ज़रूरत है, लेकिन महासमिति का दफ्तर उसे सम्हालने में असमर्थ रहा, क्योंकि राष्ट्रपति का ज्यादातर वक़्त कलकत्ता के स्थानीय और प्रान्तीय मामलों में ही लगा रहा।

खुद-ब-खुद ही मुझे ऐसा लगा कि सुभाष बाबू के उम्मीदवार होने पर चुनाव में जो प्रतिस्पर्धा होगी उससे शायद मुख्तलिफ़ दिक़्क़तें पेश आयँगी और ऐसा वातावरण बन जायगा जो, जिस संयुक्त रूप से काम होना मैं आवश्यक समझता हूँ, उसके खिलाफ़ होगा। 'दक्षिण' और 'वाम' का कोई सवाल मेरे मन में न

आया। और जहाँतक गाँधीजी का सम्बन्ध है, निस्सन्देह मेरी मौजूदगी में बार-बार उन्होंने अपनी यह इच्छा जाहिर की कि कोई समाजवादी राष्ट्रपति बने तो ठीक होगा। इसके लिए, मेरे अलावा, उन्होंने आचार्य नरेन्द्रदेव का नाम भी लिया था। लेकिन, जो वजहें मैं ऊपर बतला चुका हूँ उनके कारण, इस मौक़े पर किसी समाजवादी को राष्ट्रपति बनाने का विचार मुझे पसन्द न आया। मैं चाहता था कि यह भार उन्हींके कन्धों पर रहे जो काँग्रेस की नीति के लिए ख़ासतौर पर ज़िम्मेदार हैं, और उस नीति में एकाएक कोई क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने के लिए मैं इस भय से तैयार न था कि ऐसा करने से हमारे संगठन में भयानक उलझनें पैदा हो जायँगी। इसलिए, मौलाना साहब के नाम पर ही मैंने ज़ोर दिया। जहाँ-तक मैं जानता हूँ, 'वामपक्षी' से बचकर किसी 'दक्षिणपक्षी' को ही राष्ट्रपति बनाने का इसरार करने की वहाँ किसीके मन में कोई इच्छा न थी।

वक्तव्य

कार्य-समिति की बैठक के अवसर पर सुभाष बाबू के साथ मेरी कुछ बात-चीत हुई। मैंने उन्हें बतलाया कि इस बारे में मेरा क्या ख़याल है। मैं समझता हूँ कि मैंने जो दलीलें दीं उनकी उन्होंने दाद दी थी।

मौलाना आज़ाद हमारी तजवीज़ पर फौरन सहमत नहीं हुए। वह असाधारण रूप से भावुक हैं और झगड़े-टण्टों से अलग-से रहते हैं, इसलिए संघर्ष के इस युग में उन्हें आगे घसीटना कोई बहुत आसान नहीं है। फिर भी मैंने सोचा कि अन्त में वह राजी हो जायँगे, और जब मैं अलमोड़ा गया तब निश्चय ही मुझे निश्चित रूप से यह ख़बर मिली थी कि वह रज़ामन्द होगये हैं। लेकिन इसके बाद फ़ौरन ही, शायद मुक़ाबिले की सम्भावना के कारण, उन्होंने चुनाव से हट जानें का निश्चय कर लिया।

राष्ट्रपति के चुनाव के ऐन मौक़े पर, जबकि मैं अलमोड़ा से लौट रहा था, मैंने इस सम्बन्ध में निकले हुए विविध वक्तव्य पढ़े। उन्हें पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ और बड़ी तीव्रता के साथ मैंने सोचा कि अगर हरेक अखबारों में वक्तव्य देकर दुनिया का विश्वास प्राप्त करने की अपनी इच्छा को दबा सकता तो क्या अच्छा होता! लेकिन हिन्दुस्तान में हम लोगों को (जिनमें मैं तो एक पुराना और अभ्यस्त पापी हूँ) इस बात का ख़ास शौक़ है कि झट से अख़बारों में वक्तव्य दे डालते हैं, और अख़बारों के हमारे दोस्त हमारी इस बुराई को और उत्तेजन देते हैं।

अजीब अभियोग

सुभाष बाबू ने अपने वक्तव्यों में फेडरेशन को मंजूर करने, बल्कि मंत्रि-

मण्डलों के निर्माण तक की तजवीज़ों, के षड़यंत्र के जो अभियोग लगाये, उनसे म दंग रह गया, क्योंकि मैंने इस बारे में कोई बात नहीं सुनी थी। इस तरह की कोई अफ़वाह भी अगर हमतक पहुँची होती, तो कार्य-समिति में हम उसका खुलासा कर सकते थे। जहाँतक मुझे पता है, फेडरेशन के बारे में कार्यसमिति में कभी कोई मतभेद नहीं था। और सब बातों में भी निश्चय ही हमारे बीच कोई खास मतभेद मुश्किल से ही होगा। संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के बारे में ज़रूर हमारा थोड़ा मतभेद था, क्योंकि इस बारे में सुभाष बाबू के इतने सख्त विचार थे जिनसे मैं पूरी तरह सहमत नहीं हो सकता था। लेकिन यह सिद्धान्त की कोई बात नहीं थी।

इसलिए मुझे लगा कि सुभाष बाबू के वक्तव्य में अपने साथियों पर बहुत अनुचित अभियोग लगाये गये हैं। यद्यपि उसमें नाम किसीके नहीं लिये गये थे, लेकिन जनता अपने-आप सोच सकती थी कि ये अभियोग कार्य-समिति के कुछ सदस्यों पर ही हैं। हमारे राजनीतिक जीवन के ऊँचे क्षेत्रों में यह एक नयी और गम्भीर बात थी, और इसका अर्थ था एक-दूसरे के बीच ऐसी रुकावट लगाना कि जिसको दूर करना मुश्किल होगा। कोई छोटी जमात किसी ज़िम्मेदारी की जगह उस हालत में मुश्किल से ही एकसाथ काम कर सकती है जबकि उसम विश्वास का पूर्ण अभाव हो और उसपर षड़यंत्र का सन्देह किया जाय। और जब सिरे पर यह हाल था, तो काँग्रेस के निचले दर्जे के लोगों का क्या हाल होगा? जो बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता हमारे आन्दोलन को कमज़ोर कर रही है उसका हम इस तरह हर्गिज़ मुक़ाबिला नहीं कर सकते।

फिर से राष्ट्रपति चुन लिये जाने के बाद उन्होंने प्रान्तीय और स्थानीय मामलों में सीधे कुछ ऐसे हुक्म निकाले, जिनमें कहीं-कहीं सम्बन्धित प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की भी उपेक्षा की गई। इनमें से कुछ हुक्म मुझे ग़लत मालूम हुए, लेकिन जिस बात का मुझे डर हुआ वह वह तरीक़ा था जिसमें यह सब किया गया। मुझे लगा कि अगर यह तरीक़ा जारी रहा तो हमारी संस्था को बड़ा धक्का लगेगा। इसके बाद कार्य-समिति की बैठक आई, जो न हो सकी।

राष्ट्रपति का पुनर्निर्वाचन उनके व्यक्तित्व और उनकी लोकप्रियता की क़द्र थी। प्रतिनिधियों ने इस तरह उनको चुनकर यह बतलाया कि वे हमारी नीति को ज़ोरदार बनाना चाहते हैं। साथ ही यह उस ढंग पर अपनी असहमति का भी प्रदर्शन था, जिसेकि सिरे यानी उच्चाधिकारियों की निरंकुशता समझा जाता था। यह गांधीजी की पराजय, जैसाकि उन्होंने इसे बताया, नहीं थी। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसे उस कार्य-समिति की आलोचना कहा जा सकता है जो उनकी रहनुमाई

ाम करती थी। पर ख़ास ध्यान देने की बात यह है कि कार्य-समिति ने जो-कुछ उसके लिए ज़िम्मेदार तो दरअसल ख़ुद राष्ट्रपति ही हैं।

साधारण परिस्थितियों में कार्यसमिति के उन सदस्यों के लिए, 'दक्षिणपक्षी' कर जिनकी निन्दा की गई है, ठीक और सही तरीक़ा यह होता कि वे कार्य-समिति ट जाते और उनकी जगह दूसरे रख लिये जाते। लेकिन उनपर गम्भीर व्यक्ति- आरोप किये गये हैं, इसलिए उनकी स्थिति और भी असह्य हो गई है।

अब क्या हो ?

अब क्या हो सकता है ? जबकि रोज़-बरोज़ असाधारण घटनायें और अजीब तें हो रही हैं, अपनी इस आन्तरिक समस्या को हल करने के लिए क्या किया , मेरे लिए यह सुझाना किसी क़दर धृष्टता और थोड़ी जल्दबाज़ी की ही बात । जिन राष्ट्रपति के ऊपर इसकी खासतौर से ज़िम्मेदारी है, बड़े दुर्भाग्य की है कि, वह बीमार पड़े हैं। और गांधीजी ने आज उपवास शुरू किया है,जिसके परिणाम होंगे यह कोई नहीं बता सकता।

लेकिन कुछ ही दिनों में हम त्रिपुरी में जमा होंगे। हममें से हरेक का फ़र्ज़ है अपने हिस्से के भार और अपनी ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निबाहे। हम उनसे त नहीं हो सकते। अतः हमें उम्मीद करनी चाहिए कि जिस बात के लिए हम नत कर रहे हैं और जिन उच्च उद्देश्यों से हम प्रेरित हैं उनपर सदा ध्यान रखते सहिष्णुता और शिष्टता के साथ हम सब अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे। वहाँ जो र्णय होंगे, उनमें हम अपने उपयुक्त भाग लेंगे और पूरी वफ़ादारी के साथ उनको ीकार करेंगे। क्योंकि संस्था कहीं बड़ी चीज़ है, और जिन सिद्धान्तों को हम नते हैं वे व्यक्तियों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे लिए यह ज़रूरी है कि आपस तू-तू मैं-मैं और निजी राग-द्वेष से बचकर अपनी समस्याओं पर उस ऊँची दृष्टि विचार करें जिससे काँग्रेस और भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का ाभ हो।

पहला फ़र्ज़

मेरे तथा दूसरों के लिए नीति और कार्यक्रम के बारे में कुछ सूचनायें रना आसान और वाञ्छनीय होगा। लेकिन फिलहाल दूसरी समस्यायें पहले दर-श हैं, जिनका हमारी महान् संस्था के ढांचे और जीवन पर ही असर पड़ता है। ीति या कार्यक्रम के बारे में आज कोई खास मतभेद नहीं हैं, लेकिन ऐसे मतभेद ों तो भी हमारा पहला काम यह है कि काँग्रेस को हम भारतीय जनता की प्राति-निधिक संस्था और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए कारगर रूप से लड़ने वाली संस्था

बनाये रहें। अगर वह ऐसी न रही, तो हमारे प्रस्तावों का क्या मतलब, और हमारी बहादुराना बातें हमारे क्या काम आयँगी ?

बहुत से लोग आज ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की कमज़ोरी और विपदावस्था की बातें और यह कल्पना करते हैं कि अगर हम काफ़ी ज़ोर से चिल्लायें या लगातार धमकी देते रहें तो जिन दीवारों पर उसका महल खड़ा है वे टूटकर गिर जायँगी। इसमें कोई शक़ नहीं कि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद आज कमज़ोर है और ब्रिटेन का साम्राज्य हमारी निगाहों के सामने अस्त हो रहा है। लेकिन बुराई और प्रतिक्रिया की शक्तियों का आज संसार में प्राधान्य है, वे तीव्र और विजयी हो रही हैं, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी उनके साथ है। यही नहीं बल्कि-खुद अपने-आप भी वह उतना कमज़ोर या मुसीबतज़दा नहीं है जैसाकि हम अपनी इच्छा के वश उसके बारे में सोचते हैं, और महलों या नगरों के बाहर शोर मचाने से उनकी दीवारें ढहती आजतक नहीं सुनी गईं। दुश्मन की ताक़त को हमें कभी कम नहीं आँकना चाहिए। हमारी जीत हुई तो वह हमारी अपनी शक्ति से होगी, न कि अपने शत्रु की कमज़ोरी से; क्योंकि वह कितना ही कमज़ोर क्यों न हो, वह यह ज़रूर जान लेगा कि हमारी कमज़ोरी से वह कैसे लाभ उठा सकता है।

आज यह पक्की बात है कि अगर हम आपस में एक हो सकें और अनुशासित एवं संयुक्त रूप से काम करें तो ब्रिटिश सरकार स्वाधीनता के हमारे रास्ते में कोई रुकावट नहीं डाल सकती। हमारी अपनी कमज़ोरियों और एकता व अनुशासन के हमारे अभाव की ही वजह से उसे यह मौक़ा मिल रहा है कि हमें शिकस्त देकर वह हमपर राज कर रही है। सम्भवतः आज हम काफ़ी बलवान हैं; लेकिन प्रश्न यह है कि इस सम्भवनीयता को वास्तविकता का रूप हम कैसे दे सकते हैं ?

कमज़ोर स्मृतियाँ

बरसों की लम्बी लड़ाई और ट्रेनिंग ने हमें सख़्त बना दिया है और हमारे दिलों और शरीरों को अनुशासित कर दिया है। कोरी बातों के बजाय हम करने की भाषा में बोलते हैं, यहाँतक कि हमारी मामूली-से-मामूली कानाफूसी में भी वज़न होता है, क्योंकि उसके पीछे कुछ करने की भावना रहती है। किसी हद तक कामयाबी हमें मिली, लेकिन उस सफलता ने ही लोगों को उस ट्रेनिंग व अनुशासन की बात भुला दी जिसने उसकी बुनियाद रक्खी थी। हमारी स्मृतियाँ कितनी कमज़ोर हैं! यह ताज्जुब की ही बात है कि हम इतनी जल्दी भूल जाते हैं।

इस बात को एक पीढ़ी हो गई जब कांग्रेस ने अनुशासनयुक्त और शान्तिपूर्ण संग्राम के इस नये मार्ग को ग्रहण किया था। हमारे अनेक परमप्रिय नायक और

साथी हमारे बीच से उठ गये और हम, जो अभी भी जी रहे हैं, लड़ाई के अपने पुराने साथियों के न रहने से अपने-को अकेला महसूस कर रहे हैं। नये लोग आते और उनकी जगह लेते हैं। परिवर्त्तन की धीमी गति से उनकी अधीरता ठीक ही है। अपने नये जोश और सफलता की इच्छा के लिए हम उनका उत्सुकता से स्वागत करते हैं। आज वे हमारी बनिस्बत जनता के कहीं ज्यादा प्रतिनिधि हैं, और भविष्य उन्हींके हाथों में है। लेकिन संकट कालीन वर्षों के लम्बे अनुशासन एवं ट्रेनिंग की इन नवागन्तुकों को कोई समृति नहीं है। क्या वे गुज़रती हुई पीढ़ी के अनुभवों से लाभ उठायेंगे, या वे ठोकर खाकर खुद ही उस कड़वे स्कूल से शिक्षा प्राप्त करेंगे? संसार रंज से भरा हुआ है और हर जगह दुःख-ही-दुःख है। अबीसीनिया, स्पेन, चीन, फ़िलस्तीन—क्या हम इन्हें भूल सकते हैं? क्या अपने साम्प्रदायिक झगड़ों के पागलपन को हम भूल सकते हैं? स्वतन्त्रता कहीं भी आसानी से प्राप्त नहीं हुई, और अपनी इच्छा के शिखर पर पहुँचने से पहले हममें से अनेकों को बार-बार धूप-छाँह की घाटियों को पार करना पड़ेगा।

खतरे और कठिनाइयाँ भूतकाल में हमें अपने रास्ते से न हटा सके; अब भी हम उनसे नहीं डर सकते। फिर भी हमें उन व्यवहारकुशल आदमियों की तरह उनके लिए तैयार रहना चाहिए, जो व्यर्थ की बातों और सुस्ती में अपनी शक्ति को बरबाद नहीं करते। इसके लिए तैयारी का एकमात्र यही तरीक़ा है कि हम अपनी संस्था से अशुद्धता और अनुशासन की जड़ को काट दें और उसे ऐसी उज्ज्वल और चमकदार औज़ार बनालें जो हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता का रास्ता साफ़ कर दे।

सामयिक साहित्य माला

१. कांग्रेस का इतिहास—

सन् १९३५ से १९३९ तक की घटनाओं का सिंहावलोकन— मू० ॥)

२. दुनिया का रंगमंच—(जवाहरलाल नेहरू)

सन् १९३३ के बाद से आजतक की दुनिया की घटनाओं का सिंहावलोकन— मू० ≈)

३. हम कहाँ हैं ? (जवाहरलाल नेहरू)

सन् १९३६ से आजतक की देश की तथा काँग्रेस की परिस्थिति का अवलोकन और विचार— मू० ≈)

[सामयिक साहित्य माला : छठी पुस्तक]

राष्ट्रीय-पंचायत

[कांस्टीच्युएण्ट असेम्बली पर महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, डा० पट्टाभि सीतारामैया, श्री एम० एन० राय, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री आसफ़अली आदि के लेख]

सम्पादक :

श्री यशपाल, बी. ए., एल-एल. बी.

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

—शाखायें—

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
फ़रवरी १९४० : ३०००
दाम
चार आना

मुद्रक
हरनामदास गुप्त,
भारत प्रिंटिंग प्रेस,
नया बाजार, दिल्ली

लेख-सूची

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
फ़रवरी १९४० : ३०००
दाम
चार आना

मुद्रक
हरनामदास गुप्त,
भारत प्रिंटिंग प्रेस,
नया बाजार, दिल्ली

राष्ट्रीय-पंचायत

: १ :

राष्ट्रीय-पंचायत

[पंडित जवाहरलाल नेहरू]

मैंने सलाह दी थी कि राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों समस्यायें विधान-सभा यानी राष्ट्रीय-पंचायत के द्वारा सुलझाई जानी चाहिएँ। इस बात को काफ़ी पसन्द किया गया। गाँधीजी ने इसकी प्रशंसा की। और दूसरे बहुतों ने भी प्रशंसा की है, फिर भी कुछ लोगों ने इसे ग़लत समझा है या समझने की तकलीफ़ ही गवारा नहीं की है।

अगर इसे स्वीकार किया जाय, जैसाकि होना चाहिए, कि राजनैतिक और राष्ट्रीय रूप से हिन्दुस्तानी ही अपने भाग्य के एकमात्र निर्णायक हों और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हें पूरी आज़ादी हो, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा ही हो सकता है, जिसका निर्वाचन अधिक-से-अधिक मताधिकार पर हो। जो आजादी में विश्वास करते हैं, उनके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। जो लोग साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य की बात करते हैं, वे भी इस बात से सहमत होंगे कि निर्णय हिन्दुस्तानियों द्वारा ही होना चाहिए। यह निर्णय किस प्रकार किया जायगा? नेताओं के दल या व्यक्तियों द्वारा नहीं, और न उन आत्म-निर्वाचित संस्थाओं द्वारा जिन्हें 'आल पार्टीज़ कान्फ्रेन्स' कहते हैं और जो अगर किसी का प्रतिनिधित्व करती हैं तो छोटे स्वार्थी दलों का करती हैं और अधिकांश जनसंख्या को छोड़ देती हैं। हमें यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय कांग्रेस इतनी शक्तिशाली और अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व करनेवाली होते हुए भी यह निर्णय नहीं कर सकती। कांग्रेस को आज़ादी है कि वह आदमियों के सहयोग से राष्ट्रीय-पंचायत पर अपना प्रभाव डाले और उसपर क़ाबू रक्खे, लेकिन राजनैतिक और सामाजिक उन्नति और खुली प्रतिक्रिया में से किसी एक को पसन्द करना होगा। साम्प्रदायिकता के किसी भी स्वरूप से सम्बन्ध रखने का अर्थ होता है प्रतिक्रिया के साधनों को और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मज़बूत करना; उसका अर्थ होता है सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का विरोध और अपने आदमियों के मौजूदा दुःख को बर्दाश्त करना; उसका अर्थ होता है आंख बन्द करके दुनिया की ताक़तों और घटनाओं को दरगुज़र करना।

साम्प्रदायिक संगठन क्या हैं? वे मज़हबी नहीं हैं, हालांकि वे अपने को मज़हबी दलों में ही मानते हैं और मज़हब नाम का नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं। संस्कृति के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया, हालांकि वे बहादुरी के साथ प्राचीन संस्कृति की बात करते हैं। वे नैतिक दल भी नहीं हैं; क्योंकि उनकी शिक्षा में नैतिकता बिलकुल नहीं है। आर्थिक दल भी वह निश्चय ही नहीं है; क्योंकि उनके सदस्यों को बांधनेवाली कोई आर्थिक कड़ी नहीं है और न आर्थिक कार्यक्रम की ही छाया उनमें है। उनमें से कुछ तो राजनैतिक होने का दावा भी नहीं करते। तब वे हैं क्या?

असल में राजनैतिक ढंग से वे काम करते हैं और उनकी माँगें भी राजनैतिक हैं; लेकिन जब वे अपने को अराजनैतिक कहते हैं तो वे असली मसले को दरगुज़र करते हैं और दूसरों के रास्ते को रोकने में ही वे कामयाब होते हैं। अगर ये राजनैतिक संगठन हैं तो हमें हक़ है कि यह जानें कि उनका उद्देश्य क्या है। वे हिन्दुस्तान की मुकम्मिल आज़ादी चाहते हैं या आंशिक—अगर वैसी भी आज़ादी कोई चीज़ है तो? क्या वे आज़ादी चाहते हैं या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य? अच्छे-से-अच्छे शब्द भी भ्रम पैदा कर देते हैं और बहुत-से आदमी अब भी सोचते हैं कि साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य आज़ादी के ही बराबर है। असल में वे दोनों बिलकुल भिन्न हैं, विरोधी दिशाओं में जानेवाले वे दो रास्ते हैं। यह आनों का सवाल नहीं है कि चौदह आने हैं या सोलह आने; बल्कि भिन्न-भिन्न सिक्कों-जैसा सवाल है, जिनका आपस में विनिमय नहीं हो सकता।

साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य का अर्थ है अंग्रेज़ों की आर्थिक व्यवस्था के मजबूत ढांचे और स्वार्थों के अन्तर्गत काम किये जाना। साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में इस गला घोंटनेवाले अधिकार से कोई छुटकारा नहीं है। आज़ादी का मतलब है इन बोझों से मुक्त होने की सम्भावना और अपने सामाजिक विधान को तै करने की आज़ादी। इसलिए साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में हमें चाहे जितनी सीमित आज़ादी मिल जाय, फिर भी वह इंग्लैण्ड के बैंक और ब्रिटिश पूंजी के मुख्य अधिकार में होगी। हमारे मौजूदा आर्थिक विधान के चलने पर भी उसे निर्भर रहना होगा। इसका अर्थ है कि हम अपनी आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकते और न कुचलनेवाले बोझ से जनता को ही मुक्त कर सकते हैं। हम दलदल में और गहरे ही फँस सकते हैं। तब इन साम्प्रदायिक संगठनों का क्या उद्देश्य है—आज़ादी या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य?

व्हाइटपेपर में जो मज़ाक़िया विधान दिया गया है, उसका ज़िक्र करने की हमें ज़रूरत नहीं है। उससे तो सिर्फ़ हमें इसी बात की याद दिलाई जाती है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी और स्वार्थों को हर तरह से क़ायम रक्खा जायगा, जबतक

कि ब्रिटिश-सरकार में उन्हें क़ायम रखने की ताक़त है। सिर्फ़ वही आदमी जिन्हें ब्रिटिश स्वार्थों के क़ायम रखने में दिलचस्पी है या जो बहुत सीधे-सादे हैं, व्हाइट-पेपर या उसके भागों को पसन्द कर सकते हैं।

राजनैतिक ध्येय से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक ध्येय है। यह बात चारों तरफ़ फैली है कि राजनीति का युग गया और हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें अर्थशास्त्र राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर शासन करता है। साम्प्रदायिक संगठन इन आर्थिक मामलों में क्या चाहते हैं? या उन्हें जनता या निम्न मध्यम वर्गों की भूख और बेकारी का कोई पता ही नहीं है? अगर वे जनता के प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं, तो उन्हें जानना चाहिए कि इन अभागे और दुखी लोगों के सामने सबसे बड़ी समस्या भूख की है और इस समस्या का हल, कम-से-कम उसूली ही, मिल जाना चाहिए। व्यवसाय और खेती में इन संगठनों के विचार से क्या होना चाहिए? मज़दूरों और किसानों के दुःखों को दूर करने का वे क्या उपाय निकालते हैं? ज़मीन के क्या क़ानून होने चाहिएँ? किसानों के कर्ज़े का क्या होगा? क्या उसका शोध होगा या सिर्फ़ उसकी आवाज़ को दबा दिया जायगा, या वह बाक़ी रहेगा? और बेकारी के बारे में क्या? क्या वे समाज की मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, या वे नई व्यवस्था क़ायम रखना चाहते हैं? ये कुछ अजीब सवाल हैं जो उठते हैं और उनका और ऐसे ही दूसरे सवालों का जवाब हमें सम्प्रदायवादियों की माँगों के दावे और आन्तरिकता को समझने में मदद देगा। अगर ये जवाब जनता तक पहुंच सकें तो उसे भी बड़ी मदद मिलेगी। हिन्दू जनता की बनिस्बत शायद मुस्लिम जनता तो और भी ग़रीब है; लेकिन मशहूर 'चौदह बातें' इन ग़रीबी के मारे मुसलमानों के बारे में कुछ नहीं कहतीं। हिन्दू सम्प्रदायवादी भी अपने स्वार्थों के क़ायम रखने पर ज़ोर देते हैं और जनता की परवा नहीं करते।

मुझे डर है कि इन सवालों का स्पष्ट या शायद कोई भी उत्तर मुझे नहीं मिलेगा; क्योंकि प्रश्न असुविधाजनक हैं, कुछ तो शायद इसलिए भी कि सम्प्रदायवादी नेता आर्थिक बातों के बारे में बहुत कम जानते हैं और उन्होंने जनता की परिभाषा में कभी नहीं सोचा है। वे तो 'फ़ी सदी' के बारे में ही सोचने में उस्ताद हैं और उनकी लड़ाई का मैदान उनकी सभा का कमरा है, खेत, फ़ैक्टरी या बाज़ार नहीं। लेकिन चाहे वे पसन्द करें या न करें, ये सवाल तो आगे आयँगे ही और जो इनका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकेंगे उनको सार्वजनिक मामलों में स्थान नहीं मिलेगा। इन सब सवालों का जवाब हम एक व्यापक शब्द में दे सकते हैं। वह शब्द है—समाजवाद और समाज का समाजवादी विधान।

लेकिन ठीक जवाब समाजवाद या साम्यवाद हो या और कोई हो, एक बात

निश्चित है—वह यह कि जवाब अर्थशास्त्र की परिभाषा में हो, केवल राजनीति की परिभाषा में नहीं ; क्योंकि हिन्दुस्तान और दुनिया आर्थिक समस्याओं से परेशान है और उनसे बचा नहीं जा सकता। जबतक पूरी आर्थिक आज़ादी न मिलेगी, तबतक राजनैतिक विधान चाहे जैसा हो, हमें आज़ादी नहीं मिल सकती। आर्थिक आज़ादी में राजनैतिक आज़ादी भी शामिल है। आज की असलियत यही है। और सब आडम्बर है, भ्रम है, और इसमें भी साम्प्रदायिक आडम्बर से बढ़कर और कोई आडम्बर नहीं है।

अब राष्ट्रीय पंचायत के मामले पर वापस लौट चलें। अगर वास्तविक जनता की चुनी हुई सभा आज़ादी के साथ असली मसलों पर विचार करने के लिए बैठती है, तो तुरन्त ही इन आर्थिक समस्याओं में उसका ध्यान लग जायगा। साम्प्रदायिक समस्या पीछे पड़ जायगी, क्योंकि जनता की दिलचस्पी 'फ़ी सदी' के सवाल से ज्यादा अपने पेट की समस्या होगी। यह सभा उन साधनों को मुक्त कर देगी जो अबतक विदेशी शासकों और हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों के कारण दबे पड़े हैं। नेतृत्व जनता के हाथ में जायगा, और जनता जब स्वतन्त्र होगी तो कभी-कभी भूल करने पर भी वह असलियत की परिभाषा में सोचेगी और आडम्बरों से उसके लिए कोई लाभ न होगा। कार्यकर्ताओं और किसानों के हाथ में परिस्थिति होगी और उनका निर्णय, कभी-कभी अपूर्ण होने पर भी, हमें आज़ादी की ओर ले जायगा। मैं नहीं कह सकता कि राष्ट्रीय-पंचायत क्या तय करेगी। लेकिन जनता में मुझे श्रद्धा है और उसके निर्णय को मानने के लिए मैं तैयार हूँ, और मुझे विश्वास है कि जब असली जनमत की बड़ी परीक्षा होगी तब साम्प्रदायिक समस्या ख़त्म हो जायगी। वह कमरों की गर्मी से पैदा हुई है और सभा के कमरों के वायुमण्डल में और तथाकथित 'सर्वदल-सम्मेलनों' में उसका पालन-पोषण हुआ है। उस बनावटी वायुमण्डल में उसको नष्ट करने का हल नहीं मिलेगा ; बल्कि ताज़ा हवा और धूप में वह क्षीण होकर नष्ट होगी।

: २ :

एक ही मार्ग

[महात्मा गांधी]

पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुझे बाध्य किया है कि अन्य चीज़ों के साथ मैं राष्ट्रीय-पंचायत के फलितार्थों का भी अध्ययन करूँ। जब उन्होंने कांग्रेस-प्रस्तावों में इसे पहले-पहल दाख़िल किया तो मैंने उसे मान लिया था; क्योंकि मेरा विश्वास था लोक-तंत्र की बारीकियों का उन्हें अधिक ज्ञान है। लेकिन मेरा मन संशय-मुक्त

नहीं हुआ था। घटना-चक्र ने बहरहाल मेरे संशय को दूर कर दिया और उसी वजह से शायद मैं खुद जवाहरलाल से भी ज्यादा उत्साही हो गया। क्योंकि सार्वजनिक राजनैतिक तथा अन्य शिक्षा का वाहन होने के अतिरिक्त उसमें मुझे साम्प्रदायिक तथा अन्य रोगों का निदान दिखाई देता है। जवाहरलाल शायद यह न देख सकें।

उस योजना की जितनी अधिक आलोचनाएँ मैं देखता हूँ, उतना ही अधिक उसके प्रति मेरा मोह बढ़ता जाता है। उसके द्वारा जनता की भावनाएँ निश्चितरूप से व्यक्त होंगी। उससे हमारी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ भी ज़ाहिर होंगी। निरक्षरता की मुझे चिन्ता नहीं है। पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए मैं विशुद्ध बालिग़ मताधिकार की व्यवस्था कर दूँगा, याने उन सबको मैं वोटरों के रजिस्टर में रख दूँगा। उन्हें आज़ादी होगी कि यदि वे अपने अधिकार को अमल में न लाना चाहें, तो न लावें। मुसलमानों को मैं पृथक् मत दूँगा, लेकिन अगर आवश्यकता हुई तो पृथक मत न देकर हरेक वास्तविक अल्पसंख्यक को उसकी संख्या के अनुसार सुरक्षित मत दूंगा, हालांकि ऐसा मैं अनिच्छा से करूंगा।

इस प्रकार साम्प्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा ठीक-ठीक हल निकालने का आसान-से-आसान तरीका मिल जाता है। आज हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि कौन किसका प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि कांग्रेस मानी हुई बड़े-से-बड़े पैमाने पर सबसे पुरानी प्रातिनिधिक संस्था है, फिर भी राजनैतिक और अर्ध-राजनैतिक संस्थाएँ उसके विशद प्रातिनिधिक रूप पर संशय कर सकती हैं और वे करती भी हैं। निस्सन्देह मुस्लिम लीग मुसलमानों की बड़ी-से-बड़ी प्रातिनिधिक संस्था है; मगर कुछ मुस्लिम संस्थाएँ, जो किसी तरह नगण्य नहीं हैं, उसके इस दावे से इन्कार करती हैं कि वह उनका प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन राष्ट्रीय-पंचायत तो सब जमातों का उनके ठीक अनुपात में प्रतिनिधित्व करेगी। इसके अतिरिक्त विरोधी दावों के साथ पूर्ण न्याय करने का और कोई उपाय ही नहीं है। बग़ैर उसके साम्प्रदायिक तथा अन्य दावों का सुनिश्चय नहीं हो सकता।

और सिर्फ राष्ट्रीय-पंचायत ही एक ऐसा विधान बना सकती है जो देशी हो और जो ठीक-ठीक और पूरी तरह से जन-मत का प्रतिनिधित्व कर सके। निस्सन्देह यह विधान कोई आदर्श विधान नहीं होगा, लेकिन फिर भी सिद्धान्तवादियों या क़ानून के विद्वानों के हिसाब से चाहे जितना अपूर्ण हो; लेकिन वह वास्तविक होगा। स्वराज के स्वराज होने के लिए उसमें केवल उस जनता के मत को, जो स्वयं अपने ऊपर शासन करेगी, प्रतिबिम्बित करना होगा। अगर शासक ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हैं तो वे स्वराज को छिन्न-भिन्न कर डालेंगे। मैं जनता की इस सम्भावना की कल्पना कर सकता हूँ कि वह बहुत-से ग़लत प्रयोगों द्वारा अपने को उचित सरकार

के योग्य बनावे। लेकिन इस सम्भावना की मैं कल्पना नहीं कर सकता कि जनता बाहर से थोपी गई सरकार के द्वारा अपने ऊपर उचित रूप से शासन करे, ऐसे ही नहीं जैसे कि कहानी का कौआ अपने शानदार साथी से पंख माँगकर मोर की चाल न चल सका। रुग्ण व्यक्ति अपने निजी प्रयत्न से स्वस्थ हो सकता है, लेकिन दूसरों से स्वास्थ्य वह उधार नहीं ले सकता।

इस प्रयोग में ख़तरे हैं, यह निश्चय है। इसमें आडम्बर की भी सम्भावना है। निःशंक व्यक्ति अपढ़ जनता को ग़लत पुरुषों और स्त्रियों को वोट देने के लिए ग़लत रास्ते पर ले जायेंगे। अगर हमें किसी असली और बड़ी चीज़ का निर्माण करना है तो इन खतरों को तो उठाना ही पड़ेगा। अगर हमारे और ब्रिटिश जनता के सम्मानपूर्ण समझौते के फलस्वरूप राष्ट्रीय-पंचायत जनम लेती है, जैसी कि मुझे उम्मीद है कि वह लेगी, तो दो राष्ट्रों के सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति मिलकर अपनी बुद्धि से एक ऐसी पंचायत का सृजन करेंगे जो भारतीय मत को अच्छी तरह से सचाई के साथ प्रतिविम्बित करेगी। इसलिए भारत के इतिहास की वर्तमान अवस्था में इस प्रयोग की सफलता ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की इस इच्छा पर निर्भर करती है कि भारत को बग़ैर भयंकर अव्यवस्थित विद्रोह में डाले वे हमें सत्ता दे दें। क्योंकि मैं जानता हूँ कि भारत अब अधीर हो उठा है। यह मेरे मन में है कि भारत अभी बड़े पैमाने पर अहिंसात्मक सविनय-भंग के लिए तैयार नहीं है। इसलिए अगर मैं काँग्रेस को उस समय तक प्रतीक्षा करते रहने के लिए राजी नहीं कर सकता जबकि अहिंसात्मक युद्ध किया जाना सम्भव हो, तो दो जमातों में विनाशकारी गृह-युद्ध देखने के लिए जीवित रहने की मेरी इच्छा नहीं है। लेकिन यह मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि अगर मैं काँग्रेस के सन्तोषजनक अहिंसात्मक युद्ध या निष्क्रियता का कोई तरीक़ा न निकाल सका और साम्प्रदायिक एकीकरण न हुआ, तो संसार की कोई भी शक्ति हिंसात्मक संघर्ष के छिड़ जाने को नहीं रोक सकती, जिसके परिणाम कुछ समय के लिए अराजकता और घोर बरबादी होगी। मेरी राय है कि हर जमात और अंग्रेज़ों का यह फ़र्ज़ है कि वे उस महाआपदा को रोकें।

कठिनाई से बाहर होने का एकमात्र उपाय राष्ट्रीय-पंचायत ही है। अपनी राय मैंने उसपर देदी है, लेकिन उसकी तफ़सील से मैं बंधा हुआ नहीं हूँ। इस लेख को मैं लगभग समाप्त कर चुका था, कि सैयद अब्दुल ब्रेलवी का नीचे लिखा तार मिला—

"राष्ट्रीय पंचायत के बारे में अल्पसंख्यकों में काफ़ी भ्रम फैला है। मेरा तीव्र आग्रह है कि आप उसकी तफ़सील, मताधिकार, निर्माण, निर्णय करने के तरीक़े स्पष्ट करदें।" मेरा विचार है कि सैयद साहब के सवाल का जवाब देने के लिए ऊपर मैंने

काफ़ी लिख दिया है। अल्पसंख्यकों से उनका विचार मुख्यतः उन मुसलमानों से है जिनका प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग करती है। अगर एक बार यह प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है कि सब जमातें राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा बनाया गया स्वतंत्रता का अधिकार-पत्र चाहती हैं और उसके सिवा दूसरी किसी भी चीज़ से उन्हें संतोष न होगा, तो तफ़सीलों का तय करना तो यक़ीनन आसान हो जाता है। किसी भी अन्य तरीक़े का परिणाम तो थोपा हुआ विधान निकलेगा, जो मुख्यतः लोकतंत्रीय न होगा। उसका अर्थ होगा उस साम्राज्यवादी राज्य को अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ा देना जो उन लोगों की मदद से चल रहा है जिन्हे राष्ट्रीय-पंचायत का पूर्ण लोकतंत्रीय तरीक़ा मान्य नहीं होगा। मुख्य रुकावट तो निस्सदेह ब्रिटिश सरकार है। अगर वह एक गोलमेज-परिषद बुला सकती है, जैसा कि लड़ाई के बाद बुलाने का उसका विचार है, तो वह अल्पसंख्यकों के सन्तोष का संरक्षण करते हुए निश्चय ही एक राष्ट्रीय-पञ्चायत भी बुला सकती है। 'अल्पसंख्यकों का सन्तोष' इस वाक्य को शायद अनिश्चित समझा जाये। उसका स्पष्टीकरण पहले ही समझौते द्वारा किया जा सकता है। इसलिए प्रश्न यह रह जाता है कि आया ब्रिटिश सरकार सत्ता को हमारे हाथ देना, और अपने इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ करना चाहती है? मैं पहले ही दिखा चुका हूँ कि देशी नरेशों का सवाल रास्ते में उलझा पड़ा है। यूरोपियनों के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं, जबतक कि 'भारतीय हितों' से उनका विरोध नहीं होता। मैं समझता हूँ कि यही बात इरविन-गाँधी-समझौते में भी कही गई है।

इस प्रश्न पर आप जिस दृष्टि-बिन्दु से देखें, पता यही चलेगा कि लोकतंत्रीय स्वराज्य का मार्ग केवल उचित राष्ट्रीय-पञ्चायत—नाम उसे कुछ भी दीजिए—द्वारा ही मिल सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष अवरोध करने का विचार करने से पहले समस्त साधन एक राष्ट्रीय-पञ्चायत का निर्माण करने में खर्च होने चाहिएँ। वह अवस्था भी आ सकती है जब प्रत्यक्ष अवरोध राष्ट्रीय-पञ्चायत के लिए आवश्यक प्रस्तावना हो। वह अवस्था अभी नहीं आई है। हरिजन-सेवक, २५ नवम्बर, १९३९.

: ३ :

एक ही रास्ता

[श्री राजगोपालाचार्य]

लोग कुछ ऐसा मान बैठे हैं कि कांग्रेस की मांग इतनी ही है कि राष्ट्रीय-पञ्चायत में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि हों। यह भारी ग़लतफ़हमी है।

संकोच ठीक है और उसके कारण भी साफ़ हैं। हिन्दुस्तान में उनके अपने मोटे-मोटे स्वार्थ क्या हैं, वे इस सवाल की सीधी चर्चा करना नहीं चाहते। यह तो मानना पड़ेगा कि राष्ट्रवाद के मौजूदा स्वभाव को देखते हुए उन्हें इस बारे में चिंता होना अनुचित नहीं है क्योंकि अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए आपस में लड़नेवाली जातियों की ताक़त बराबर-बराबर बनाये रखने की कोशिश न करके अँग्रेज़ों को यह बताना ही पड़ेगा कि उनके स्वार्थ कौन-से हैं और उनकी रक्षा के लिए वे कैसा बन्दोबस्त चाहते हैं। इस मुद्दे के साथ ये बातें मिलाकर गड़बड़ मचाने से काम नहीं चलेगा कि 'हमें तो भारत का भार ईश्वर ने सौंपा है और हमें सभ्यता के प्रचार और सिलसिलेवार तरक्क़ी की बड़ी फ़िक्र है।' साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा या स्वभाव को भी इसमें शामिल नहीं करना चाहिए। अपने स्वार्थों को कम-से-कम करके उन्हें रुपये, आने, पाई में बताना चाहिए। साथ ही, यह शर्त भी हो जानी चाहिए कि आपस में समझौता न हो तो निष्पक्ष जजों से पंचायती फ़ैसला करा लिया जाय। ये जज उपनिवेशों के तीन भले मंत्री भी हो सकते हैं। यह कार्रवाई विधान बनने से पहले आसानी से की जा सकती है। मुझे कहा गया है कि आयर्लैंण्ड के इतिहास में ऐसी नज़ीर मिलती है।

तो अब यह प्रश्न नहीं है कि हिन्दू-मुसलमानों का बातचीत करके समझौते पर पहुँचने में कितना समय लगेगा बल्कि सवाल यह है कि ब्रिटिश सरकार इस राष्ट्र की मांग स्वीकार करेगी या नहीं और करेगी तो कब। ये मांगे पेश तो कांग्रेस ने ही की हैं, मगर वे रक्खी गई हैं सारे राष्ट्र की तरफ़ से। ये हिन्दू, मुसलमान और, सच पूछो तो उन सभी लोगों के भले के लिए हैं जो दुनिया की सभ्य जातियों में स्वाभिमान और सम्मान के साथ जीना चाहते हैं। अंग्रेज़ खूब जानते हैं कि आखिर तो इसी नतीजे पर पहुँचना होगा कि इस देश में यहीं के लोगों का राज होना चाहिए और किसी का नहीं हो सकता। मौजूदा परिस्थितियों में मामूली सुशासन क़ायम रखने के लिए लोकवाद के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए अंत में तो अंग्रेज़ों को झुकना और हमारा पिण्ड छोड़ना ही होगा। यह कह सकना ज़रूर मुश्किल है कि उन्हें ऐसा निश्चय करने में कितने सप्ताह, महीने या वर्ष लगेंगे। महात्माजी को आशा है कि दो-तीन महीने बस होंगे।

हरिजन सेवक, ९ दिसम्बर, १९३९.

: ४ :

राष्ट्रीय-पंचायत

[श्री आसफ़अली, एम. एल. ए.]

राष्ट्रीय पंचायत के पीछे जो विचार है उसे भारत के भविष्य से सम्बन्ध रखने वालों को गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए। इस विषय पर पहले से ही काफी कहा और लिखा जा चुका है; लेकिन बहुत-सी वे बातें अभी गड़बड़ी की हालत में पड़ी हुई हैं जो उस आवश्यक विचार के स्पष्टीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं। हरेक व्यक्ति अपने ही प्रिय सिद्धान्तों तथा पूर्व-कल्पित प्रतिकूलताओं को लेकर अपना दिमाग़ लड़ा रहा है। लोक जीवन के बहुत से व्यक्ति एक-दूसरे के बारे में चर्चा करते हैं और उनके ध्येय स्पष्ट-रूप से एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं। इसलिए अतर की बातों को घटाकर न्यूनतम करने का प्रयत्न इस समय किया जा सकता है, हालांकि क्रोध, निराशा और अविश्वास से भरे वातावरण में ऐसे प्रयत्न के सफल होने की अधिक आशा नहीं है। अखबारों में कुछ ने ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के सर मॉरिस ग्वायर के स्पष्ट वक्तव्य का जिस प्रकार स्वागत किया, वह एक स्पष्ट चेतावनी है।

किसी नाम का विशेष सौंदर्य नहीं है। है तो उसी हद तक जहांतक उससे उन संस्थाओं का भास होता है जिसमें दीन अथवा विरोधी स्वभाव का अधिक या कुछ भी नहीं होता। इसलिए 'राष्ट्रीय पंचायत' शब्द या नाम के महत्व पर बहुत ज्यादा ज़ोर देने के खतरे से बचने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। माननीय व्यवहारों में तो हमारे संयुक्त अनुभवों ने हमें कुछ मार्ग बता दिए हैं और बिना किसी विरोध के भय के यह दावा किया जा सकता है कि अधिकांश मनुष्य-जाति की यह धारणा हो गई है कि अराजकता से अच्छी सुस्पष्ट कानूनों पर आधारित निश्चित सरकार है। मानव-विकास की वर्तमान अवस्था में अराजकता से ऐसे परिणाम निकलने की सम्भावना नहीं है, जो सुगमता से स्वीकार कर लिए जा सकें।

जो लोग संसार के विभिन्न विधानों के इतिहास से परिचित हैं, वे यह जानते हैं कि पिछले दोसौ वर्षों के अर्से में—और अधिक पीछे न जायें तो—'राष्ट्रीय पंचायतें' दो प्रकार की रही हैं। एक तो वे जिन्होंने अपने विधान हिंसक हलचल, चाहे युद्ध या क्रांति, द्वारा तैयार किये हैं। और दूसरी वे जिन्होंने अपने काम को शान्ति-दायक प्रगति के साथ पूरा किया है। पहली प्रकार में तो अमरीका के संयुक्त राष्ट्र, फ्रांस, युद्ध के बाद का रूस, टर्की और जर्मनी की राष्ट्रीय-पंचायतें आ जाती हैं। एक प्रकार से वे राष्ट्रीय-पंचायतें भी उसमें आ जाती हैं जिन्होंने हालैण्ड, फ्राँस और इटली को छोड़कर बाकी यूरोप के लगभग सभी राष्ट्रों के महायुद्ध के बाद विधान निश्चित किए।

दूसरी प्रकार में कनैडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिका और आयरलैण्ड की राष्ट्रीय-पंचायतों के नाम गिने जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार की राष्ट्रीय-पंचायतों में भारत के लिए वह राष्ट्रीय-पंचायत सबसे अधिक उपयुक्त रहेगी जिसने आयरिश स्वतंत्र राष्ट्र के विधान को तैयार किया था। सन् १९२१–२२ में शाही घोषणा द्वारा उसे बुलाया गया था और उसने अपना काम बड़ी सफलता से पूरा किया है।

जिन लोगों ने 'राष्ट्रीय-पंचायत' के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है, उन्होंने तथा उन लोगों ने जिनकी आपत्तियों के पीछे उनका बेतुका और असंयत दुराग्रह मात्र है, 'राष्ट्रीय-पंचायत' के बारे में बहुत-सी कठिनाइयां बताई हैं। सबसे बड़ी आपत्ति तो इस मान्यता से उठ खड़ी होती है कि यदि प्रस्तावित राष्ट्रीय-पंचायत का चुनाव देश के सभी बालिग़ों द्वारा हुआ तो आवश्यकरूप से उसका आकार स्थूल हो जायगा और विचारशील काम के योग्य वह नहीं रहेगा। भारत में आज बालिग़ों की संख्या (ब्रिटिश भारत में ही) १५ करोड़ के लगभग है, यदि १९४० में जन-संख्या ३० करोड़ के ही हिसाब से लगाई जाती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि एक व्यक्ति पांच लाख व्यक्तियों का भी प्रतिनिधित्व करे तो भी पञ्चायत में ३०० व्यक्ति हो जायँगे। वह जटिल वैधानिक विवरणों की दृष्टि से राष्ट्रीय-पंचायत के लिए बड़ा स्थूल आकार होगा। दूसरे, कहा जाता है कि जबतक अल्पसंख्यकों के सारभूत अधिकारों को सन्तोषजनक रूप में तै नहीं कर दिया जाता, तबतक भारत के मुसलमान जैसे बड़े अल्पसंख्यकों को ऐसी पंचायत में सम्मिलित होना शायद हितकर न हो, जिसका बहुसंख्यक चाहे जब अपने निर्णय से अन्त कर सकें। अन्य आपत्तियों के विस्तार में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि हम इन दो ही आपत्तियों को दूर कर सके तो दूसरी आपत्तियाँ एकदम साधारण रह जायँगी और आसानी से उनपर विजय पाई जा सकेगी।

प्रारम्भ में, कांग्रेस ने, जो बालिग़ों द्वारा चुनाव के विचार की मुख्य हिमायती है, बालिग़ मताधिकार को बेलचीली शर्त नहीं बनाया और इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए गुंजाइश है। लेकिन यदि बालिग़ मताधिकार की इस विषय में माँग है तो ऐसे तौर-तरीक़े भी हैं जिनसे परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार प्रतिनिधियों की ऐसी संख्या रक्खी जा सकती है जिस पर नियन्त्रण किया जा सके। पचास हज़ार आदमियों की तरफ़ से अगर एक आदमी चुना जाय तो तीन हज़ार आदमी चुने जायँगे। इस तीन हज़ार के समूह से यह आशा करना निश्चित ही अनुचित है कि वह विधान के जटिल विस्तारों को तै करे। और उन लोगों से भी जो बालिग़ मताधिकार की परिभाषा में सोच रहे हैं, शायद यह आशा न की जा सके कि वे विधान की रूप-रेखा तैयार करने के काम को इतने बड़े जन-समूह के हाथ सौंप देने का

आग्रह करेंगे। इसमें तो कोई कठिनाई नहीं है कि बालिग़ मताधिकार के आधार पर छः हज़ार या बारह हज़ार आदमी चुने जावें। इन प्रतिनिधियों में से सीमित संख्या राष्ट्रीय-पंचायत में जाय। इसलिए यह स्पष्ट है कि हमें राष्ट्रीय-पचायत की स्थूलता के प्रश्न पर प्रारम्भ ही से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

अब हम दूसरी आपत्ति पर विचार करें। इस आपत्ति को दूर करने के लिए तो माने हुए बहुत-से तरीक़े हैं। लेकिन इस प्रश्न के सुलझाने का सबसे सुगम और सबसे विवेकपूर्ण तरीका यह है कि एक ऐसी किसी मामूली सी व्यवस्था के लिए जन-मत जाग्रत करें जो बहु-मत के अत्याचारों के विरुद्ध संरक्षण के लिए कुछ उपाय निकाल सके। यदि कोई अकेला बहुमत निर्णय कर भी लेता है और उसके निर्णयों से बड़े क्षेत्र में असन्तोष फैला रहता है जिससे फूट फैलने की भी सम्भावना होती है, और जबकि स्थायी विधान के लिए अधिक व्यापक निर्णयों की आवश्यकता होती है, तो अकेले बहुमत के निर्णयों का लाभ लेशमात्र भी नहीं हो सकता। इसलिए यह स्पष्ट है कि मात्र-बहुमत के निर्णय विधान के बनाने में अधिक निश्चित साबित नहीं हो सकते। भारतीय मुसलमान ब्रिटिश भारत की तमाम जन-संख्या के चौथाई हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि हर बात पर सब-के-सब ही गैरवाजिब होंगे और राष्ट्रीय-पंचायत से अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे। आज भी मुस्लिम-लीग के दावों के बावजूद, भारतीय मुसलमानों की एक बड़ी जमात कांग्रेस के भीतर और बाहर ऐसी है जो साधारणतया कांग्रेस के उद्देश्यों और ध्येयों से सम्मत है। इसलिए यदि यह व्यवस्था स्वीकार कर ली जाय कि राष्ट्रीय-पंचायत का कोई भी निर्णय तबतक जायज़ न होगा, जबतक कि ७० प्रतिशत वोटों का समर्थन उसे प्राप्त न हो, तो यह मात्र-बहुमत के गैरवाजिब निर्णयों के विरुद्ध प्रभावशाली संरक्षण होगा। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि देश के सामान्य आर्थिक उन्नति जैसे मामलों में, जिनका सम्बंध सबसे है, मतों के भारी संघर्ष न होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है। जो अल्पसंख्यक हैं जिनमें मुसलमान भी शामिल हैं, वे स्वाभाविक रूप से बहुमत के धोखे के विरुद्ध कुछ निश्चित संरक्षण चाहेंगे। यह तो निश्चित है कि केन्द्र में हिन्दुओं का बहु-मत होगा। लेकिन यदि भाषा या अन्य किसी विवेकपूर्ण आधार पर समूचे देश का विभाजन दुबारा किया जाय तो कम-से-कम चार, और सम्भव हुआ तो कुछ और अधिक प्रांतों में, हिन्दू लाज़िमीतौर से अल्पसंख्यक हो जायंगे। ऐसी स्थिति से जो राजनैतिक लाभ होने की आशा है, उससे उन प्रत्यक्ष अलाभों का संतुलन हो जायगा जिनका भय केन्द्र में अल्पसंख्यक होने के कारण उन लोगों को है जो साम्प्रदायिकता की परिभाषा में सोचते हैं। भयों और सन्देहों के बारे में अतिशयोक्ति कर देना आसान है; लेकिन इस मुख्य व्यावहारिक बात को, कि दो बड़े और कुछ अन्य प्रान्तों में

मुसलमानों का बहु-मत होगा; आँख-ओझल नहीं किया जा सकता। आक्रामक स्वभाव वाले वे हिन्दू भी इस बात को नहीं भूल सकते जिनका केन्द्र में बहु-मत है। केवल उस समय तक जबतक भारत स्वतन्त्र नहीं होता और न अपने पैरों पर वह पूर्णरूप से खड़ा होता है, अल्पसख्यकों के सन्देह चलेंगे और शायद बहु-मत का विजय-गर्व भी तभी तक संभव होगा। लेकिन एक स्वतन्त्र विधान के वास्तविक परिचालन में आठ या नौ करोड़ मानव-प्राणियों की सुगमता से अवहेलना नहीं की जा सकती।

आखिरी विश्लेषण में मुसलमान अल्पसंख्यकों की संख्या ही बहुसंख्यकों के उन अत्याचारों के विरुद्ध गारण्टी है जिनके बारे में भय किया जाता है। जहाँतक अल्पसंख्यकों का सम्बन्ध है, जिनकी संख्या कम ही है, स्वतन्त्र विधान के परिचालन में साधारणतया उनके हित उन जैसी स्थितिवाले अन्य लोगों के समान ही होंगे। भारत को प्रान्तों में पुनर्विभाजित करने का आधार कुछ भी सही, पर इस बात की सम्भावना नहीं है कि एक करोड़ से कम के अल्प-संख्यक किसी भी इकाई पर क़ब्ज़ा कर सकेंगे। ईसाई भारत-भर में इस तरह फैले हुए हैं और सिक्खों की बसावट पंजाब में ऐसी है कि वे अपने को अल्पसख्यक पाएँगे, यद्यपि उनके अपने प्रान्तों में वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। जिन प्रांतों में मुसलमानों का बहुमत है, वहाँ हिन्दू अल्पसंख्यक होंगे और जिन प्रांतों में हिन्दुओं का बहुमत है वहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक होंगे। इसलिए जहाँतक हिन्दू और मुस्लिम जन-संख्या की मज़बूती का सम्बन्ध है, उनके मुख्य हितों के क्षेत्र तो उनके प्रांत होंगे और इसलिए यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अल्प-संख्यकों के संरक्षण का सिद्धान्त हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए एक-समान होगा।

केन्द्र का ही महत्व मुसलमानों के लिए बहुत है; क्योंकि वे महसूस करते हैं कि भारत की जनसख्या के महत्वपूर्ण अङ्ग होने के बावजूद भी राजनैतिक रूप से केन्द्र में बराबर साझेदारी के अधिकार का दावा वे नहीं कर सकते। उनके भय और सन्देह को उस समय तक दूर नहीं किया जा सकता जबतक वे साम्प्रदायिक दलबन्दी की परिभाषा में न सोचकर राजनैतिक रूप से सोचना शुरू न करदें। साम्प्रदायिक महात्वाकांक्षाओं की आवश्कतायें कुछ भी सही, विभिन्न जमातों के सदस्य स्थिति की असलियतों से राजनैतिक मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य होंगे। केन्द्र में भी ऐसा ही होगा; क्योंकि फेडरल केन्द्र के निर्णय के लिए सामान्य हित के विषय ही होंगे; जैसे बाहरी मामले, रक्षा, आवागमन, चुंगी तथा अन्य ऐसे ही विषय। इन विषयों में ऐसी स्थिति की कल्पना करना कठिन है कि जिसमें साम्प्रदायिक अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिक बहु-मत से भिन्न रूप से विचार करें। जहांतक बड़ी नीतियों का सम्बन्ध है, हरेक व्यक्ति इस बात को पसन्द करेगा कि बाह्य सम्बन्ध स्वस्थ हों, देश की रक्षा सुयोग्य रूप से

हो और आवागमन के साधन भी पूर्ण हों। सभी यह कहेंगे कि राष्ट्रीय आयनीति का आयोजन इस प्रकार हो कि देशी उद्योगों की समृद्धि बढ़े। इन विषयों पर मतभेद होते हुए भी कोई केन्द्रीय सरकार सम्भवतः विभेद-पूर्ण नीति ग्रहण नहीं कर सकती। अल्प-संख्यकों के लिए विशेष रुचि की बात जहांतक फेडरल विषयों का सम्बन्ध है, यह होगी कि वे उसमें कितना हाथ बंटा सकते हैं। विभिन्न विभागों के सुयोग्य परिचालन तथा शासन-सम्बन्धी संतुलन का यहाँ प्रश्न है। इन तथा अन्य बातों पर बाद में विचार किया जायगा।

सम्प्रदायवाद की हाल की पुकार तो उन अधिकारों से वंचित लोगों की इच्छा में से पैदा हुई है जो, उस महान् सत्ता में जिसके भारतीयों को मिलने की आशा है, एक महत्वपूर्ण भाग पाने का दावा करते हैं। वास्तव में और आवश्यक रूप से यह एक राजनैतिक पुकार है जिसे उन लोगों ने उठाया है जिन्हें अपने अधिकारों से वंचित होने का भय है या जो डरते हैं कि उनके वर्तमान अधिकार और लाभ बहुत कुछ सीमित हो जायँगे। भारतीय-विदेशी राज्यों के शासक, यूरोपियन या ऐंग्लोइण्डियन जिनमें अँग्रेज भी शामिल हैं, मुसलमान, ईसाई, बड़े पूंजीवादी, ज़मींदार, दक्षिण के अब्राह्मण, अम्बेदकर-हरिजन और सिख, ये सब-के-सब लगभग एक-सी ही स्थिति में हैं। हाँ, ख़तरा किसी के लिए कम है, किसी के लिए अधिक।

लेकिन आज का मुख्य राजनैतिक प्रश्न तो भारत पर अँग्रेज़ों का महाशासन है और है भारतीय-विदेशी भारत। अँग्रेज़ों को या तो राज़ी किया जाय या उन्हें बाध्य किया जाय कि वे उस सत्ता को छोड़ दें जो भाग्य से उनके हाथ पड़ गई है। ब्रिटिश साम्राज्य के भारी-भरकम विस्तार पर दूरदर्शी विचारकों का बहुत समय से ध्यान रहा है। अतीत काल में कोई भी ऐसा साम्राज्य जीवित नहीं रह सका जिसका विस्तार बल-बूते से बाहर रहा हो। और कोई कारण नहीं है कि इतिहास का यह फ़ैसला मौजूदा साम्राज्य के बारे में विपरीत हो। जिस कशमकश में आज इंग्लैण्ड फँसा है, उससे वह अछूता नहीं रह सकता, चाहे उस कशमकश में उसे सफलता मिले या असफलता। ब्रिटिश साम्राज्य के सुदूरवर्ती भाग, विशेषकर भारत, सम्भवतः अब अधिक समय तक उसके मुंहदेखा नहीं रह सकते। संसार-भर की समस्त घटनायें आज यही बताती हैं। इसलिए हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इंग्लैण्ड को यह विश्वास करने के लिए राज़ी किया जा सकेगा कि भारत को समर्थ बनने में आज सहायता देने से उसे भविष्य में अधिक लाभ होगा, बजाय इसके कि जो कुछ समर्थ वह भारत को बनाना चाहता है, उसे आनेवाली अनिश्चित कल के ऊपर छोड़ दे। लेकिनदेश के महत्वपूर्ण; यद्यपि कम शक्तिशाली, अल्पसंख्यकों की भाँति ब्रिटिश को इस

देश में अपने मुख्य हितों के बारे में भारत के साथ स्पष्ट समझौता कर सकता है। न तो भारतीय अल्पसंख्यक, चाहे जितने शक्तिशाली वे क्यों न हों, न भारतीय विदेशी राज, देश की राजनैतिक प्रगति के मार्ग में इतने प्रभावशाली ढंग से रोड़ा अटका सकते हैं, या उसे रोक सकते हैं जितना कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट कर सकती है, यदि भारत उसके साथ कोई समझौता नहीं कर पाता। लेकिन एक प्रकार से ब्रिटिश के साथ समझौते पर आया जा सकता है, क्योंकि संसार की राजनीति में ब्रिटिश का भी तो दाँव लगा है और लोक-मत की अवहेलना करके वह गैरवाजिब नहीं हो सकता। फिर भी यदि एक बार अँग्रेज भारत के अपने सरकार के रूप को निश्चित करने के अधिकार को स्वीकार करने का निश्चय कर लें तो भारतीय अल्पसंख्यकों से समझौता करना बहुत सुगम हो सकता है। कांग्रेस इंग्लैण्ड से यह घोषणा करने के लिए आग्रह कर रही है कि भारत को अपना विधान निश्चित करने का अधिकार है तो इसमें उसका ध्येय और उद्देश्य केवल यही है कि वह अल्पसंख्यकों से समझौता करने में सुविधा उत्पन्न करे। दुर्भाग्य से स्थिति बड़ी दूषित हो गई है। यदि ब्रिटिश राजनेता इस अवस्था में सत्ता छोड़ने के लिए असम्मत है, तो वे समय के साथ चले चलें जबतक कि ऐसी स्थिति न हो जाय कि उन्हें सत्ता छोड़नी ही पड़े। इसलिए यह आवश्यक है कि ग्रेट-ब्रिटेन के द्वारा भारत के आत्म निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करने की माँग के साथ अल्पसंख्यकों में समझौता कराने का प्रयत्न भी दृढ़ निश्चय के साथ होना चाहिए। यदि समझौते का प्रयत्न सफल हुआ तो ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा भारत के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करने की बात का तो कुछ भी महत्व न रहेगा, क्योंकि अगर समूचे देश की ओर से सम्मत माँग पेश की गई तो यह अकल्पनीय है कि अँग्रेज़ सत्ता धारण किये ही जावेंगे। हाँ, सशस्त्र प्रतिरोध का सहारा लेकर वे ऐसा भले ही कर सकते हैं।

देशी रियासतें, जैसा कि बार-बार कहा गया है, सर्वोच्च सत्ता की ही वास्तव में उपज हैं और उनकी अधिक संख्या होने के बावजूद भी, उनकी सम्पूर्ण महत्ता इस बात में है कि उनके अनुचित दावों तक का सर्वोच्च सत्ता समर्थन करती है। वास्तव में ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों में रहनेवाले भारतीयों में कोई अन्तर नहीं है। यदि ब्रिटिश भारत में कोई राजनैतिक अथवा आर्थिक परिवर्तन होते हैं तो रियासतोंके लोग उनसे अछूते नहीं रह सकते। कोई एक दर्जन रियासतों को छोड़कर, बाकी रियासतें क्या हैं, वे तो शानदार ज़मींदार हैं जो मनमानी चलाते हैं। लेकिन उनकी शक्ति तो एक विडम्बना है। मामूली रियासतों के तथाकथित सरदार और शासक तो सर्वोच्च सत्ता के एजेण्टों के हाथ के बस कठपुतले हैं और उनकी तथाकथित आज़ादी ब्रिटिश भारत के निवासियों की अपेक्षा कहीं अनिश्चित है। फ़ौजी साधनों के अतिरिक्त

उनके आर्थिक साधन इतने नाकाफ़ी हैं कि वे मामूली से साल भर चलनेवाले संघर्ष को भी नहीं चला सकते। उन सबका किसी भी हालत में मेल नहीं हो सकता। हाँ, सर्वोच्च सत्ता की संयुक्त मर्ज़ी से हो सकता है। संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि सर्वोच्च सत्ता के वे वक्त ज़रूरत के लिए सहायक हैं और सुरक्षित हैं। इसलिए यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उनके साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। हाँ, उनकी आक़ा सत्ता की मारफ़त हो सकता है।

इस प्रकार भारतीय समस्या का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न अंग्रेज़ी-सरकार का महाशासन है। अंग्रेज़ों के सम्बन्ध में विशेष दिलचस्पी की तीन महत्वपूर्ण बातें हैं जिनपर उनका दिमाग़ लगा है और जिनसे उन्हें सुरक्षित मण्डी और साहसिक कार्य का विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। भारत की मुख्य लाभदायक राष्ट्रीय सम्पत्ति याने रेलवे वास्तव में अंग्रेज़ों के हाथ है। भारत की रक्षा के साधन उन्हीं की दया पर आश्रित हैं। भारत में लगभग ३० लाख अंग्रेज़ हैं जिनमें से कोई ५० हज़ार फ़ौज में और सरकारी नौकरियों पर हैं, जब कि अधिकांश व्यापार कर रहे हैं। यह ज़ोर के साथ कहा जा सकता है कि भारत ने अंग्रेज़ों को बहुत दिया है, इतना कि जितना उसने कभी अंग्रेज़ों से पाया भी नहीं था। और अब समय आ गया है कि वह साझेदारी ख़त्म हो और धरती के पुत्रों को अवसर मिले कि वे अपनी ही इच्छा और महत्वाकांक्षा के अनुसार अपनी स्थिति को उन्नत करें। अंग्रेज़ों को भारत के साथ संधि से ही संतुष्ट होना चाहिए। यह तो माना ही जाता है कि एक मज़बूत सरकार का सृजन होगा जो अंग्रेज़ों को उनके जायज़ अधिकार और लाभों की गारण्टी देगी। लेकिन अंग्रेज़ों का महाशासन न रहेगा। ऐसी मज़बूत सरकार तभी सम्भव है जब भारतीयों में ही उस सरकार के रूप के सम्बन्ध में समझौता हो जिसके कि शासन के मातहत उन्हें रहना है। इसलिए अब हम इस बात पर विचार करें कि राष्ट्रीय-पंचायत के द्वारा किन तरीक़ों से यह समझौता हो सकता है।

यदि हमें यह मान्यता लेकर चलना है कि राष्ट्रीय-पंचायत जो कि भारत का आत्म-निर्णीत विधान तैयार करेगी, क्रांतिकारी संस्था नहीं है, बल्कि विकासशील है, तो राष्ट्रीय स्थिति का मुख्य प्रश्न, याने ब्रिटिश सत्ता को आँख-ओझल नहीं किया जा सकता। प्रयत्न सफल होगा या असफल, यह तो इंग्लैण्ड की समूचे प्रश्न के हल निकालने में सहायता देने की इच्छा पर निर्भर है। गवर्नर-जनरल की घोषणाओं से अंग्रेज़ों की वैसी इच्छा का पता चलता है; लेकिन पूर्व परिस्थितियों से जिनसे कि उनकी इच्छा सीमित है, बड़ी विषैली स्थिति पैदा होती है। मज़ेदार बहाना बनाया जाता है कि जिन विशेष स्थितियों में मज़बूत सरकार का निर्माण हो सकता है, वे स्थितियाँ तो इस समय हैं ही नहीं। साम्प्रदायिक झगड़ा फैला है। यह भी कहा जाता

है कि चूंकि राष्ट्रीय समझौते की कोई गारण्टी नहीं मिल रही है, इसलिए ब्रिटिश सरकार प्रस्तावित असेम्बली की सफलता की कोई आशा नहीं कर सकती है। इस बाद की बात के दुधारे फलितार्थ हैं। यदि देश का शक्तिशाली राजनैतिक दल किसी ऐसे मार्ग पर चलता है जिसमें कठिनाइयाँ-ही कठिनाइयाँ हैं और राष्ट्रीय-पंचायत के जिसकी कि वे मांग कर रहे हैं, श्रम का असफल साबित होना लाजिमी है तो उस बबूले को फोड़ने का सबसे इच्छा तरीक़ा यह है कि उन सबको व्यर्थता में ही फंसे छोड़ दिया जाय। कांग्रेस की ओर से कहा गया है कि उसने जो मांग की है उसके परिणाम भुगतने के लिए वह तैयार है, चाहे इससे उसकी सारी योजनाऐं ही क्यों न नष्ट हो जायँ। इसलिए ऐसा प्रस्ताव का न माने जाने से ब्रिटिश सरकार की प्रामाणिकता पर बुरी तरह आलोचनायें और सन्देह उठ खड़े होंगे। दूसरी ओर सफलता और तुक के साथ दलील दी जा सकती है कि राष्ट्रीय-पंचायत के इस प्रयोग की निष्फलता का सम्भावित भय ही विरोधियों की प्रामाणिकता का सबूत देता है। यदि आपत्ति करने वाले दूसरा सफल विकल्प बतायें तो बाद की दी गई दलील का कुछ महत्व हो सकता है।

इसलिए हम उन कुछ विकल्पों की पायेदारी की जांच करें। एक बार यह स्वीकार कर लिया जाय कि एक मज़बूत सरकार एक विस्तृत-से-विस्तृत आधार, याने राज्य की बालिग़ जनता की बड़ी-से-बड़ी सम्भव संख्या की स्वतन्त्र और सक्रिय रज़ामन्दी पर ही टिक सकती है। किसी राज्य के विधान बनाने के निर्णय चाहे एक आदमी ही निश्चय कर ले या बहुत से आदमी करें, या नुमाइन्दों का छोटा सम्प्रदाय करे या बड़ा, पर जो शक्ति वे अमल में लावें, वह निर्वाचन-क्षेत्र के समूचे सम्प्रदाय या वहां की जनता या राज्य की ओर से उनके हाथ सौंपी गई हो। यदि ऐसा नहीं होता तो कुछ व्यक्तियों के निर्णयों को बड़ी सस्थाओं के निर्णयों की भांति वे अधिकारी नुमाइन्दे जिनका हाथ उन निर्णयों में नहीं है, नामंजूर कर देंगे। यदि निर्णय शस्त्र-बल या उतने ही अधिक प्रभावशाली किसी अन्य दबाव द्वारा लोगों के गले नहीं उतारे जाते तो वे क्षणिक ही होते हैं। दबाव से दबे राज्य में भी एक मज़बूत सरकार क़ायम की जा सकती है, जैसे जर्मनी और रूस में है। यदि हमारी मांग केवल मज़बूत सरकार के लिए है तो उसके लिए सब इरादों और ध्येयों के लिए पूर्ण अधिनायकता उतनी ही अच्छी चीज़ है जितनी दूसरी और कोई। मनचाहा फल उससे मिल जाता है।

कांग्रेस, लीग और ब्रिटिश हाई कमांड के बीच प्रारम्भिक चर्चाओं और समझौतों का यह लाभ हो सकता है कि उससे समझौते द्वारा समूचे देश के निर्णय के मान्य होने का उचित वातावरण पैदा होगा; क्योंकि कांग्रेस, लीग और ब्रिटिश हाई

कमाण्ड तीनों सुव्यवस्थित ख़याल किए जाते हैं। उनमें सम्मानित और ज़िम्मेदार नेता हैं। व्यावहारिक मूल्य इस तरीक़े का कुछ आज भी हो, लेकिन इस बात की गारण्टी कोई नहीं है कि अपनी-अपनी संस्थाओं की ओर से जो कुछ ये करेंगे वह चालीस करोड़ भारतीयों को मान्य होगा, क्योंकि भारत को चूस डालने के लिए ही तो वे बने हैं।

भारत के ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधि की हैसियत से गवर्नर-जनरल अंग्रेजों की ही तरफ़ से नहीं बोल सकते; बल्कि भारतीय-विदेशी राज्यों की तरफ से भी बोल सकते हैं। देशी रियासतों को राज़ी करने के लिए वह किन मार्गों का अवलम्बन करेंगे, यह तो वही तै करेंगे। यह नहीं भूलना चाहिए कि रियासतों की प्रजा को ही इस बात का अन्तिम अधिकार है कि वह उस सरकार के रूप को निश्चित करे जिसके शासन के मातहत उसे रहना है। तब गवर्नर-जनरल उन लोगों से जो अल्पसंख्यकों की ओर से बोलने का दावा करते हैं संरक्षण के लिए माँगों की सूची मांगें। उन माँगों को वे छोड़ दें जो सामान्य स्वीकृत माँगों के देखते हुए अनुचित हों। अल्पसंख्यकों की मांगें कुछ भी हों, असंगत वे नहीं होनी चाहिएँ। गवर्नर-जनरल द्वारा तै की गई इन मांगों की सूची पर देश की महत्वपूर्ण राजनैतिक संस्था, याने कांग्रेस के प्रतिनिधियों से चर्चा खत्म होने पर राष्ट्रीय-पंचायत के विधान तथा अन्य बातों को सुगमता से तै किया जा सकता है।

प्रारम्भिक बातों को तै करने का एक मार्ग और है। वह कुछ अधिक वैधानिक भी दिखाई देता है। प्रांतीय असेम्बिलियाँ और कौंसिलें निश्चित सख्या में कुछ प्रतिनिधि चुनें और ये प्रतिनिधि प्रारम्भिक बातों को तै कर डालें।

एक और भी तरीका है। देश की प्रमुख पार्टी याने, कांग्रेस-कार्यसमिति प्रमुख राजनैतिक संस्थाओं के, जो प्रान्तों में उसकी विरोधी हैं, अध्यक्षों की पूर्व सम्मति से एक बेजाब्ता राष्ट्रीय परिषद् बुलाले जो प्रारम्भिक बातों को तै करे। इस तरीके में एक भारी आपत्ति हो सकती है, और वह यह कि यद्यपि विभिन्न राजनैतिक, और धार्मिक संस्थाओं के अध्यक्षों ने या राष्ट्रीय परिषद् में कोई निर्णय कर भी लिये गये तो इस बात की गारंटी नहीं है कि राष्ट्रीय-पंचायत भी उन्हें मान ही लेगी। ज़ाहिरातौर पर इसलिए एक स्वीकृत अनुशासन की आवश्यकता है और इस बारे में एकमात्र अनुशासन यह हो सकता है कि ब्रिटिश प्रतिनिधियों से पूर्व समझौता कर लिया जाय कि राष्ट्रीय-पंचायत के विचार के सारभूत आधार यही निर्णय होंगे। लेकिन यह उस आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विरोध में आयगा जो राष्ट्रीय-पंचायत के काम का आधार है।

यह कहा जा सकता है कि यदि विभिन्न राजनैतिक या सामाजिक संस्थाओं के थोड़े से अध्यक्षों का ही निर्णय महत्त्वपूर्ण है और उनका समझौता ही सारी स्थिति का

अन्तिम प्रश्न होगा तो राष्ट्रीय-पचायत की जरूरत ही क्या रह जाती है? ऐसी हालत में वह व्यर्थ होगी। पर विधान बनाने का काम भी तो विशेषज्ञ ही कर सकेंगे और राष्ट्रीय-पचायत भी आधारमूलक सिद्धान्तों को तै करने के बाद विधान बनाने का काम विशेषज्ञों को ही सौंपेगी।

एक तरीके पर और विचार किया जा सकता है। प्रान्तीय धारा-सभाओं में देश की बालिग़ जन-संख्या का २५ प्रतिशत प्रतिनिधित्व होता है। और इन प्रतिनिधियों को सभी कल्पनीय राजनैतिक दलों में से लाया जाता है। लीग तक इस बात का दावा करती है प्रान्तों की विभिन्न धारा-सभाओं के अधिकांश मुस्लिम प्रतिनिधि लीग के समर्थक हैं। क्या कारण है कि प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्य राष्ट्रीय परिषद् में जिसमें प्रारम्भिक बातें तै की जाँय, और साम्प्रदायिक समस्याओं पर भी जिसमें विचार कर लिया जाय और उन्हें तै कर लिया जाय, भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों के निर्वाचन-क्षेत्र न बन जावें? ऐसी परिषद् के प्रतिनिधि स्वाभाविक रूप से अपनी प्रातिनिधिक हैसियत में ही मिलेंगे। यदि उनके निर्णयों पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं होती कि वे भारत की समूची बालिग़ जन संख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, तो शायद उन्हीं को देश की राष्ट्रीय-पचायत मान लिया जायेगा। कुछ भी हो, साम्प्रदायिक प्रश्न, आमतौर से अल्पसंख्यकों के अधिकार और राष्ट्रीय-परिषद् के विधान तथा अन्य बातों पर उनके निर्णय बड़े निर्वाचन पर चुनी हुई राष्ट्रीय पंचायत की बुनियाद बनाए जा सकते हैं। इसमें तो यह भी मान्यता आजाती है कि ब्रिटिश सरकार इस राष्ट्रीय-परिषद् और विस्तृत राष्ट्रीय-पंचायत के निर्णयों को मानने के लिए बाध्य होगी। अन्यथा उनका निश्चय देश की मूल-माँग होगी जिसका मुकाबिला केवल सशस्त्र विरोध से ही किया जा सकेगा। शायद आस्ट्रेलिया की कॉमनवैल्थ का उदाहरण इस बारे में विशेष रूप से संगत है। जिस राष्ट्रीय पंचायत ने आस्ट्रेलिया की कॉमनवैल्थ का फ़ेडरल-विधान तैयार किया था, वह शुरू में संयुक्त राज्यों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् थी। प्रारम्भ में उस परिषद् का सम्बन्ध कुछ अपने-अपने राज्यों के फाइनेन्स से सम्बन्ध रखनेवाले आंतर-राज्य प्रश्नों से ही था। पहली बैठक के बाद अनुभव किया गया कि प्रश्न केवल फ़ाइनेन्स या कर का ही नहीं है, बल्कि सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखनेवाले उन सभी प्रश्नों का है, जिन्हें सम्बद्ध करना होगा। इसलिए वे उन प्रश्नों पर विचार करते गए और अन्त में उन्होंने फेडरल-विधान तैयार कर डाला, जिसे ब्रिटिश पार्लमेंट को रजिस्टर करना पड़ा। भारत के मार्ग-प्रदर्शन के लिए भी यह एक अच्छा वैधानिक निदर्शन है और उसके लिए ऊपर से किसी के अनुशासन की भी आवश्यकता नहीं है।

प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्यों की प्रातिनिधिक हैसियत पर तो कोई शक

कर ही नहीं सकता। और उसी हैसियत में वे उन निर्णयों पर पहुँच सकते हैं जो देश की माँगें होंगे। कहा जा सकता है कि यह तरीक़ा भी मुख्य कठिनाई याने साम्प्रदायिक समझौते को दरगुज़र करता है। कांग्रेस ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि एक राजनैतिक संस्था के रूप में, जिसकी सात प्रान्तों में महत्वपूर्ण स्थिति है, वह मुस्लिम-लीग के साथ जोकि भारतीय मुसलमानों के एक बड़े और प्रभावशाली भाग की ओर से बोलने का दावा करती है, समझौता करने के लिए तैयार है। बद-क़िस्मती से लीग ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों के साथ समझौता करने से अबतक इन्कार कर दिया है। एक शर्त पर वह समझौता कर सकती है। कांग्रेस उसे भारत के मुस-लमानों की एक-मात्र प्रतिनिधि मान ले। साथ ही लीग के अध्यक्ष ने जनतन्त्र के सिद्धान्त को भी छोड़ दिया है और यह कहकर उसकी निन्दा की है कि भारत की योग्यता से वह मेल नहीं खाता।

इन कठिनाइयों के बावजूद भी कांग्रेस ने लीग को भारत के मुसलमानों को एक प्रभावशाली और सुव्यवस्थित राजनैतिक संस्था के रूप में मानने की रज़ामन्दी ज़ाहिर की है।

इस अवस्था में इस विस्तार में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्रीय-पंचायत की कार्य पद्धति और रचना क्या होगी। लेकिन यह हम फिर कह दें कि आधारमूलक अधिकारों पर सर्वसाधारण का चर्चा करना स्थिति के देखते अत्याव-श्यक है। इसी चर्चा पर भारत के स्वतन्त्र राज की इमारत खड़ी होगी। कोई विशेष अल्पसंख्यक या भारतीय जनता का अन्य महत्वपूर्ण अङ्ग सार्वजनिक चर्चा के लिए कोई प्रस्ताव रखने के लिए तैयार हो या न हो, देश के प्रमुख राजनैतिक दल का यह कर्तव्य है कि वह विचारों के स्पष्टीकरण के उद्देश्य ऐसी से सार्वजनिक चर्चा का श्रीगणेश करे।

: ५ :

राष्ट्रीय-पंचायत और साम्प्रदायिक समझौता

[डाक्टर पट्टाभिसीतारामैया]

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कांग्रेस कार्यसमिति के नवम्बर १९३९ की बैठक में पास किये हुए नये प्रस्ताव की तीव्र आलोचना हुई है। एक तरफ़ तो सहज झुक जानेवाले कुर्सीतोड़ राजनीतिज्ञ उसकी आलोचना कर रहे हैं और दूसरी ओर वे लोग भी टीका-टिप्पणी कर रहे हैं, जो कांग्रेस की उद्देश्य प्राप्ति की गति को तेज़ करने के लिए आतुर हैं। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि समिति के निर्णय

का आधार यह रहा कि सरकार ने हमसे समझौता करने का द्वार बन्द कर दिया है, किन्तु फिर भी हमें अपनी ओर से जल्दबाज़ी करके स्थिति बिगाड़ना नहीं चाहिए। यद्यपि हमको प्रत्येक परिस्थिति का मुक़ाबला करने की तैयारी भी करते जाना चाहिए। हमारी नीति यह थी कि हम सरकार को छेड़कर मजबूर करना नहीं चाहते, किन्तु तब तक प्रतीक्षा करना चाहते हैं जबतक कि सरकार स्वयं अपने आपको ग़लत स्थिति में न डाल ले। यह तीव्रता से अनुभव किया गया कि वर्तमान समय के और सविनय आज्ञाभङ्ग की घोषणा होने अथवा ऐसी परिस्थितियों के पैदा हो जाने के बीच में, जिससे कि सविनय आज्ञाभङ्ग करना आवश्यक हो जाय, एक ऐसा मध्यवर्ती समय भी है जिसमें कि हमें ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की कोशिश करनी चाहिए। इसलिए यह उचित ही है कि हम स्वयं अपने सामने, भारतवर्ष के अपने समालोचकों के सामने तथा बाहरी संसार के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दें।

साम्प्रदायिक समझौता

सबसे पहले तो कार्य-समिति ने अनुभव किया कि हमें यह दिखा देना चाहिए कि हम साम्प्रदायिक समझौता करने को सचमुच इच्छुक हैं, इसलिए नहीं कि हम वायसराय के कथन को स्वीकार करते हैं, जोकि बिलकुल ग़लत है, किन्तु इसलिए कि अपनी सचाई प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। मुसलमान मित्रों के सामने हमें अपनी स्थिति और भी स्पष्ट कर देनी चाहिए, और राष्ट्रीय पंचायत के सम्बन्ध में उन की उठाई हुई आपत्तियों का उत्तर देना चाहिए। हमने अपने प्रस्ताव में वास्तव में ऐसा उत्तर देने का यत्न किया है। यह कोई पहला अवसर नहीं है कि हम साम्प्रदायिक समस्या का हल ढूंढ़ने की कोशिश कर रहे हों। गाँधीजी के दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के लिए इंग्लैण्ड रवाना होने के समय भी हमने साम्प्रदायिक समझौते का एक गुर तैयार किया था। सन् १९३५ में तो राजेन्द्र बाबू ने जिन्ना साहब के साथ इस समस्या को करीब करीब तय ही कर डाला था। किन्तु जिन्ना साहब की इस ज़िद के कारण कि इस हल को हिन्दू महासभा भी स्वीकार करे, वह समाप्त हो गया। इसके बाद १९३७ और १९३८ में लीग और कांग्रेस के बीच में लम्बा और आरोप प्रत्यारोपात्मक पत्र व्यवहार तक होता रहा। नवम्बर १९३९ के प्रथम सप्ताह में दिल्ली में जो बातचीत हुई, और अब उसी सम्बन्ध में जो कुछ कार्रवाई होगी, यह सब उसी दिशा के प्रयत्न का सिलसिला है। इसलिए, साम्प्रदायिक समझौते की इन बातचीतों को जारी रखते हुए हमारा यह कर्तव्य है कि हम एक युद्धशील संस्था के रूप में अपनी स्थिति को मज़बूत कर लें।

गाँधीजी की आशङ्का

आज गाँधीजी के हृदय में कांग्रेस और भारत के सविनय आज्ञाभङ्ग की लड़ाई में सफलता पा सकने के विषय में गम्भीर आशङ्का और भय है। यह आशङ्का है कि सविनय आज्ञाभङ्ग कहीं बुरी तरह दब न जाय, या कहीं साम्प्रदायिक दंगों और हिंसा का रूप ग्रहण न कर ले। यह उनका नया विचार नहीं है, क्योंकि वह बहुत समय से ऐसी आशंका प्रकट करते आरहे हैं। यहाँ इस बात का सवाल नहीं है कि जो लोग अधिक गरम और उत्तेजक कार्यक्रम के पक्षपाती हैं उनकी प्रेरणा से जल्द-बाजी का कोई क़दम उठाना चाहिए या नहीं, न इस बात का सवाल है कि सरकार से युद्ध घोषित करने के साहस की कमी है या नहीं। गांधीजी तो सावधानी कर रहे हैं, जो अन्य परिस्थिति में वे सम्भवतः न करते। उन्होंने प्रान्तों की, तथा मज़दूरों की और किसानों की स्थिति को एक दृष्टि से समझ लिया है और अपना निर्णय कर लिया है। यह प्रश्न कभी-कभी किया जाता है कि हमारी राजनीतिक स्थिति क्या है, क्या साम्प्रदायिक समझौते की चर्चायें जारी रखनी ही पड़ेंगी, अथवा, क्या हम उन्हें गौण स्थान प्राप्त करने देंगे। किन्तु गांधीजी का सोचा हुआ उत्तर यह होगा कि अब भी हमें सर्वसम्मत समझौते पर पहुँचने का काफ़ी यत्न करना चाहिए, और इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए कि दूसरे अल्पसंख्यक वर्ग भी अपने-अपने लिए समझौते करने को आगे आयँगे। हमें प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग के सम्बन्ध में अपनी स्थिति निश्चित कर लेनी चाहिए, और वह उनको बतला देनी चाहिए, जिससे कि ब्रिटिश सरकार को सत्ता के स्थान से हटाया जा सके। यदि हम सफल हो जाते हैं तो यह एक महान सफलता होगी। यहां यह स्मरण रखना होगा कि हम समस्या की सत्यता को स्वीकार नहीं कर रहे।

क्योंकि कहा जा सकता है कि जब आप से यह पूछा जाय कि आपको कोई काम करना क्यों आवश्यक है तो आपका जवाब है कि आपको वह काम करना आवश्यक है। स्थिति को अच्छी तरह समझने के लिए हमें हाल में हुई जिन्ना साहब और गांधीजी की बात-चीतों को अपनी दृष्टि से बाहर कर देना चाहिए। इनके अलावा भी, यह हमारा काम ही है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पैदा होने वाले भिन्न-भिन्न प्रश्नों के विषय में हमें क्या करना चाहिए इस बात का हम निर्णय कर लें। जब हम लोगों ने १४ सितम्बर १६३६ का (युद्ध-सम्बन्धी) वक्तव्य तैयार किया था उस समय भी इस तरह के समझौते का खयाल हमारे दिमाग़ से बाहर न था। बल्कि यह सबको स्मरण होगा कि हम लोगों ने जिन्ना साहब को तार देकर निमंत्रित भी किया था, किन्तु एक सप्ताह बाद ही दिल्ली में मुस्लिम-लीग की कार्य समिति की बैठक

होनेवाली थी इस कारण उन्होंने आने की अपनी असमर्थता प्रकट की। इतना होते हुए भी जब वायसराय हमसे ही कहते हैं कि लोगों ने इस प्रश्न को हल नहीं किया है, और इसीकी घोषणा वह तुरन्त उसी रात को रेडियो पर जाकर कर देते हैं तो हमें बहुत बुरा लगता है। यदि हम ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास नहीं दिला सकते कि वह ग़लती पर है, तो इससे हमारी योजनायें बन्द नहीं हो जातीं, और न हम अपने मार्ग से हट सकते हैं। बाहरी मुल्क भी यदि हम पर ताने कसे और हमारा मज़ाक़ उड़ाये तो भी हमें अपना कर्तव्य पालन करना पड़ेगा और प्रचार करना पड़ेगा। जो प्रचार भारतवर्ष के अन्दर किया जाता है वह बाहरी मुल्कों में भी आवश्यक रूप से प्रतिबिम्बित हो जाता है। और बाहरी देश हमारे मार्ग की समालोचना में जो कुछ कहते हैं उससे भी हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारा मार्ग सही है। हमारे सामने यही एक कसौटी है।

उचित समय

फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि जब अँग्रेज़ लोग एक हाथ से तराज़ू को उठाये हुए हैं और शायद दूसरे हाथ से एक पलड़े को ज्यादा झुकाये हुए हैं, तो क्या यह समय साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिए उचित है। हमारा उत्तर यह है कि इस समय का चुनाव हमने नहीं किया है। हम तो निरन्तर प्रयत्न करते रहे हैं और यह प्रयास भी उसी सिलसिले में से एक है। साम्प्रदायिक प्रश्न हमेशा खड़ा रहा है और हम यह नहीं कह सकते कि क्योंकि दूसरे लोगों ने इसे खड़ा किया है, इसलिए हम इसे हल न करेंगे। और इस दूसरे ख़याल से भी कि, वर्तमान राजतन्त्र इस मन्त्रणा को और भी बढ़ाता रहेगा, हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार के रहते हुए तो यह मन्त्रणा और भी लम्बे अरसे तक जारी रहेगी, और इससे साम्प्रदायिक समस्या के हल होने की ही सम्भावना रहेगी।

विधान (राष्ट्रीय) पञ्चायत

कुछ दूसरे लोगों की राय यह है कि "हमने ही अचानक साम्प्रदायिक प्रश्न को उसकी क़ब्र में से निकाल लिया है, क्योंकि उनके कहने के अनुसार हमने युद्ध के साथ शुरूआत की है। ब्रिटेन ने हमारी जानकारी या मर्ज़ी के बिना ही हमको युद्ध में सम्मिलित कर लिया है। हमारे सहयोग दे सकने से पहले हमने ब्रिटेन से चाहा कि वह हमारे सामने सिद्ध करे कि इस स्थिति में भी युद्ध न्यायपूर्ण और उचित है। उसने कुछ भी जवाब दिया हो, किन्तु वह है असन्तोषपूर्ण, और उसकी नीति आपत्तिजनक है। दो महीने पहले हमारे कुछ भी विचार रहे हों, अब ब्रिटेन के व्यवहार

और वक्तव्यों के कारण हमने अपना ख़याल बदल दिया है।" ऐसा कहनेवालों को हमारा जवाब यह है कि हमें वायसराय को सत्य कथन करनेवाला मानना चाहिए। वायसराय ने हमें चुनौती-सी दे दी है कि आप लोग ब्रिटिश सरकार के सामने कोई सर्वसम्मत योजना लेकर तो पहुँचें। इस प्रकार का सर्वसम्मत समझौता केवल राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक सम्प्रदाय के हितों के लिए हर तरह का संरक्षण रक्खा जायगा। बालिग़ मताधिकार का आधार रहेगा। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को सन्तुष्ट करके ही समस्या का हल निश्चित किया जायगा। मुसलमानों की इच्छायें पूरी करने और उनके हित को सुरक्षित रखने की दृष्टि से ही बालिग़ मताधिकार ग्रहण किया गया है, क्योंकि यदि शिक्षा या सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार रक्खा जायगा तो इससे उन्हें ही हानि होगी। उन्होंने सदा बालिग़ मताधिकार की या ऐसे मताधिकार की मांग की है जिससे कि हिन्दू वोटरों के मुक़ाबिले में उनके उतने ही वोटर हों जितनी कि उनकी संख्या हिन्दुओं की संख्या के मुक़ाबिले में है। ऐसा मताधिकार या तो उनको विशेष रियायत देने से या दूसरों पर प्रतिबन्ध लगाने से हो सकता है जो कि प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त व्यवस्था कर देने के बाद यदि अल्पसंख्यक सम्प्रदाय स्वराज की इच्छा नहीं करता तो संसार को ज्ञात हो जायगा कि हम किस स्थिति में हैं। यदि वह स्वराज की इच्छा करता है तो हमें उसकी शर्तें मालूम हो जाती हैं। राष्ट्रीय-पञ्चायत का तथा उसके द्वारा साम्प्रदायिक प्रश्न का निबटारा कराने का तत्व-ज्ञान यही है।

भारत का अधिकार-पत्र

इस प्रकार यदि सारा भारतवर्ष बालिग़ मताधिकार के आधार पर एकत्रित होकर अपने अधिकारों की माँग करेगा, तो उस अधिकार-पत्र पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को दस्तख़त करने ही पड़ेंगे। यह सही है कि लार्ड ज़ेटलैण्ड हिन्दुओं, मुसलमानों और नरेशों से संयुक्त घोषणा की माँग करते हैं। हमारी राष्ट्रीय-पंचायत में नरेशों को जोड़ना और उनके होते हुए रियासतों की जनता को भी शामिल करना कठिन है। हमारा सर्वप्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए कि रियासतों की जनता को नागरिक स्वतंत्रता दिलाई जाय, और कुशासन हटाकर अच्छे ढंग का शासन तुरन्त ही स्थापित कराया जाय। यदि एक बार हमारी इतनी मांग मंज़ूर हो जायगी, तो हम सब बाधाओं को पार कर सकेंगे और रियासतों की जनता को अपने साथ ले सकेंगे। किन्तु हमारे साथ ऐसे लोग भी हैं जो लड़ाई के लिए आतुर हो रहे हैं। फिर भी हम अनुभव कर सकते हैं कि उपर्युक्त समस्त संरक्षणों के साथ राष्ट्रीय-पंचायत की कांग्रेस की मांग को रोकना जिन्ना साहब के लिए अत्यन्त कठिन होगा।

राष्ट्रीय-पंचायत की बैठक कब हो ?

इस समय की वास्तविक समस्या यह है कि क्या सविनय-आज्ञाभंग का परिणाम राष्ट्रीय-पंचायत होगी, या राष्ट्रीय-पंचायत से ही सविनय आज्ञाभंग की सारी आवश्यकता मिट जायगी। भारतवर्ष की सारी समस्या का सार इसी प्रश्न में सन्निहित है। आयर्लैण्ड में हिंसात्मक संघर्ष हुआ और उसका परिणाम हुआ राष्ट्रीय-पंचायत। किन्तु भारतवर्ष में तो हिंसा का स्थान अहिंसा ने ग्रहण किया है। इसलिए यहां इस क्रम के बदल जाने की आशा करना युक्ति-संगत ही होगा, और इसलिए राष्ट्रीय-पंचायत से सविनय-आज्ञाभङ्ग की आवश्यकता मिट जानी चाहिए। इलाहाबाद में कांग्रेस-कार्यसमिति द्वारा पास किये हुए पिछले प्रस्ताव का ज़ोर इसी प्रश्न पर है, और चूंकि उसने राष्ट्रीय-पंचायत बुलाने के पक्ष में और पहला क़दम सविनय-आज्ञाभङ्ग के रूप में तुरन्त न उठाने और उसे स्थगित रखने का निर्णय किया है, इसलिए स्वाभाविक ही है कि कांग्रेस के फारवर्ड ब्लाक की तरफ़ से ताने और मज़ाक की बौछार होने लगी है, मध्यवर्ती भाग में शङ्काएँ और कठिनाइयां उत्पन्न हो गई हैं, और अनुयायियों में बड़ा गम्भीर चिन्तन पैदा हो गया है। इन तीन प्रकार के समुदायों पर विचार करना आवश्यक है। शान्तिपूर्वक समझौता करने के मार्ग की समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी, जो कम होने के बजाय निरन्तर बढ़ती हुई-सी दिखाई देती हैं, कार्यसमिति ने समस्त विरोधी समालोचनाओं का मुक़ाबिला करने का साहस किया। यदि यह बात मानी जाय तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह जनता के सामने अपने पक्ष को, ऐतिहासिक और क़ानूनी तथा राजनैतिक और नैतिक, प्रत्येक दृष्टि से सिद्ध करे।

क्रम का बदलना

पहले हम नैतिक पहलू को लेते हैं। हमने हिंसा के क्षेत्र में ब्रिटेन से युद्ध नहीं किया है, और न ऐसा करने का हमारा इरादा है। आयर्लैण्ड-वासियों ने १९१७ में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, और गुरीला-युद्ध की-सी लड़ाई विशेषतः जून १९२० और नवम्बर १९२१ के बीच जारी रक्खी, जिसके कारण रायल आयरिश कान्स्टेबल-दल और आयरिश इर्रेगुलर-दल में अनेकों घृणित हत्याकाण्ड घटित हुए, जिनमें से उल्लेखनीय बेलफास्ट और कॉर्क के थे। फलतः श्री लायड जार्ज ने श्री डी वेलरा को बुलाया, और १८ धाराओं की एक सन्धि की, जिसका समर्थन बाद में राष्ट्रीय-पंचायत के रूप में बैठी हुई डेल आयरैन परिषद् ने किया, तथा ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने भी किया। बाद में उसी सन्धि के आधार पर क़ानून बनाया गया। डेल आयरैन ने, जिसके सिपुर्द कि आयरिश जनता की इच्छा के अनुसार आयर्लैण्ड

के लिए शासन-विधान बनाने का काम था, राष्ट्रीय-पंचायत का काम किया और इसी शासन-विधान को अँग्रेज़ों ने उस समय की पार्लमेण्टरी रीति को पूर्ण करने की दृष्टि से अपनी पार्लमेंट में पास करना मंज़ूर कर लिया। याद रखना चाहिए कि यही बात आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका के विषय में भी हुई। केनेडा के विषय में तो, सारा कैनेडियन क़ानून ब्रिटिश क़ानून की भांति ब्रिटिश पार्लमेंट में रखकर पास किया गया। इसलिए अन्तिम उदाहरण से तो यही आवश्यक प्रतीत होता है कि शासन विधान बनाने का अधिकार रखनेवाली एक राष्ट्रीय-पंचायत का निर्माण किया जाय, और लड़ाई बन्द कर दी जाय। आयर्लैण्ड के समझौते की एक महत्व-पूर्ण बात यह थी कि राष्ट्रीय-पंचायत कही जानेवाली परिषद् अर्थात् आयरिश पार्लमेंट के रूप में बैठनेवाली डेल आयरैन कई वर्षों की लम्बी लड़ाई के, विशेषतः आयरिश और इंग्लिश लोगों की १८ महीने की आपसी खून-खराबी के बाद अस्तित्व में आई थी। हिंसा के क्षेत्र में तो, स्वभावतः ही राष्ट्रीय-पचायत इतना भारी और व्यापक खून-खराबी के बाद आयेगी, जिससे कि धैर्य की सीमा पार हो जायगी, और दोनों पक्ष समझौते के लिए आतुर हो जायँगे। किन्तु अहिंसा की योजना में इतिहास की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, बल्कि क्रम उलटा हो जायगा।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू की कल्पना

भारतवर्ष में पडित जवाहरलाल नेहरू ने सन् १९३४ में जेल से रिहा होने के बाद सर्वप्रथम राष्ट्रीय पंचायत बुलाने की आवश्यकता का ज़िक्र किया। किन्तु दैववशात् कुछ राजनीतिज्ञों ने इस विचार को कुछ समय के बाद प्रकाशित किया। जिस समय जवाहरलालजी ने कहा कि अगला क़दम राष्ट्रीय-पचायत बुलाना होना चाहिए, तो उस समय वह विचार समय से कुछ पूर्व था, क्योंकि ऐसे विचार के कार्यान्वित होने का वक्त सचमुच नहीं आया था। निस्सन्देह हमने एक लड़ाई लड़ी थी, किन्तु हम उसमें पराजित हुए थे। सामूहिक स्वरूप के सविनय-आज्ञाभङ्ग को अगस्त १९३३ में त्यागना पड़ा था, और पूना में किये हुए व्यक्तिगत आज्ञाभङ्ग के निर्णय पर भी बहुत थोड़ा कार्य हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गाँधी तो व्यक्तिगत आज्ञाभङ्ग को भी बन्द करना चाहते थे, किन्तु पूना में आये हुए प्रान्तीय-नेताओं ने ऐसा करने नहीं दिया। उस समय उन लोगों द्वारा पूना में महात्माजी को वचन दिये जाने पर भी, सविनय अवज्ञा के स्वेच्छापूर्ण कार्य करके जेल जानेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। सन् १९३४ में यह सारी घटनाएँ हमारे मस्तिष्क में इतनी ताज़ी थीं कि उस समय राष्ट्रीय-पंचायत की चर्चा करना भी अस्वाभाविक और शायद मूर्खतापूर्ण भी प्रतीत होता था। किन्तु एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो बुद्धिमत्ता-

पूर्वक समझ सकता कि स्वतन्त्रता की अहिंसात्मक लड़ाई किस मार्ग से आगे चलेगी या उसे चलना चाहिए, उसे तो ऐसे भविष्य की कल्पना करना कठिन नहीं था, जिस में कि अंग्रेज़ों और भारतीयों के मतभेद को दूर करने का एकमात्र मार्ग राष्ट्रीय-पंचायत ही हो सकता है, क्योंकि कुछ भी हो विजय और पराजय तो सापेक्ष शब्द हैं। १९३४ में दुर्भाग्य यह था कि लार्ड विलिंगडन प्रतिक्रियावादी वायसराय थे जिन्हें यह भ्रम और दुराशा थी कि यदि वह उसी साल केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव करवायगे, तो काँग्रेस बुरी तरह पराजित होगी। किंतु चुनाव का नतीजा इससे उलटा ही हुआ। पिछली घटनाओं का परिणाम यह दिखाई दिया कि यद्यपि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त होगया था, किन्तु असन्तोष राष्ट्र के हृदय में गहरा बैठ गया था, और वही नवम्बर १९३४ के केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव की गौरवपूर्ण सफलता के रूप में प्रकट हुआ। तब से ही पं० जवाहरलाल राष्ट्रीय-पंचायत के प्रश्न का ज़िक्र जगह-जगह करते आरहे हैं। इस विचार को कुछ लोगों ने पसन्द किया, और कुछ ने नापसन्द। इसलिए आश्चर्य नहीं कि वही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो हाल में महायुद्ध छिड़ जाने के बाद से उसपर ज़ोर दे रहे हैं। आखिरकार, महात्माजी ने भी इस प्रश्न को पूर्ण गम्भीरता से उठा लिया।

गांधीजी का तरीका

महात्मा गांधी का स्वभाव विचित्र है। महान आन्दोलन को चालू कर देते हैं। किन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि आन्दोलन किस तरह आगे चलेगा, तो वह नहीं बता सकते कि भविष्य में उसका स्वरूप क्या होगा। १९२१ में जब उन्होंने असहयोग और सविनय-आज्ञाभंग चालू किया था तब भी उन्होंने ऐसा ही कहा था। लोग उस व्यक्ति पर हंसते थे जो एक सामूहिक आन्दोलन हाथ में ले लेता है, किन्तु उसकी भावी प्रगति की तफ़सील नहीं बता सकता, क्योंकि वह अपना मार्ग पहले से नक़शे पर नाप कर निश्चित नहीं किया करते। और अब फिर जब उनसे पूछा गया कि आजकल जिस प्रकार का महायुद्ध चल रहा है उसमें अहिंसा किस प्रकार काम कर सकेगी, और ऐसे महायुद्ध में भारतवर्ष को कैसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वह तो अहिंसा के सिद्धान्त को पकड़े हुए हैं, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मैं यह बात नहीं जानता, परन्तु इतना जानता हूँ कि अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन केवल अहिंसा ही होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही महात्माजी अपना मार्ग निश्चित करते जाते हैं। उनके आगे का मार्ग और विचार उनको ठीक उस प्रकार सूझता जाता है जिस प्रकार कि धुंधले वातावरण में मोटर-ड्रायवर को आगे का रास्ता दिखता जाता है। गाड़ी की या

आन्दोलन की थोड़ी-सी आगे प्रगति होते ही फिर थोड़ा-सा आगे का रास्ता दिखाई दे जाता है जिससे कि ज़रा और आगे बढ़ना सम्भव हो जाता है, और इस तरह प्रगति करते हुए अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह स्वाभाविक ज्ञान से किसी चीज़ को देख लेते हैं, किन्तु अपनी स्थितियों का समर्थन तर्क-ज्ञान से नहीं करते, और तर्कशास्त्र से तो बहुत ही कम करते हैं। जीवन नियमों तर्कशास्त्र, या विद्वत्ता के आधार पर या इनके कारण नहीं चलता, यद्यपि जीवन की घटनाओं के निश्चित करने में यही तीन बातें प्रधानता रखती हैं। जीवन तो समझौतों का एक समूह है जिनका आधार स्वाभाविक ज्ञान है। और महात्मा गांधी के अन्दर काम करनेवाले स्वाभाविक ज्ञान का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि उनमें अनुभव के आधार पर प्राप्त किया हुआ सूक्ष्मतम और शुद्धतम तर्कज्ञान है, जो ऐसे साधनों द्वारा कार्य करता है जिनमें पूर्ण निःस्वार्थता और अनासक्ति रहती है। इसलिए महात्मा गांधी के सामने अपने चालू किये हुए आन्दोलनों के विषय में यह कठिनाई रहती है, किन्तु उनके अपने साथियों द्वारा प्रचारित किये हुए विचारों और शुरू किये हुए प्रयत्नों के विषय में तो और भी अधिक कठिनाई रहती है। अब वह स्वयं भूमि जोतनेवाले, बीज बोनेवाले और पौधे उगानेवाले व्यक्ति नहीं हैं। उनके लिए वह समय अब बीत चुका है, क्योंकि वह तो ऐसे प्रधान बाग़बान बन गये हैं जिसने पहले कभी अपने ज़माने में निःसन्देह भारतवर्ष के ग्राम-जीवन की भूमि को जोता और बोया था। अब तो उन्होंने लोगों को आज़ादी दे दी है कि सब लोग अपनी-अपनी ऋतु, भूमि, खाद, बीज और लक्ष्य के अनुसार अपनी-अपनी खेती करें। इसलिए जब दूसरे लोगों ने रियासतों में कार्य प्रारम्भ किया तो वह वहाँ की घटनावलि को दिलचस्पी से देखते रहे, यहाँतक कि आखिरकार अपनी एक बार की ही आश्चर्यजनक कुशलता से उन्होंने उसे अपने आन्दोलन में शामिल कर लिया, और कांग्रेसी आन्दोलन का एक भाग बना लिया। जीवन के उद्यान में श्रम करनेवाले लोगों को अपनी सचाई और गम्भीरता का सुबूत पेश करना चाहिए। तब वह उस विचार या कल्पना को स्वयं अपना लेते हैं। हाँ, उसे अपने मुख्य उद्देश्य का सहायक ही बनाते हैं, यद्यपि अपनी ओर से उसमें कुछ नवीनता भी ला देते हैं। इसी प्रकार जब राष्ट्रीय-पंचायत का नाम लिया गया, तो उन्होंने उस विचार को ग्रहण करने में कुछ समय लगाया। अब जब उन्होंने उसे ग्रहण कर लिया तो उनकी लेखनी और उनके शब्दों से उसमें वह स्पष्टता और तेज आ गया है जो पहले और कोई उसे शायद ही दे सकता। जैसे आप किसी वकील के पास जायँ, तो पहले वह आपके आधार पर सन्देह करता है। आपके सुबूत पर शंका करता है, और आपके मामले के महत्व को कम बताता है, किन्तु साथ-ही-साथ धान्य को कचरे से पृथक करता जाता

है, आपके गवाहों की दृढ़ता की जांच करता जाता है, आपके कथनों की सचाई को जांचता जाता है और आपके मामले की मज़बूती को आंक लेता है। इसी प्रकार आज महात्माजी राष्ट्रीय-पञ्चायत के महान पुरस्कर्ता बन गये हैं।

तीसरा अध्याय

इसके बाद यह प्रश्न पूछा जाता है कि आज इस अवसर पर भारतवर्ष को राष्ट्रीय पचायत की मांग करने का क्या अधिकार है ? प्रथम बात तो यह है कि पहले किसी युग या समय में इतिहास की घटना जिस प्रकार से हुई हो, बाद में सदा उसकी ठीक उसी प्रकार से पुनरावृत्ति नहीं होती, और पहली बार से दूसरी बार जब मूलाधार ही बिलकुल उलटा हो, तब तो यह सम्भावना और भी कम होगी। आयर्लैंण्ड ने हिंसामार्ग में श्रद्धा रक्खी थी, और हिंसा करने के बाद ही समझौता किया था। किन्तु भारतवर्ष ने तो अपनी प्रगति के तीसरे अध्याय में अहिंसा से कार्य-प्रारम्भ किया। उसने १८५७ में शारीरिक बल की लड़ाई की और १८८५ से १९२० तक बौद्धिक बल की लड़ाई की अनुपयुक्तता समझ ली। इसलिए परीक्षक जो आयर्लैंण्ड के उदाहरण से घटनाचक्र की जाँच और निर्णय करने का दिखावा कर रहे हैं, वे ग़लत कसौटी से जाँच कर हैं, क्योंकि हमारा आन्दोलन तो अहिंसा में उत्पन्न हुआ है, अहिंसा में बढ़ रहा है, और अहिंसा द्वारा ही अपने लक्ष्य, सीमा और पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहता है। हमारा दावा है कि भारतवर्ष के मामले में तो राष्ट्रीय-पंचायत दोनों पक्षों की एक-दूसरे को निकाल बाहर कर देनेवाली भिड़ंत का परिणाम होना आवश्यक नहीं है, और न आयर्लैंण्ड की विधान-पंचायत ही ऐसी भिड़ंत का परिणाम था जिसमें ब्रिटेन ने आयर्लैंण्ड को या आयर्लैंण्ड ने ब्रिटेन को खदेड़कर बाहर निकाल देने का यत्न किया हो। आखिरकार नवम्बर १९२१ में दोनों तरफ़ से लड़ाई स्थगित की गई, और इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री ने दक्षिणी आयर्लैंण्ड के नेता को निमन्त्रित किया। इसके अलावा जब हम अहिंसा के आधार पर लड़ाई लड़ते हैं तो हम नैतिकता के अपने विशेष सिद्धान्तों को भी साथ रखते हैं। यह एक मौक़े की बात है कि इंग्लैण्ड ने, किन्हीं नैतिक कारणों से, यूरोप के एक युद्ध में अपने आपको फंसा लिया है। अगर अँग्रेज़ लोगों ने पोलैण्ड के मामले में एक नैतिक प्रश्न न उठाया होता तो कार्यसमिति को भी भारतवर्ष के मामले में उसी के समान एवं नैतिक प्रश्न उठाने का विचार न आता। किन्तु जब घटनायें इस विशेष रूप में घटित हुई हैं, तो यह भी एक मानी हुई और निर्विवाद बात है कि इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के इस झगड़े में निर्णय केवल नैतिक आधार पर किया जायगा। और इस कारण भी राष्ट्रीय-पचायत को तुरन्त ही बुलाना आवश्यक है।

ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की कल्पना का विकास

पूर्ण स्वाधीनता यह एक दृश्य वस्तु नहीं है, किन्तु एक क्रम है। लोग प्रायः कहते रहते हैं कि आधुनिक सभ्यता इस प्रकार परस्पर-सन्निबद्ध हो गई है कि कोई भी राष्ट्र--भारत भी—अपने को पृथक् नहीं रख सकता। पृथक् रहना तो सभ्यता से अलग रहना होगा। संस्कृति का अर्थ है संघर्षों के समन्वय करने की योग्यता, और स्वाधीनता का अर्थ है पड़ोसियों का—चाहे वे भाई हों, या देश हों, या जातियां हों—पूर्ण समानता के आधार पर एक दूसरे से परस्पराश्रित हो जाना। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के घटक राष्ट्रों में इस प्रकार की समानता विकसित हुई और बढ़ी। हमने लाहौर में 'पूर्ण स्वाधीनता' का निश्चय किया था, जोकि "यदि सम्भव हो तो साम्राज्य के अन्तर्गत और यदि आवश्यक हो तो साम्राज्य के बाहर" इस प्रकार के अनिश्चितार्थक 'स्वराज' के प्रति उस समय एक विरोध प्रदर्शन था। हमने सन् १९२० में स्वराज के विचार को ठीक उस समय ग्रहण कर लिया था जबकि सन् १९२१ की कोलोनियल कॉन्फ्रेन्स की बैठक लन्दन में होने वाली ही थी। उसकी बैठक १९२६ में फिर हुई और उस समय डोमीनियन (उपनिवेश) की वह परिभाषा निकाली गई जो आजकल सुप्रसिद्ध है।

भारत के साथ साझेदारी

परन्तु अँग्रेज़ राजनीतिज्ञ भारतवर्ष के बारे में बोलते हुए साझेदारी(सम्भवतः इग्लैण्ड के साथ) रखने का ज़िक्र करते हैं, जिससे तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष व्यापक-से-व्यापक अर्थ में एक डोमीनियन (उपनिवेश) बन जायगा। साझेदारी का मतलब क्या है ? ब्रिटेन और भारतवर्ष के बीच में यह साझेदारी क्या हिन्दुस्तान के बारे में होगी ? यदि ऐसी बात है तो ऐसी साझेदारी को दूर से सलाम। परन्तु यदि यह साझेदारी ब्रिटेन और भारतवर्ष के बीच में न होकर, उन सब राष्ट्रों के बीच में होगी जो आजकल ब्रिटिश कॉमनवैल्थ (राष्ट्रसमूह) कहलाते हैं, किन्तु भविष्य में जिनका नाम प्रथम राष्ट्र-समूह या भारत-ब्रिटिश-राष्ट्रसमूह होना चाहिए, तब तो ऐसे समूह में भारतवर्ष प्रसन्नता से सम्बद्ध हो सकता है, बशर्ते कि उनके अन्तर्गत कोई भी देश परतन्त्रता में न रहे। इसी कारण १४ सितम्बर की हमारी घोषणा में 'साम्राज्य' के दूसरे देशों को आज़ाद करने का ज़िक्र है। हम जानते हैं कि जिस दिन, किसी भी आधार पर सही, भारतवर्ष की स्वाधीनता स्थापित हो जाती है उसके दूसरे दिन से ही साम्राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। भारतवर्ष ने अपने सामने वास्तव में यह महत्तर आदर्श रक्खा है, जिसे हम अहिंसा और सत्य के उच्च सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य, मशीनरी और हिंसा ये तीनों

समानार्थक शब्द हैं ; और यह तो मानी हुई बात है कि भारत ब्रिटेन के राजमुकुट में केवल सबसे तेज़ चमकता हुआ हीरा ही नहीं है, बल्कि कारीगरी या चतुराई के सारे काम का मुख्य भाग भी है। लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार भारतवर्ष "भूमण्डल के सबसे महत्वपूर्ण तीसरे हिस्से के सैनिक केन्द्र में स्थित है।" इसीलिए प्रसिद्ध है कि "इसके हाथ में बड़ा नियन्त्रण है और इसकी स्थिति बड़ी प्रभावशाली है। इसी का परिणाम है कि नज़दीक के और दूर के अपने पड़ोसी राष्ट्रों के भाग्य-निर्णय पर इसका बड़ा राजनैतिक प्रभाव है, और उनकी किस्मत का चक्कर हिन्दुस्तान की धुरी के सहारे बहुत कुछ घूमता रहता है।" लार्ड कर्ज़न ने आगे यह भी कहा है कि "अँग्रेज़ों की विश्व-राजनीति का केन्द्र भारतवर्ष ही है और हिन्दुस्तान का वैदेशिक महकमा इङ्गलैण्ड के वैदेशिक कार्यालय की एशियाई शाखा ही है।"

मार्क्स की भविष्यवाणी

जब भारतवर्ष को औपनिवेशिक पद मिल जायगा, तब वह "ब्रिटिश साम्राज्य का सैनिक सीमाप्रान्त" न रहेगा। बहुत अरसे पहले १८५३ में, जबकि हिन्दुस्तानियों ने अपनी आज़ादी की लड़ाई हिंसा के साधन से नहीं लड़ी थी, जैसा कि १८५७ और १९२० के मध्य में भारत के पठित-वर्ग ने किया था, और न आजकल हम लोगों की भांति ही आत्मिक बल के साधन से लड़ी थी, तब ही कार्ल मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी—

"जबतक कि ग्रेट-ब्रिटेन में आजकल के शासक वर्गों के स्थान पर औद्योगिक मज़दूर नहीं आ जाते, या जबतक अँग्रेज़ों के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंकने लायक़ हिन्दुस्तानी स्वयं नहीं बन जाते, तबतक हिन्दुस्तानवासी अपने अन्दर ब्रिटिश मध्यवर्ग द्वारा बिखरे हुए समाज के नये सिद्धान्तों का लाभ नहीं उठा सकेंगे।"

ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह

आज की स्थिति यह है कि पहली बात तो घटित हुई नहीं, और दूसरी बात लगभग होनेवाली ही है। इसलिए ब्रिटेन के सामने भारतवर्ष को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त करने देने के सिवा दूसरा चारा नहीं है। भारतवर्ष को यह अधिकार ब्रिटेन से समझौता करके ही प्राप्त हो सकता है, और समझौते का अर्थ है औपनिवेशिक दर्जा। भूतकाल में दूसरी जातियों ने भी अपनी आज़ादी हासिल की है, और जिस प्रकार भूतकाल में प्रत्येक शताब्दि की राजनीति में एक-एक प्रधान विचार प्रभाव डालता रहा है, इसी प्रकार इस बीसवीं सदी में प्रत्येक दशाब्दि पर निरन्तर प्रगतिशील स्वतन्त्रता का प्रभाव पड़ रहा है, जिसके साथ अधिक-अधिक व्यापक क्षेत्र के सहयोग की भावना भी उचित रूप से सम्बन्धित होती जा रही है और जातियों के सच्चे भाईचारे

का खयाल बढ़ रहा है। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह तो इस दिशा में स्वल्प प्रयत्न के समान है, और यह हमारे लिए उचित ही है कि हम इस दृष्टि से इस प्रकार के राष्ट्रसमूह में सम्मिलित कुछ देशों की प्रगति का ब्यौरेवार अध्ययन करें, और देखें कि वे साम्राज्य के अधीनस्थ शाखाओं के पद से किस प्रकार पूर्ण स्वाधीनता के पद पर जा पहुंचे, भले ही उनका नाम अब भी उपनिवेश ही रह रहा हो।

आयर्लैंण्ड ने उपनिवेश-पद कैसे प्राप्त किया

अब हम पहले आयरिश-सन्धि (ता० ६-१२-२१) तथा फिर आयरिश फ्री स्टेट एक्ट (ता० ५-१२-२२) से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख विचारों और प्रमुख व्यक्तियों पर ज़रा दृष्टिपात करेंगे, जिससे कि हमें मनोरंजन के साथ-साथ कुछ सीखने को भी मिलेगा। इस सन्धि के द्वारा ब्रिटेन और आयर्लैंण्ड के बीच नीचे लिखी बातें तय हुई—

(१) ब्रिटिश साम्राज्य कहे जानेवाले राष्ट्रसमूह में जो वैधानिक स्थान डोमीनियन ऑव केनेडा, कामनवेल्थ आव आस्ट्रेलिया, डोमीनियन आव न्यूज़ीलैण्ड और यूनियन आव साउथ अफ्रिका को प्राप्त है वही आयर्लैंण्ड को प्राप्त होगा, और उसका नाम आयरिश फ्री स्टेट होगा।

(२) शासन-विधान अधिकांश केनेडा के ढङ्ग का रक्खा गया।

(३) गवर्नर-जेनरल केनेडा के ढङ्ग से नियुक्त होगा।

(४) शपथ उचित प्रकार से निश्चित की गई, जिसमें आयरिश फ्री स्टेट के शासन-विधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा तथा ब्रिटिश-नरेश के प्रति वफ़ादारी पर पहले ज़ोर दिया गया।

(५) आयर्लैंण्ड के सरकारी ऋण तथा युद्ध-सम्बन्धी पेन्शनों की देनदारी के बारे में यदि समझौता न हो सकेगा तो ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक, एक या दो, पंचों द्वारा फ़ैसला करा लिया जायगा।

किन्तु ३ दिसम्बर १९२५ को पुनर्विचार होने पर दूसरा समझौता हुआ। उसकी धारा सं० २ में तय हुआ कि ऊपर की धारा सं० ५ में बताई हुई देनदारी से आयरिश फ्री स्टेट मुक्त कर दी गई।

(६) कुछ समय के लिए ग्रेटब्रिटेन तथा आयर्लैंण्ड की सामुद्रिक रक्षा ग्रेट-ब्रिटेन की इम्पीरियल सेना को करनी होगी। पांच साल बाद इन शर्तों पर पुनर्विचार होगा। और एक बार के पुनर्विचार का ज़िक्र अभी किया ही जा चुका है।

(७) फ्री स्टेट शांति के समय ब्रिटेन को कुछ निश्चित बन्दरगाह और सुविधायें प्रदान करेगी, और युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार को जो आवश्यकता होगी वह प्रदान करेगी।

(८) फ्री स्टेट के शस्त्रास्त्र ब्रिटेन के मुक़ाबिले में उस अनुपात से अधिक न हो सकेंगे जो दोनों देशों की जनसंख्या के बीच में है।

(९) फ्री स्टेट और ब्रिटेन के बन्दरगाह एक दूसरे के जहाज़ों के यातायात के लिए खुले रहेंगे।

(१०) शासक-मंडल के परिवर्तन से जो सरकारी नौकर नौकरियों से हटेंगे उनको उचित मुआविज़ा दिया जायगा।

(११) धार्मिक बन्धन कोई न लगाये जायँगे। धारा सं० ११ से १५ तक तथा १७ और १८ में संक्रमण काल के मामलों का विधान था।

औपनिवेशिक-पद की गारण्टी

आयर्लैंण्ड के औपनिवेशिक-पद की गारंटी इस बात के कारण थी कि जब कभी आयर्लैंण्ड के अधिकार पर कोई आक्रमण होता तो प्रत्येक दूसरे उपनिवेश को अनुभव होने लगता था कि उसकी स्थिति भी ख़तरे में है। सन्धि के बाद आयर्लैंण्ड-वासियों को अपने आन्तरिक मामलों में, बाहरी दस्तन्दाज़ी के बिना, अपना पूर्ण नियन्त्रण था। वे अपने घर, आर्थिक व्यवस्था, शासन व्यवस्था, और घरेलू मामलों में क़ानून बनाने की पूरी सत्ता रखते थे। परिवर्तन के क्रम में कुछ कठिनाइयां न आई हों, ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि लायड जार्ज के कथनानुसार आयर्लैंण्ड तो "ब्रिटेन के सामने की चौकी या आगे का मोर्चा था।" सरकारी ऋण और युद्ध-सम्बन्धी पेन्शनों की कठिनाई थी ही और गहरे धार्मिक विरोध-भाव से पैदा होनेवाली कठिनाई भी थी। तीनों द्वीपों की तट-रक्षा में भी आयर्लैंण्ड को हिस्सा लेने की इजाज़त थी। आयात-निर्यात कर के बारे में भी कठिनाई थी, किन्तु यह स्पष्ट था कि व्यापार में आयर्लैंण्ड के ऊपर ब्रिटेन के निर्भर रहने की अपेक्षा तो ब्रिटेन पर ही आयर्लैंण्ड अधिक निर्भर था। अल्स्टर प्रान्त का पेचीदा सवाल किस तरह हल किया गया, यह सब जानते हैं। अल्स्टर को यह आज़ादी थी कि वह सम्पूर्ण आयर्लैंण्ड की पार्लमेंट में शामिल होजाय, या उस समय उसकी जैसी स्थिति थी, ठीक उसीमें बना रहे, और इस दूसरी स्थिति में सीमाओं का फिर से निर्धारण किया जाय। इस प्रकार यह पुरानी कहावत कि इंग्लैंण्ड की मुसीबत आयर्लैंण्ड का सुअवसर है बदल गई, और नया दृष्टिकोण यह उत्पन्न हो गया कि इंग्लैंण्ड की मुसीबत आयर्लैंड की आपत्ति है।

डेल आयरेन की स्वीकृति

ग्रेट-ब्रिटेन और आयर्लैंण्ड की इस सन्धि को जिसपर लन्दन में ६ सितम्बर १९२१ को दस्तखत हुए, डेल आयरेन ने स्वीकार कर लिया। उस समय हुआ यह

कि तीन महीने पहले डेल ने अपने प्रतिनिधि पूरे अधिकार देकर, लन्दन जाकर ब्रिटिश सरकार से बातचीत करने के लिए भेजे थे। सन्धि तैयार हुई, उसपर हस्ताक्षर हुए और स्वीकृति भी दे दी गई। १३ सितम्बर १६२१ के एक पत्र में लायड जार्ज द्वारा यह भी साफ़ कर दिया गया कि गवर्नर-जनरल आयरिश गवर्नमेंट को स्वीकार-योग्य हो, इस हेतु से सम्राट् से इस सम्बन्ध में सिफ़ारिश करने से पहले फ्री स्टेट गवर्नमेंट से परामर्श कर लिया जाया करेगा। यह भी स्पष्ट होगया कि दोनों पक्ष धारा सं० ५ के अनुसार अपने-अपने दावे पेश करेंगे। धारा सं० ६, ७, ८ और ६ की विशेष बातें केनेडा के शासन-विधान में नहीं हैं। इनसे उसके पद पर कोई असर नहीं पड़ता, किन्तु भौगोलिक स्थिति के कारण इनकी आवश्यकता पड़ी।

सन् १६२२ का क़ानून

अन्त में लायड जार्ज ने यह लिखकर दिया—"शासन-विधान का बनाना आयरिश गवर्नमेंट के हाथ में रहेगा, शर्त सिर्फ़ यह है कि सन्धि-धाराओं का, तथा अल्पसंख्यक-सम्बन्धी आयरिश प्रतिनिधि-मंडल द्वारा दिये हुए वचनों का ध्यान रक्खा जायगा। इसलिए दूसरी धारा सभा की स्थापना और रचना के विषय में निर्णय करना भी आयरिश जनता के हाथ में ही रहेगा। सन्धि की बातों की जब स्वीकृति हो जायगी तब दक्षिणी आयर्लैण्ड से सम्राट् की सेना तथा सहायक-दल वापिस बुला लिये जायंगे।"

इसके ठीक एक साल बाद, ५ दिसम्बर १६२२ को आयरिश फ्री स्टेट के लिए इम्पीरियल पार्लमेंट में क़ानून पास किया गया। इस क़ानून की भूमिका में लिखा है कि आयरिश फ्री स्टेट एग्रीमेंट एक्ट, सन् १६२२ के अनुसार आयरिश फ्री स्टेट के शासन विधान का निर्णय करने के लिए राष्ट्रीय-पचायत के रूप में बैठी हुई पार्लमेंट ने इस क़ानून अर्थात् कान्स्टीट्यूएन्ट एक्ट (अक्तूबर १६२२) को पास किया है। इस क़ानून के परिशिष्ट में वह क़ानून रख दिया गया, जिससे कि कान्स्टीट्यूएन्ट एक्ट ही आयरिश फ्री स्टेट का शासन-विधान घोषित कर दिया गया। यह क़ानून बड़ा सीधा-सादा था। इसमें कहा गया कि परिशिष्ट में जो कान्स्टीट्यूएन्ट एक्ट रक्खा गया है वही आयर्लैंड के लिए शासन-विधान निश्चित किया गया है। उपधाराओं में यह भी कहा गया कि कर लगाने का मौजूदा तरीक़ा अस्थायी समय के लिए जारी रहेगा, और स्वय शासन-प्राप्त उपनिवेशों पर लागू होनेवाले पिछले क़ानून आयर्लैण्ड के लिए तभी लागू होंगे, यदि वह उन्हें मंज़ूर कर लेगा।

आयलैंण्ड का विधान आयरिश लोगों ही द्वारा

इस प्रकार देखा जा सकता है कि यह क़ानून, सर जॉन साइमन के शब्दों में, "आयलैंण्ड के लिए आयलैंण्ड में आयरिश लोगों द्वारा ही" तैयार किया गया। इस प्रकार वह १६६४ के आयरिश बिल और १६१४ तथा १६२० के एक्टों से भिन्न था। वह शासन-विधान जिस देश पर लागू होनेवाला था उसी देश की भूमि पर तय किया गया था। आस्ट्रेलियन-एक्ट (१६००) की भांति आयलैंण्ड का असली क़ानून पार्लमेंट के क़ानून के परिशिष्ट में लगा दिया गया था। केनेडा के विषय में इम्पीरियल-एक्ट बना था, किन्तु उसमें क्वेबेक के उस प्रस्ताव-समूह को क़ानूनी शकल में रख देने से अधिक कुछ नहीं किया गया, जो कि केनेडियन लोगों ने स्वयं ही समझौता करके तय किया था। दक्षिण अफ्रीका के विषय में वहीं का तैयार किया हुआ शासन-विधान 'एक भी वाक्य का परिवर्तन किये बिना' सन् १६०६ में पार्लमेंट में पास किया गया। इस क्रम की विशेषता यह है कि इसमें सिद्धान्त माना गया है कि "आयलैंण्ड में गवर्नमेंट के सारे अधिकार तथा समस्त सत्ता क़ानून बनाने, शासन-सचालन करने और न्याय करने की, आयलैंण्ड की जनता से उद्भूत होती है।" निस्सन्देह हमारे देशवासियों को ज्ञात ही है कि हाल में ही आयलैंण्ड फ्री स्टेट में क्या-क्या घटनायें हुई हैं; राजभक्ति की शपथ हटा दी गई, यूनियन जैक की जगह आयरिश झंडा नियत कर दिया गया, गवर्नर-जनरल की नियुक्ति पहले तो हटा दी गई और बाद में आयरिश सरकार द्वारा ही करने का नियम बनाया गया, १८६६ के एग्रेरियन रिफार्म एक्ट से प्रारम्भ की हुई लैंड एन्यूइटीज़ (भूमि-सम्बन्धी मुआवजे की सालाना किस्तें) बन्द कर दी गई, सिनेट हटा दी गई और दूसरे ढङ्ग से निर्माण की गई। प्रिवी कौंसिल में अपीलों का जाना बन्द किया गया। अन्तिम बात यह हुई है कि वर्तमान महायुद्ध में आयलैंण्ड एक तटस्थ देश बनकर रह रहा है, यद्यपि देशरक्षण-नीति में अवश्य वह इंग्लैण्ड को सहायता कर रहा है।

औपनिवेशिक पद बनाम स्वाधीनता

वेस्ट मिन्स्टर एक्ट

अब हम उपनिवेशों के आन्तरिक प्रभुत्व और साम्राज्यान्तर्गत परस्पर-समानता के विकास पर दृष्टिपात करते हैं, जो १६२३ और १६३१ के बीच में हुआ। १६२३ की और १६२६ की इम्पीरियल कान्फ़रेन्सों में उपनिवेशों की परिभाषा निम्नलिखित तय हुई—

"ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर खुद-मुख्तारी रखनेवाली जमातें, दर्जे में बराबर, अपने अन्दरूनी या बाहरी मामलों में किसी प्रकार भी एक दूसरे के मातहत नहीं, और अपनी मर्ज़ी से ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के मेम्बर बने हुए।"

परन्तु सन् १६२७-३१ के बीच में स्वयं उपनिवेशों के विचारों में ही परिवर्तन हो गया, और वे उन विचारों को प्रकट करने ही नहीं लगे, बल्कि अपनी शासन-पद्धति में उनपर अमल भी करने लगे। १६२६ की इन्टर इम्पीरियल कान्फरेन्स में ब्रिटिश सम्राट् की पदवी, गवर्नर-जनरल की स्थिति, और विशेषतः उपनिवेश-सम्बन्धी क़ानूनों को कार्यान्वित करने के विषय में बहस हुई और इसका परिणाम यह हुआ कि १६२५ का कोलोनियल वेलिडिटी-एक्ट प्रायः रद हो गया, और यह मान लिया गया कि उपनिवेशों की पार्लमेंटों के क़ानूनों को, जो उस समय तक लन्दन भेजे जाया करते थे, रद करने के अपने अधिकार को इस्तैमाल करने की सलाह ब्रिटिश-नरेश को नहीं दी जाया करेगी। आयरिश फ्रीस्टेट के सवाल उठाने से यह भी मान लिया गया कि 'अपने हर प्रकार के मामलों में ब्रिटिश नरेश को सलाह देने का अधिकार हर उपनिवेश की सरकार को ही है।' इसलिए यह वैधानिक पद्धति के अनुकूल न होगा कि किसी भी उपनिवेश के किसी भी मामले में वहाँ की सरकार की राय के विरुद्ध सम्राट् की सरकार सम्राट् को कोई सलाह दे। जहाँ दो उपनिवेशों के किसी सामान्य या परस्पर-विरोधी मामले में कोई कार्रवाई करना ज़रूरी हो, वहाँ उनसे पहले परामर्श कर लेना तय हुआ। यह भी निश्चित किया गया कि क़ानून-निर्माण करने के अधिकार के बारे में वेस्ट-मिन्स्टर की पार्लमेंट को यदि किसी उपनिवेश के विषय में कोई क़ानून बनाना हो तो वैधानिक पद्धति यह होनी चाहिए कि ऐसा क़ानून उपनिवेश की सहमति लेकर ही पास किया जाय। उक्त कान्फरेन्स ने यह भी सिफ़ारिश की कि इन तमाम मामलों में और व्यापारिक जहाज़ों के क़ानून तथा प्रिवी-कौंसिल की अपील आदि के मामलों में जांच-रिपोर्ट और उचित सिफ़ारिशें करने के लिए उचित हिदायतों के साथ एक कमेटी नियुक्त की जाय।

विशेष स्थिति

उपनिवेश-सम्बन्धी क़ानूनों और व्यापारिक जहाज़ों-सम्बन्धी क़ानूनों के अमल की बाबत कान्फरेन्स की रिपोर्ट १६२६ में पेश हुई। उसके द्वारा एक अजीब ही परिस्थिति प्रकट हुई। न्यूज़ीलैण्ड विधान (१८५२) और ब्रिटिश नार्थ अमेरिका एक्ट (१८६७) के द्वारा ब्रिटिश नरेश को अधिकार था कि दो वर्ष के अन्दर वह उपनिवेश के क़ानून को नामंज़ूर करदें, और आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के लिए यह मियाद एक ही वर्ष की थी। आयरिश विधान में नामंज़ूर करने का नियम न था।

किन्तु वास्तव में हस्तक्षेप करने का अवसर केनेडा में सन् १८७३ से और न्यूज़ीलैंड में १८६७ से नहीं आया था, और आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में तो कभी नहीं आया था। इसलिए रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की गई कि "यह वैधानिक-पद्धति के अनुकूल होगा कि यदि सम्बन्धित उपनिवेश प्रार्थना करे तो ही संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) की गवर्नमेण्ट पार्लमेण्ट से आवश्यक क़ानून पास करने को कहे।"

उपनिवेशों के क़ानूनों के एक्स्ट्रा-टेरीटोरियल अमल क बाबत यह तय हुआ कि सबसे अच्छा तरीक़ा यही होगा कि सयुक्त राज्य (ब्रिटेन) की पार्लमेंट सब उपनिवेशों की सहमति लेकर एक ऐसा घोषणात्मक क़ानून बना दे जिसमें बताया जाय कि "उपनिवेश की पार्लमेंट को पूरा अधिकार होगा कि एक्स्ट्रा-टेरीटोरियल असर रखनेवाले क़ानून भी बना सके।"

कोलोनियल क़ानून

कोलोनियल लॉज़ वेलिडिटी एक्ट (१८६९) इस उद्देश्य से बनाया गया था कि जिससे कॉमन लॉ का यह नियम रद हो जाय कि यदि इंग्लैण्ड के क़ानूनों के विरुद्ध किसी कोलोनी का क़ानून होगा तो वह बेअसर होगा। उत्तरदायी शासन के नये विचारों के फैलने के बाद इस प्रकार के बन्धन के रहने से तो उत्तरदायी शासन ही झूठा हो जाता था। इसलिए कोलोनीज़ की धारा-सभाओं को अधिकार दिया गया था कि वे इंग्लिश कॉमन लॉ के विरुद्ध भी क़ानून बना सकती थीं, किन्तु ब्रिटिश पार्लमेंट के क़ानूनों के ख़िलाफ़ नहीं। कोलोनियल लॉज़ वेलिडिटी एक्ट द्वारा कोलोनीज़ को अपनी-अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार क़ानून बना लेने की फिर भी मुमानियत थी। किन्तु कोलोनीज़ के क़ानून का एक-सा होना, जो कि ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रधानता के कारण हुआ था, वैधानिक रूप से डोमीनियन्स के लिए उपयुक्त नहीं था, और इसीलिए १९२६ की रिपोर्ट में दिये हुए सिद्धान्त को अमल में लाना पड़ा। इसलिए यह सिफ़ारिश की गई कि, जहाँतक किसी उपनिवेश की पार्लमेंट के पास किये हुए क़ानूनों का सम्बन्ध है वहाँतक उनपर कोलोनियल लॉज़ वेलिडिटी एक्ट रद समझा जायगा। एक और सिफ़ारिश इस प्रकार की भी की गई थी—

"ब्रिटिश राष्ट्रसमूह में सम्मिलित राष्ट्रों की स्थापित वैधानिक स्थिति के अनुकूल यह बात होगी कि संयुक्त-राज्य की पार्लमेंट का भविष्य में बनाया हुआ कोई भी क़ानून किसी भी उपनिवेश पर तबतक लागू न होगा जबतक कि वह उपनिवेश स्वयं माँग न करे और स्वीकृति न दे दे।"

"यह भी सिफ़ारिश की गई कि संयुक्त-राष्ट्र की पार्लमेंट में जो एक क़ानून बननेवाला है उसमें यह वैधानिक पद्धति वस्तुस्थिति के वर्णन या भूमिका के रूप में रख दी जाय।"

वेस्ट मिन्स्टर स्टेट्यूट

दिसम्बर १६३१ के वेस्ट मिन्स्टर-एक्ट की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। संघाय स्वरूप के विधान रखनेवाले उपनिवेशों की पार्लमेंटों को क़ानून बनाने के पूरे अधिकार मिल जाने के परिणाम के एक दूसरे प्रश्न पर भी अकेले केनेडा को ही केन्द्रीय पार्लमेंट के क़ानून के बिना अपने विधान में संशोधन करने का कोई अधिकार नहीं है। आस्ट्रेलिया में पार्लमेंट तथा निर्वाचक-वर्ग के सयुक्त कार्य द्वारा शासन-विधान परिवर्तित हो सकता है। किन्तु आस्ट्रेलिया में उसके शासन-विधानवाले हिस्से से पहले ८ धारायें और हैं, जिनमें परिवर्तन केवल संयुक्त राज्य की पार्लमेंट कर सकती है। न्यूज़ीलैण्ड का शासन-विधान, काफ़ी अश में वहाँ की पार्लमेंट द्वारा सशोधित हो सकता है, किन्तु सशोधन के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। फलतः कमेटी ने यह सिफ़ारिश की—

"इस क़ानून के किसी अंश से भी डोमीनियन आव केनेडा, कॉमनवेल्थ ऑव आस्ट्रेलिया और डोमीनियन ऑव न्यूज़ीलैण्ड के शासन विधानों को रद या परिवर्तित करने का कोई अधिकार न माना जायगा, सिवा उस क़ानून और वैधानिक रिवाज की सहायता के द्वारा जो कि अभीतक जारी रहा है।

"इस क़ानून के किसी अंश से भी डोमीनियन ऑव केनेडा और कॉमनवेल्थ ऑव आस्ट्रेलिया की पार्लमेंटों को कोई अधिकार न होगा कि वे केनेडा के प्रान्तों और आस्ट्रेलिया के राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में आनेवाले किसी ऐसे मामलों में क़ानून बनायें जो क्रमशः डोमीनियन ऑव केनेडा या कॉमनवेल्थ ऑव आस्ट्रेलिया की पार्लमेंट या गवर्नमेंट की सत्ता से बाहर हैं।"

आयर्लैण्ड और दक्षिण अफ्रीका के शासन-विधान भिन्नता रखते हैं, क्योंकि वे एक-घटकात्मक सिद्धांत पर बने हैं और उन्हें क़ानूनी परिवर्तन का पूरा अख्तियार है। १६३० की इम्पीरियल कान्फ़रेन्स ने इस कमेटी की सिफ़ारिशों का समर्थन किया। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के छः बराबरी के साझेदार निश्चित किये गये—ये राष्ट्र काफ़ी अश में ऐतिहासिक और भौगोलिक भिन्नता रखते हैं, अन्दरूनी परिस्थितियों और आर्थिक दृष्टिकोण में भेद रखते हैं और भाषा और जातीयता का भी अन्तर रखते हैं। जनरल हर्टज़ोग ने अपनी ही भाषा में भाषण दिया और साम्राज्य के स्थान पर हर जगह 'राष्ट्र-समूह' शब्द का प्रयोग किया। उनके कथनानुसार १६२६ की कान्फ़रेन्स अन्तर्-राष्ट्र-समूह कान्फ़रेन्स थी, जिसमें राष्ट्र-समूह की अन्तर्गत समस्याओं और सम्बन्धों पर विचार हुआ था। उक्त कान्फ़रेन्स ने १६२६ की कमेटी के किये हुए संशोधन करने की सिफ़ारिश की जो निम्नलिखित थी—

"इस क़ानून के जारी कर देने के बाद संयुक्त राज्य की पार्लमेंट का बनाया

हुआ कोई क़ानून किसी भी उपनिवेश पर उस उपनिवेश में जारी रहनेवाले क़ानून के भाग के रूप में लागू नहीं किया जायगा, जबतक कि उस क़ानून में यह स्पष्ट लिख न दिया जाय कि उस उपनिवेश ने स्वयं ऐसी प्रार्थना की है और सहमति देदी है।"

रेखांकित शब्द बढ़ाये गये हैं। यह सिफ़ारिश इसलिए मान ली गई कि यदि वाक्य अपने प्रारम्भिक स्वरूप में ही रहता है तो परिणाम होता कि उसके बाद संयुक्त राज्य की पार्लमेंट के पास किये हुए क़ानून का वह अमल न होता जो सामान्यतः एक राज्य के क़ानून का दूसरे राज्य के प्रदेश में होता है। इस तरह वेस्ट मिन्स्टर क़ानून के बनाये जाने का मार्ग साफ़ होगया।

उपनिवेश

वेस्ट मिन्स्टर स्टेच्यूट ने केवल इतना किया कि सन् १९२६ और १९३० की इम्पीरियल कान्फरेन्सों में पास किये हुए कुछ प्रस्तावों को कार्यान्वित कर दिया। उस कानून की भूमिका में ही पहली बात तो यह लिख दी गई कि आगे यदि राज-सिंहासन के उत्तराधिकार, या ब्रिटिश नरेश की पदवी और अधिकार से सम्बन्ध रखने वाले कानून में कोई संशोधन होगा तो उसके लिए संयुक्त राज्य की पार्लमेण्ट के अलावा सारे उपनिवेशों की पार्लमेण्टों की स्वीकृति भी आवश्यक होगी और दूसरी बात यह भी लिखी गई कि सयुक्त राज्य की पार्लमेण्ट का बनाया हुआ कोई भी कानून किसी भी उपनिवेश पर उसके कानून के भाग के रूप में लागू न हो सकेगा जबतक कि उसकी प्रार्थना और स्वीकृति न हो। इसके अनुसार "केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, आयर्लैण्ड, ने पृथक-पृथक इस बात की प्रार्थना की और स्वीकृति दी कि सयुक्त-राज्य की पार्लमेण्ट में उपर्युक्त मामलों के सम्बन्ध में एक ऐसा क़ानून बनाकर पेश किया जाय जैसा कि आगे इस एक्ट में है।"

(१) उस कानून में उपनिवेशों की पूर्ण परिभाषा उसी प्रकार की गई जिस प्रकार कि पहले बताई गई है।

(२) कोलोनियल लॉज़ वेलिडिटी एक्ट, १८६५, आगे उपनिवेशों के बनाये हुए किसी कानून पर लागू न होगा।

जो क़ानून ब्रिटिश कानून के विरुद्ध होंगे उनके बारे में, तथा एक्स्ट्रा-टेरीटॉरियल असर रखने वाले हैं तो उनके बारे में भी धारायें उसमें सम्मिलित की गई और यह बात भी रक्खी गई कि सयुक्त-राज्य का कोई भी कानून उपनिवेशों पर उनके कानून के भाग के रूप में तभी लागू होगा जबकि वे इस बाबत प्रार्थना करेंगे, इसी प्रकार, १८९४ के व्यापारिक जहाजों के कानून की और कोलोनियल कोर्ट्स ऑव एडमिरेल्टी एक्ट की पुनर्रचना करनी पड़ी, तथा और भी कई बातें शामिल करनी पड़ीं, जिससे कि उपनिवेशों के नये पद की स्पष्टता हो जाय।

स्वाधीनता

किसी भी देश की स्वाधीनता उसके टैक्स लगाने, आयात-निर्यात कर लगाने, और वैदेशिक मामलों में अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकने के अधिकार से जांची जाती है। इस तरीके से उपनिवेश आजकल पूर्ण स्वाधीनता का उपभोग कर रहे हैं। केनेडा को तो हमेशा इंग्लैण्ड की अपेक्षा यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका के समान अधिक समझा जाता है। हम लोगों को मालूम ही है, कि दक्षिण अफ्रीका केवल एक वोट के अन्तर से वर्तमान महायुद्ध में अ-योद्धा देश बनने से बच गया है। उस एक वोट के कारण ही जनरल हर्टज़ोग के स्थान पर बदल कर जनरल स्मट्स की सरकार बन गई। आयर्लैण्ड एक तटस्थ देश है ही। आस्ट्रेलिया को अपने खुले हुए अरक्षित तटों की रक्षा के लिए युद्ध में शामिल होना ही अधिक लाभदायक है, और किसी कष्टकर कर्तव्य के करने से हानि कम है। उपनिवेशों को अपनी इच्छानुसार टैक्स तथा आयात-निर्यात कर लगाने का अधिकार बहुत पहले से ही दिया जा चुका है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड के साथ एक राष्ट्र-समूह में सम्मिलित हो जाने से उपनिवेशों की स्वाधीनता में किसी प्रकार की भी कमी नहीं आई है। यह विकास सन १९३१ में और उसके बाद हुआ है। राजनैतिक विचारों का विकास बहुत अज्ञात रूप से होता रहता है, और १९२९ में पूर्ण स्वाधीनता के हमारे प्रस्ताव के पास होने के बाद, उपनिवेश शब्द के अर्थ में जो भेद कर दिया गया है उस पर हमें ध्यान देना चाहिए, जिसका परिणाम है कि आजकल पूर्ण-स्वाधीन घोषित किये हुए देशों में और उन देशों में जिन्हें वेस्ट मिन्स्टर एक्ट के अर्थ में औपनिवेशिक पद मिला है, कोई अन्तर नहीं रह गया है।

: ६ :

विधान-निर्णय सभा

[श्री एम० एन० राय]

दस साल पहले इंडियन नेशनल कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा की थी—यह कोई नया विचार था, यह बात न थी। कोई देश स्वाधीन हो सकता है, या पराधीन। इसलिए वास्तविक स्वाधीनता का अर्थ ही पूर्ण स्वाधीनता होता है।

सन् १९२९ ई० तक कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना ध्येय नहीं बनाया था। उस समय तक कांग्रेस का ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त करना ही था। उन दिनों के मॉडरेटों और उग्रपन्थियों में जो कुछ भेद था वह

केवल इसी विषय पर था कि स्वायत्त-शासन तो हो, लेकिन किस हद तक और कैसे। लेकिन ऐसे भी कुछ लोग थे, जो अधिक साहसपूर्ण भविष्य की कल्पना करते थे। उनकी धारणा थी कि गुलाम जाति का केवल एक ही उद्देश्य हो सकता है और वह उद्देश्य है, पूर्ण राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करना। गत महायुद्ध के बाद तक इन्हीं लोगों को विदेशी शासकों का वास्तविक शत्रु समझा जाता था। ये लोग कांग्रेस से बाहर ही रहते आये थे, क्योंकि आंदोलन या सङ्गठन के नाते उस समय तक कांग्रेस का कोई विशेष महत्व न था।

लेकिन महायुद्ध के समाप्त होते-होते, भारत की स्थिति में गम्भीर परिवर्तन हो गया। देश में ज़बरदस्त जागृति हो गई, और इस जागृति को एक खुले सङ्गठन द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता था। कांग्रेस इस जागृति का केन्द्र बन गई और वस्तुगत-दृष्टि से, राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्ति का साधन बन गई। इसलिए अबतक जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस के बाहर रह कर काम करते आये थे, वे भी काँग्रेस में शामिल हो गये। लेकिन यद्यपि काँग्रेस सार्वजनिक उथल-पुथल को व्यक्त करने का साधन बन गई थी, फिर भी परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद वह न कर सकी, और इसके नेताओं को ऐसे भविष्य की कल्पना करने का साहस न हुआ, जिसमें भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य की परिधि के बाहर भी रह सकता है। इसलिए, राजनैतिक दृष्टि से 'स्वराज' की मांग का ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन के उपभोग करने के अधिकार के सिवाय और कुछ अर्थ न था—यद्यपि इस लक्ष्य को नाना प्रकार के विचित्र छायावादी सिद्धान्तों के आवरण से ढक दिया गया।

सन् १९२० ई० में कुछ कांग्रेसमैनों ने, भारतीय जनसाधारण की निहित आकाँक्षा को व्यक्त करने के लिये यह यत्न किया कि कांग्रेस यह घोषणा करदे कि उसका उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है। कांग्रेस के नेताओं ने, स्वयं गांधी जी ने भी, इस माँग का कड़ा विरोध किया। उसके बाद हर साल ऐसी माँग की जाती थी और उसे नामंजूर कर दिया जाता था। आखिर सन् १९२९ ई० में लाहौर काँग्रेस ने यह घोषणा कर ही दी कि कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है।

ध्येय और साधन

प्रायः सर्वत्र इस प्रस्ताव का स्वागत किया गया—कांग्रेस ने एक बड़ा क़दम उठाया है, यह जानकर हर्ष हुआ। उस समय किसी ने यह न देखा कि उसी प्रस्ताव में ऐसे साधनों को निर्धारित कर दिया गया था जिनसे ध्येय पहुँच के बाहर चला गया। मैंने उस समय भी कांग्रेस के इस प्रस्ताव का विरोधाभास जताने का यत्न किया था। दस साल के बाद वैसी ही बात फिर हुआ चाहती है।

आखिरकार, कांग्रेस नेताओं ने विधान-निर्णय सभा की मांग को अपना लिया है। लेकिन पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव की तरह विधान-निर्णय सभा की माँग के नए समर्थकों ने इस मांग का रूप ही बदल दिया है। पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव की तरह विधान-निर्णय सभा की माँग भी नई नहीं है। पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव पास करने से पहिले भी कांग्रेस से विधान-निर्णय सभा की मांग को अपनाने का आग्रह किया गया था। मैंने, उदाहरण के लिए, तजवीज की थी कि साइमन कमीशन के विरुद्ध, विधान-निर्णय सभा की मांग को सामने रखकर ही आंदोलन खड़ा किया जाय। साइमन-कमीशन-विरोधी-आन्दोलन के संचालकों का कुछ भी तात्पर्य क्यों न रहा हो, उस आन्दोलन में ब्रिटिश पार्लमेंट में भारत का भाग्य निर्णय करने के दावे को चुनौती छिपी थी। इसलिए इस आंदोलन को प्रभावशाली बनाने के लिए किसी ठोस रचनात्मक माँग को सामने रक्खा जाना चाहिए था। अगर भारतवर्ष ब्रिटिश पार्लमेंट के इस अधिकार को स्वीकार नहीं करता, कि उसके राजनैतिक भविष्य को वह तय करे, तो उसके विकल्प-स्वरूप कोई दूसरी ऐसी ताक़त बतानी चाहिए जो भारत का भावी विधान निर्णय करने का वास्तव में अधिकार रखती हो। उस ताक़त को पैदा करना ही हमारे आंदोलन का ध्येय होना चाहिए। वास्तव में, विधान-निर्णय सभा की मांग पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय का व्यावहारिक रूप ही है। ध्येय की घोषणा करने के बाद आन्दोलन का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसको सिद्ध करने के लिए उपयुक्त साधन तैयार करे।

उग्रवादियों की भूल

आज जबकि कांग्रेस के दोनों—दक्षिण और वाम—पक्ष विधान-निर्णय सभा की माँग को अपना चुके हैं, इस माँग के वास्तविक महत्व को फिर भी नहीं समझा जा रहा है। उदाहरण के लिए फ़ारवर्ड ब्लाक की कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास करके घोषणा की है कि "विधान-निर्णय सभा तभी बुलाई जा सकती है, और तभी बुलाई जानी चाहिए, जब साम्राज्यवाद मिटाया जा चुका होगा और ताकत जनता के हाथ में आ चुकी होगी।" फ़ैजपुर कांग्रेस[1] के बाद की घटनाओं से इन उग्रवादियों ने शायद न तो कुछ सीखा ही है, और न कुछ भुलाया है। प्रश्न तो यह है कि साम्राज्यवाद किस तरह मिटाया जायगा और जनता के हाथ में ताक़त आयेगी कैसे? इस मूल प्रश्न का उत्तर वे या तो जानते नहीं, या जानते हैं तो उसको बताने का साहस नहीं होता। जो कांग्रेस की वर्तमान नीति के आलोचक हैं, उनको भी जब

[1] फ़ैजपुर कांग्रेस में विधान-निर्णय सभा के हक़ में प्रस्ताव पास किया गया। —अनुवादक।

यह अवस्था है तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाय ! कांग्रेस के वर्तमान नेताओं का इस विषय में जो दृष्टिकोण है, उसमें और आजकल के तथाकथित उग्रवादियों के दृष्टिकोण में, जहांतक इस विषय का सम्बन्ध है, बड़ा अन्तर नहीं दिखाई देता। प्रस्ताव भला है, या बुरा, यह जानने के लिए हम को उसके उस हिस्से पर ग़ौर करना होता है, जिसमें प्रस्तावित उद्देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक कार्रवाई का उल्लेख होता है। फ़ारवर्ड ब्लाक की कार्यसमिति को भी, वर्तमान लीडरों जैसी ही आशा दिखाई देती है, कि किसी तरह किसी शुभ मुहूर्त से साम्राज्यवाद मिट जायगा और ताकत जनता के हाथ में आ जायगी। कैसे ? इस प्रश्न का जवाब क्या है ? वर्तमान नेताओं को तो आशा है कि हमारे त्याग और बलिदान से साम्राज्यवाद का हृदय-परिवर्तन हो जायगा और वह अपने आपको मिटा लेगा ! उग्रवादियों को शायद यह भ्रम है कि यदि हम ज़ोर-ज़ोर से बात करते रहें तो किसी दिन किसी तरह साम्राज्यवाद मिट जायेगा, ताकत जनता के हाथ से चली जायेगी ! जब जनता के हाथ में ताकत आ जायेगी तभी विधान-निर्णय सभा निर्वाचित की जा सकती है, यदि यह मान लिया जाय, तो इस मांग का पारिभाषिक महत्व-भर रह जाता है। आज की वस्तु-स्थिति से तब इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

कांग्रेस के दक्षिण पक्ष के नेता मूर्खों के कल्पना जगत में नहीं रहते। उन्होंने विधान निर्णय की मांग को ऐसा रूप दे दिया है कि वह उनकी अपनी ही एक निराली चीज़ बन गई है। उनकी विधान-निर्णय सभा में और वास्तविक, ऐतिहासिक विधान-निर्णय सभा में केवल यही अन्तर है कि यह विधान-निर्णय सभा नहीं रह गई है। लेकिन मुझसे कहा जा सकता है कि "साहब, नाम में क्या धरा है ?" यदि केवल प्रत्युत्पन्न बुद्धि का परिचय देना ही किसी को मंजूर हो तो इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि "तब क्यों एक नाम को आप दूसरे नाम पर तरजीह देते हैं ?" ऐतिहासिक दृष्टि से विधान-निर्णय सभा की मांग का एक विशिष्ट राजनैतिक महत्व है। शाब्दिक अर्थ भी उस महत्व की ओर ही संकेत करता है।

विधान-निर्णय सभा किसे कहते हैं ?

नई राज्य व्यवस्था की स्थापना करने के लिए जब कोई सभा होती है तो उसको विधान-निर्णय सभा कहते हैं। नई राज्य-व्यवस्था के विधान का श्रीगणेश ही कुछ मूल सिद्धान्तों की व्यवस्था से होता है, अर्थात् विधान के आरम्भ ही में यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि अमुक सिद्धान्त हैं, जिनको आधार-शिला मानकर नई व्यवस्था का भवन खड़ा किया जा रहा है। जिस खरीते में इन सिद्धांतों का उल्लेख होता है, उसको विधान कहते हैं। इन सुविख्यात् सिद्धान्तों को ध्यान में रक्खें तो

यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय में और विधान-निर्णय सभा की माँग के प्रति इतना उत्साह ऐसे समय में हम देख रहे हैं, जब पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय को चुपके से ताक में उठाकर रक्खे जाने की कोशिश हो रही है। पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय का स्थान "स्वाधीनता का सार" या "वेस्ट मिन्स्टर क़ानून के अन्तर्गत जन-पद-शासन" ने ले लिया है !

वास्तव में विधान निर्णय सभा का क्या अर्थ है, इस विषय पर एक ऐसे कोने से हमको कुछ सुनने को मिला है, जहाँसे ऐसी बात सुनने की आशा नहीं की जानी चाहिये। "श्री राजगोपालाचार्य ने विधान-निर्णय सभा को बुलाने में राज्य को इतना महत्व दिया है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। अगर किसी राज्य व्यवस्था के तत्वावधान में चुनाव किया जाय तो विधान-निर्णय सभा का निर्णय साधारण मत संचय ही रह जाता है और इस तरह विधान-निर्णय सभा में और जनता के साधारण प्रतिनिधियों के सम्मेलन का वह मुख्य अन्तर मिट जाता है, जो विधान-निर्णय सभा को विधान-निर्णय सभा बनाता है।"

मुख्य अन्तर

अन्य साधारण जन-प्रतिनिधियों के सम्मेलन और विधान निर्णय सभा में मुख्य अन्तर यही है कि विधान निर्णय सभा एक नई राज्य व्यवस्था की क़ानूनी नींव रखने ही को की जाती है। ऐसी व्यवस्था की स्थापना तभी हो सकती है, जब वर्तमान प्रस्थापित राज्य व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाय। इसलिए विधान-निर्णय सभा की स्थापना हो सकती है, स्थापित राज्य व्यवस्था की अनुमति से नहीं, वर्तमान व्यवस्था द्वारा कराये गये चुनाव के परिणाम स्वरूप नहीं, बल्कि वर्तमान राज्य व्यवस्था के विरुद्ध होनेवाली सार्वजनिक उथल-पुथल के परिणाम स्वरूप। विधान निर्णय सभा की माँग उस उथल-पुथल के श्रीगणेश का नारा होता है। हम उस रास्ते पर चलना चाहते हैं, या नहीं, यह सवाल मैं यहाँ उठाना नहीं चाहता। लेकिन एक ऐतिहासिक सत्य को स्वरूप बनाकर बदनाम नहीं करना चाहिए। कम-से कम इसके वास्तविक सैद्धान्तिक अर्थ तो समझ ही लेने चाहियें।

क्या कांग्रेस के नेता अनभिज्ञ हैं ?

कांग्रेस के वर्तमान नेता विधान निर्णय सभा की माँग के वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ हैं यह बात नहीं है। कम-से-कम गाँधीजी तो इसके वास्तविक अर्थ को अच्छी तरह समझते हैं, ऐसा मुझे लगता है। उन्होंने उसको जान-बूझकर अपनाने से अस्वीकार कर दिया है, यह बात दूसरी है। अपने एक लेख में गाँधीजी ने लिखा

है, "विधान-निर्णय सभा तक पहुँचने के लिए प्रत्यक्ष अवरोध की कल्पना तक करने से पहले, अन्य उपायों को पूरी तरह आज़माना चाहिए। ऐसी भी अवस्था आ सकती है, जब प्रत्यक्ष अवरोध विधान-निर्णय सभा का आवश्यक पूर्व-परिच्छेद ही बन जाय।" लेकिन गांधीजी उस अवस्था तक कांग्रेस को न जाने देंगे, क्योंकि वह कह चुके हैं कि "सब सम्प्रदायों और अँग्रेज़ों का यह कर्तव्य है कि वे इस दुर्दिन को न आने दें।" स्वाभाविक ही है कि कांग्रेस की वर्तमान नीति का क्या मार्ग है, यह पूर्व-निर्धारित है। विधान-निर्णय-सभा की माँग और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद से समझौता—हाँ, सम्मानपूर्ण समझौता भी—साथ-साथ नहीं हो सकते—विधान-निर्णय सभा की ऐतिहासिक धारणा को भ्रष्ट कर दिया जाय तो बात दूसरी है। अगर कांग्रेस का पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्येय इतना स्पष्ट होता कि उसमें मनचाहा हेर-फेर किये जाने की सम्भावना न होती तो, सैद्धान्तिक दृष्टि से विधान-निर्णय-सभा की माँग के अर्थ इतने स्पष्ट हैं कि उनका भ्रष्ट किया जाना सम्भव नहीं था! लेकिन जब पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय ही को बदला जा रहा है, तब कुछ भी सम्भव है।

इसलिए विधान-निर्णय सभा की माँग का इस प्रकार पुष्ट किया जाना, मुझे शुभ चिन्ह नहीं दिखाई देता। इसको प्रकटतः अपनाकर, कांग्रेस का नेतृत्व जिनके हाथ में है, उन्होंने ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त करना ही अपना अपमानजनक ध्येय बना लिया है। शब्द-जाल इस कटु-सत्य को कबतक छिपाये रहेगा?

: ७ :

विधान-सम्मेलन

[श्री सम्पूर्णानन्द]

यदि भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र की भांति रहना है तो यह भी निश्चित है कि उसे अपनी शासन-योजना स्वयं बनानी चाहिए। जो योजना किसी दूसरे के हाथ से बनेगी उससे न तो भारत के हितों की पूर्णतया रक्षा हो सकेगी और न वह भारत की विशेष परिस्थितियों को उत्पन्न समस्याओं को पूर्णतया सुलझाने में समर्थ हो सकती है। अतः यह आवश्यक है कि कोई शुद्ध भारतीय पंचायत बैठकर ऐसी योजना तैयार करे। इस दृष्टि से विधान-सम्मेलन Constituent assembly. के लिए आवाज़ उठाना सर्वथा उचित है। इस सिद्धान्त को लोकप्रिय करने के लिए ही १९३४ से कांग्रेस समाजवादी दल ने इस ओर देश का ध्यान बराबर आकर्षित किया है।

पर आज मांग यह है कि ब्रिटिश सरकार के रहते ही ऐसी पंचायत बैठ जाय यह इतिहास में नई बात होगी, अन्यत्र तो पुरानी सरकार को निकाल कर ही ऐसे

सम्मेलन बैठे हैं। कनाडा आदि उपनिवेशों का उदाहरण समीचीन नहीं है। उनके यहाँ विदेशी शासन से छुटकारा पाने का प्रश्न नहीं था, न कोई क्रान्ति हो रही थी। ब्रिटिश सरकार इस माँग को स्वीकार करने में घबराती है, यह तो स्वाभाविक है। आज तो वह भारत के एक दल और एक सम्प्रदाय को दूसरे से भिड़ा देती है, कभी एक की पीठ ठोकती है, कभी दूसरे का समर्थन करती है और यह कहकर अपना काम निकालती है कि हम क्या करें सब लोग आपस में ही झगड़ रहे हैं। पर यदि कहीं विधान-सम्मेलन में एकमत हो ही गया और सब लोग एक स्वर से बोल ही उठे तो उसके लिए कठिनाई हो जायगी। जो बहाना वह पेश किया करती है वह जड़ से ही कट जायगा।

परन्तु यह एक आदर्श अवस्था है। कहा यह जाता है कि हम इस बात के लिए तैयार हैं कि चुनाव तो बालिग़ मताधिकार से हो पर जो मुख्य-मुख्य अल्प-समुदाय हैं (जैसे मुसलमान या सिख) वह अपने प्रतिनिधियों को पृथक् चुनकर भेजें। फिर यह भी बचन दिया जारहा है कि कोई निर्णय बहुमत से न हो, कम से कम जिस निर्णय में किसी सम्प्रदाय विशेष के हितों का प्रश्न हो वह बहुमत से न हो। तब तो फिर प्रायः सभी साम्प्रदायिक समस्यायें बेसुलझी रह जायेंगी, और गोलमेज सम्मेलन जैसी दशा होगी। मत-भेद की दशा में क्या होगा? कांग्रेसी नेता कहते हैं कि अंग्रेज़ सरकार अलग रहे, कोई तटस्थ संस्था, जैसे राष्ट्र-सघ या देश की अन्तर-राष्ट्रीय अदालत फैसला दे। यदि मुसलमान इस प्रस्ताव को मान भी लें तो भी यह बड़ी लम्बी प्रक्रिया हो गई और तबतक अंग्रेज़ यहाँ आनन्द से राज करेंगे। इतना ही नहीं उन्हें अपने कौटिल्य से मतभेद की आग को हवा देने का अवसर मिलता रहेगा। यदि कहीं इन अल्प-संख्यकों को खुश करने के लिए और साथ ही समय बचाने के लिए उनकी कोई ग़लत मांग, जैसे पृथक् निर्वाचन, मान ली गई तो वर्षों के लिए देश के सिर पर एक ऐसी बात लद जायगी जो फूट और अनैक्य का विष उगलती रहेगी।

मैं ब्योरे की बातों में नहीं जाता। सम्मेलन में कितने व्यक्ति बैठें कि काम सुगमता से हो, इस प्रश्न पर बहुत विवाद हो रहा है, पर इसका निपटारा हो सकता है। बालिग़ मताधिकार की न्याय्यता में किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। यदि सचमुच मेल से काम करने और देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की प्रवृत्ति व्यापक हो तो विधान-सम्मेलन से बढ़कर सुन्दर साधन नहीं हो सकता। पर इस प्रस्ताव में जो खतरे हैं, उनको भी समझ रखना चाहिए। बिना शासन की लगाम अपने हाथ में आये, बिना विदेशी शासकों को हटाये, बिना इस बात का निश्चय किये कि अन्ततोगत्वा बहुमत से काम होगा, ऐसे सम्मेलन को बुलाना हानिकर हो सकता है।

: ८ :

राष्ट्रीय-पंचायत: स्वतन्त्रता का प्रतीक

[युक्त प्राँतीय कांग्रेस कमेटी ने 'राष्ट्रीय पंचायत' पर निम्नलिखित बुलेटिन जारी किया है। इसमें राष्ट्रीय पंचायत के विचार के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डाला गया है और उसके फलितार्थों को समझाते हुए बताया गया है कि 'राष्ट्रीय-पंचायत' का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है और उसे कार्यशील कैसे बनाया जा सकता है।—सं०]

तात्कालिक सत्य

आज पांच वर्ष बीत गए हैं, जब कांग्रेस ने नियमपूर्वक 'राष्ट्रीय-पंचायत' की योजना को स्वीकार किया था। तब से अबतक राष्ट्रीय-पंचायत की माँग भारत के राजनैतिक क्षेत्र में धीरे-धीरे बराबर आगे ही बढ़ती रही है। सारे भारत की आकांक्षायें तभी से राष्ट्रीय-पंचायत पर केन्द्रीभूत हो गईं। यूरोप में युद्ध छिड़ जाने और उसके कारण संस्थाओं तथा मनुष्यों के विचारों में जो भारी गड़बड़ी पैदा हो गई है, उसने राष्ट्रीय-पंचायत को हमारी राजनीति को एक मुख्य समस्या बना दिया है। चाहे जैसे हो, राष्ट्रीय-पंचायत की मांग हमारे लिए इस समय एक तात्कालिक सत्य बन गई है। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय-पंचायत को उत्साह के साथ स्वीकार कर लिया है और उसके हल का प्रतिपादन भी किया है।

देश की विभिन्न प्रान्तीय धारा-सभाओं में, सन् १९३७ में, वैधानिक-समस्या पर वाद-विवाद हुआ था। इस अवसर पर मद्रास के प्रधानमन्त्री ने ब्रिटिश सरकार द्वारा बलपूर्वक लादे गये विधान की एक पिंजड़े से तुलना की थी। सन् १९३५ का गवर्नमेंट ऑव इण्डिया एक्ट भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति को एक ज़हरीली सांकल में जकड़े हुए है। देश की जिन-जिन प्रान्तीय धारा-सभाओं में ब्रिटेन द्वारा बनाया गया यह शासन-विधान जांच के लिए आया, वहां लगभग सर्वसम्मति से सबका यही निश्चय था कि वर्तमान विधान में भारत की सामाजिक एवं राजनैतिक उन्नति बिलकुल ही असम्भव है।

सामाजिक अन्याय

ब्रिटिश सरकार के इस शासन के ढांचे का आधार किसी भी सामाजिक या राजनैतिक न्याय एवं सिद्धान्त पर नहीं है। उसमें विकास के लिए कोई गुंजायश नहीं रखी गई। उसमें ब्रिटिश पार्लमेंट की सत्ता को ही सर्वोच्च बताया है। इस विधान

में शासन का ढांचा, राष्ट्रीय-आर्थिक-व्यवस्था तथा नागरिकता के दूसरे अधिकारों के लिए नियम इस प्रकार बनाये गये हैं कि जिससे भारत ब्रिटेन के व्यापार तथा आर्थिक हितों का गुलाम बना रहे।

ब्रिटेन द्वारा तैयार किये गये ढांचे के मुक़ाबिले, या यों कहिये कि जवाब में कांग्रेस ने राष्ट्रीय-पंचायत की योजना तैयार की है। इस राष्ट्रीय-पञ्चायत की आधार-भूत बातें क्या हैं? विभिन्न प्रान्तीय धारा-सभाओं में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसमें यह बता दिया गया है कि "राष्ट्रीय पञ्चायत स्वतन्त्र भारत के लिए शासन-विधान तैयार करेगी और उस पंचायत का चुनाव बालिग़ मताधिकार के आधार पर होगा।" यह तो स्पष्ट ही है कि राष्ट्रीय-पञ्चायत इस बात को पहले ही मान लेगी कि ब्रिटिश पार्लमेंट के हाथ से भारतवासियों के हाथ में शासन की पूरी बागडोर चली जायगी। इसी राष्ट्रीय-पञ्चायत द्वारा भारतवासी अपनी सर्वोच्च इच्छा को प्रकट करेंगे। यह राष्ट्रीय-पञ्चायत शासन का एक ऐसा ढाँचा तैयार करेगी जिसके द्वारा भारत को यह अधिकार होगा कि वह समय-समय पर उठनेवाली राजनैतिक तथा समाजिक समस्याओं पर बराबर अपना मत दे सके। इस प्रकार यहाँ ब्रिटिश सरकार से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। यह एक गोलमेज़-कान्फ़रेंस न होगी जिसमें हिन्दुस्तान तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि भारत के लिए विधान के बनाने के लिए बैठेंगे। उसमें ब्रिटेन के लिए हुकूमत करनेवाली सत्ता की हैसियत से कोई स्थान न होगा। उसमें तो केवल हिन्दुस्तानी ही अपने राष्ट्र के भाग्य का निर्णय करेंगे।

मुख्य विचार

राष्ट्रीय-पंचायत के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मुख्यतः हैं। एक तो यह कि सभी प्रकार के क़ानून बनाने की सम्पूर्ण शक्ति जनता के हाथों में होगी। और दूसरे उस शक्ति को बालिग़ मताधिकार द्वारा समूचे देश के बालिग़ों में फैलाया जायगा।

तत्कालीन वास्तविकता

यद्यपि वास्तव में यह अभीतक एक आन्दोलनात्मक वस्तु ही रही है, लेकिन अब राष्ट्रीय पंचायत की मांग एक तत्कालीन वास्तविकता बन गई है। इसका श्रेय है यूरोप के युद्ध को। यह युद्ध अँग्रेज़ी सरकार द्वारा लादे गये विधान को परीक्षा की कसौटी पर चढ़ाता है—इस विधान के द्वारा भारतीय जनता के जनतन्त्रता और स्वतन्त्रता के विचार व्यक्त होते हैं या नहीं? यह जांच पूरी तरह प्रारम्भ न हो पाई थी कि यह बात स्पष्ट हो गई कि इण्डिया एक्ट से भारतीय जनता के विचारों को व्यक्त करने की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार के स्वार्थों और भावनाओं की ही अधिक

रक्षा हो सकती है। भारतीय जनता ने बिना अपनी सलाह और मर्ज़ी तथा बिना अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त किये वर्तमान युद्ध में घसीटे जाने का विरोध किया। इसके साथ-ही-साथ वह यह भी जानना चाहती थी कि युद्ध के द्वारा किस प्रकार दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकती है तथा जनतन्त्र शासन-प्रणाली की रक्षा हो सकती है। वर्त्तमान विधान में इस विरोध का कोई इलाज नहीं था। इसके द्वारा तो ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के बीच केवल वही सम्बन्ध बना रह सकता है जो कि एक अत्याचारी और अत्याचार सहनेवाले के बीच रह सकता है। कांग्रेस ने मंत्रिपद ग्रहण करने के प्रस्ताव को पास करते समय भी ठीक यही विचार व्यक्त किये थे। ऐसी अवस्था में ब्रिटिश भारत के दो-तिहाई सूबों के लिए इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं था कि वहाँ की जनता के प्रतिनिधि मंत्रिपदों को छोड़ दें। यूरोप में लड़ाई को प्रारम्भ हुए दो महीने भी पूरे न हुए थे कि अक्टूबर १९३९ में इन प्रान्तों से साधारण क़ानून का राज्य उठ गया और अंग्रेज़ी हुकूमत के गवर्नरों ने सारी ताक़तें अपने हाथ में ले लीं। इस प्रकार उस साम्राज्यवादी हुकूमत ने १९३५ के इंडिया एक्ट के उस हिस्से को स्वयं अपने ही हाथों से चकनाचूर कर दिया जिसके द्वारा थोड़ी बहुत उत्तरदायी हुकूमत दी गई थी। अब वह उस एक्ट के दूसरे हिस्से से जिसमें स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन का बोलबाला है, राज कर रही है। ब्रिटिश सरकार के स्वार्थों और भारतीय-जनता की स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा के बीच जो संघर्ष चल रहा है, उसके परिणाम-स्वरूप सन् १९३५ का शासन-विधान आज मुर्दा हुआ पड़ा है। क़रीब ढाई वर्ष पहले मंत्रिपद ग्रहण करते समय काँग्रेस ने जिस बात की घोषणा की थी आज वही हो गई और सन् १९३५ के इडिया एक्ट का खात्मा हो गया। काँग्रेस तो पहले ही भारतीय स्वतन्त्रता की लड़ाई के प्रति पूर्ण भक्ति प्रदर्शित कर रही थी। और उसने यह भी प्रकट कर दिया था कि वह इस बात के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है कि आवश्यकता पड़ते ही प्रान्तीय और केन्द्रीय हुकूमत के अधिकारों पर ज़बरदस्ती लादे गये कवच को नष्ट कर देगी। अब इस कूड़े को कौन साफ़ करेंगे? और कौन इनकी पूर्ति करेगा? यही प्रश्न है। ऐसे अवसर पर ही राष्ट्रीय पञ्चायत एक तात्कालीन वास्तविकता हो जाती है।

एक बात यह भी कही जा सकती है कि केवल १९३५ के एक्ट को चूर-चूर करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय-पंचायत बुलाये जाने से पहले एक प्रबल संघर्ष द्वारा ब्रिटिश शासन से शक्ति को छीन लिया जाय। यह भी कहा जा सकता है कि प्रथम इसके कि राष्ट्र अपनी सर्वोच्च इच्छा को सबसे पहले प्रकट करे, राष्ट्रीय-पचायत तभी अपना कार्य कर सकती है, जब ब्रिटिश-सत्ता का खात्मा हो जाय। अभी तक तो ब्रिटिश शासन का अन्त नहीं हुआ है। लेकिन चाहे कुछ भी हो, पर यह तो सत्य ही है कि वर्तमान अवस्था में इस बात के बहुत से प्रयत्न दिखाई दे रहे

हैं कि ब्रिटिश-शासन मृतप्रायः हो रहा है। राष्ट्रीय-पंचायत तो दो ही अवस्था में सम्भव है। एक तो यह कि ब्रिटिश शासन के अन्त के अवसर पर ही उसका निर्माण हो और या वह स्वयं ही उसका अन्त बने।

इन दोनों अवस्थाओं के फलितार्थों के भेद का जानना नितान्त आवश्यक है। एक में तो राष्ट्रीय-पंचायत तब बन सकती है जबकि एक सफल सविनय-अवज्ञा के आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार को नष्ट कर दिया गया हो, और दूसरे में राष्ट्रीय-पंचायत तभी बनेगी जब ब्रिटिश हुकूमत कांग्रेस की दिन-प्रति दिन बढ़ती हुई शक्ति और युद्ध से पैदा होने वाली गड़बड़ी के फल-स्वरूप यह स्वीकार कर ले कि वह अब भारत पर हुकूमत नहीं कर सकती। दोनों ही अवस्था में राष्ट्रीय-पंचायत भारतीय स्वतन्त्रता का प्रतीक है।

तीन अवस्थायें

अब हमें यह देखना है कि राष्ट्रीय-पंचायत को किन-किन अवस्थाओं में होकर गुज़रना पड़ेगा, और उसकी क्या विशेषतायें होंगी। स्पष्टरूप से राष्ट्रीय-पंचायत की तीन अवस्थायें हैं। चुनाव, विचार-विनिमय और परिणाम। प्रत्येक अवस्था में राष्ट्रीय-पंचायत की अपनी विशेषता रहेगी।

राष्ट्रीय-पंचायत का चुनाव बालिग़ मताधिकार पर होना आवश्यकीय है। प्रत्येक बालिग़ भारतवासी को इस पंचायत के चुनने में भाग लेना चाहिए। इस प्रकार उसे स्वतन्त्र भारत के शासन विधान के मौलिक सिद्धान्तों को तैयार करने में अपने विचारों को प्रकट करना चाहिए। मताधिकारी होने के लिए शिक्षा-सम्बन्धी, डिग्री या जायदाद की योग्यता की जो क़ैद अबतक रही है, उसे रद कर देना आवश्यक है। एक राष्ट्र जो स्वतन्त्र होने के लिए चेतनामय हो गया है और अपने ऊपर स्वय शासन करने को दृढ़ प्रतिज्ञ है, वह कभी भी इस बात पर सन्तोष नहीं कर सकता कि राजनैतिक ढांचा तैयार करने का काम केवल थोड़े से शिक्षित और सम्पत्तिशालियों तक ही सीमित रहे। बालिग़ मताधिकार द्वारा राष्ट्रीय-पंचायत के चुने जाने में कई लाभ हैं। यह राष्ट्रीय-पंचायत भारतवर्ष की भावी सरकार का ढांचा तैयार करेगी। यदि इस ढाँचे को टिकाऊ और सुरक्षित बनाना है और समय तथा परिवर्तन के आक्रमणों से इसकी रक्षा करनी है तो इसे जन-साधारण की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं, भावनाओं और इच्छाओं के अनुसार ही बनाना चाहिए।

यह कौन कह सकता है कि एक ग़रीब मज़दूर तथा किसान के हृदय में सामाजिक न्याय तथा अच्छी सरकार की जो धारणा है वह कुछ थोड़े से पढ़े लिखे और पैसेवालों की धारणा से उच्च नहीं होगी? राष्ट्रीय-पंचायत के प्रत्येक मतदाता को उस की हरएक छोटी-छोटी बात से कुछ सरोकार न होगा। परन्तु वह तो ऐसे बड़े-बड़े

विषयों पर अपना मत प्रकट करे, जैसे भावी नागरिक और हुकूमत के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिएँ। खेती-बाड़ी और उद्योग-धन्धों की मिल्कियत का नियन्त्रण करने के लिए कौन-से नियम हों, जिनके अनुसार जन-साधारण की भावनाओं को बराबर उन विषयों पर प्रकट किया जाता रहे। ग़रीब जन-समाज, जो कुशासन और बेढंगी आर्थिक अवस्था का शिकार रहा है, वही अच्छी और सुव्यवस्थित सरकार की परीक्षा करने के लिए अधिक उपयुक्त है। ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्रीय-पंचायत का समझदार मतदाता हो सकता है। इसलिए राष्ट्रीय-पंचायत के चुनाव का मूल आधार यदि हो सकता है तो वह बालिग़ मताधिकार पर ही हो सकता है।

चुनाव के सिद्धान्त

चूंकि राष्ट्रीय-पंचायत की स्थापना से ही स्वतन्त्र भारत का युग शुरू हो जायगा, इसलिए यह आवश्यक है कि सारी जनता यह जान ले कि वह किन चीज़ों के लिए वोट दे रही है। हमारे यहाँ कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है, जो साम्प्रदायिक, जातीय या अन्य अस्पष्ट बातों के प्रभाव से प्रभावित होकर वोट दे सकते हैं। ऐसे लोगों के पास विशेष रूप से जाना चाहिए और भारतीय राष्ट्रके निर्माण में जो मुख्य राजनैतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त सामने हैं, उन्हें समझाना चाहिए। राष्ट्रीय-पंचायत से पहले सत्याग्रह करना, मुमकिन है, साम्प्रदायिक बुराई को कुछ कम करदे। इस दिशा में यदि अभी से कुछ कष्ट उठाकर कोशिश की जाय, और उन लोगों को शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाय, जो अबतक कांग्रेस के प्रति सहानुभूति नहीं रखते हैं, तो सम्भवतः कुछ अच्छा परिणाम निकल आवे।

चुनाव के प्रश्न पर विचार करने के बाद अब राष्ट्रीय पंचायत के विचार-विनिमय की अवस्था पर विचार करें। विचार-विनिमय के बारे में जो मुख्य बात याद रखनी है वह यह है कि किसी प्रकार से उसका कार्यक्षेत्र सीमित या नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसपर राष्ट्रीय पंचायत विचार न कर सके। हमारे देश की विचित्र स्थिति को देखते हुए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह स्पष्टरूप से घोषित कर दिया जाय कि वैदेशिक और देश की रक्षा करनेवाले विषयों पर राष्ट्रीय-पंचायत का प्रभुत्व रहना अनिवार्य है। राष्ट्रीय पंचायत इन विषयों पर विचार करने में किन्हीं भी बन्धनों से नहीं बँध सकती।

राष्ट्रीय-पंचायत के अधिकारों की व्यापकता

ऐसा कोई भी क़ायदा या सन्धि या प्रतिज्ञा आदि नहीं हो सकती, जिसपर राष्ट्रीय-पंचायत विचार न कर सके, या पुनः विचार या रद्दोबदल न कर सके।

इसके कहने की तो कोई विशेष आवश्यकता ही नहीं कि यदि राष्ट्रीय-पंचायत की स्थापना ब्रिटिश हुकूमत को सफलतापूर्वक खत्म कर देने पर ही होती है तो उसके अधिकार और कर्तव्य दोनों ही होते हैं कि वह क़ानून का ऐसा बुनियादी ढाँचा बना दे, जिसके अनुसार यह तय किया जा सके कि स्वतन्त्र भारत और विदेशी राष्ट्रों के बीच क्या सम्बन्ध रहेंगे और उसके आर्थिक एवं रक्षा के विषय किस प्रकार तय किये जायँगे। इसी प्रकार यदि राष्ट्रीय-पंचायत की स्थापना ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र मान लेने पर होती है तो उस अवस्था में भी उसे उपरोक्त विषयों पर विचार करने तथा क़ानून बनाने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। यदि ब्रिटिश हुकूमत ऐसी अवस्था में भारत से अलग होती है, जिसमें कि भारतीय जनता के कुछ भी अधिकार पार्लमेण्ट के पास रह जाते हैं तो इस अवस्था को हम भारत पर से ब्रिटिश हुकूमत के प्रभुत्व का क़तई हट जाना नहीं कह सकते। अतः राष्ट्रीय-पंचायत की सीमा सर्वोपरि, निर्विघ्न तथा असीमित होनी चाहिए।

राष्ट्रीय-पंचायत अपना अध्यक्ष तथा पदाधिकारी स्वयं चुनेगी। अपनी विभिन्न कमेटियों का निर्णय भी वही करेगी। एक चीज़ आवश्यक है। वह यह कि उस समय ब्रिटिश सरकार का भारत में जो वायसराय या और कोई अन्य उच्च कर्मचारी हो, उसे इस पंचायत या उसकी किसी भी कमेटी का सभापति बनने का अधिकार नहीं होना चाहिए। राष्ट्रीय-पंचायत से जिनके स्वार्थों पर आघात होता है, उन्हें साज़िश करने या एक दल को दूसरे दल के विरुद्ध खड़ा करने का अवसर कभी नहीं देना चाहिए।

विधान

चुनाव तथा विचार विमर्श एवं वाद-विवाद की अवस्थाओं के बाद तीसरी अवस्था आती है। उसमें राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा तैयार किया गया विधान देश का मुख्य क़ानून बन जाता है। इसके बाद, और कोई ऐसी सर्वोच्च सत्ता नहीं रह जाती जिससे राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा तैयार किये गये विधान की स्वीकृति ली जाय। यदि ब्रिटिश सरकार को हराकर राष्ट्रीय-पंचायत की स्थापना होती है तब तो कोई ऐसी शक्ति रह ही नहीं जाती जो पंचायत द्वारा बनाये गये विधान को देश का क़ानून बनने से रोके। और यदि ब्रिटिश शक्ति उस समय हो और वह भारतीय स्वतन्त्रता के कार्य को बिगाड़ना चाहे और अन्तिम युद्ध के लिए ललकारे, तो फिर डटकर अहिंसात्मक सत्याग्रह ऐसे विराट एवं विकराल रूप में करना चाहिए कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

समस्यायें

अब सरसरी तौर से उन समस्याओं पर विचार किया जाय जोकि राष्ट्रीय-पञ्चायत के विचार-क्षेत्र में आती हैं। राष्ट्रीय-पंचायत का मुख्य काम यह होगा कि वह सरकार की सारी मशीनरी तैयार करे जिसके द्वारा जनता अपने विचारों को व्यक्त कर सके और अपनी बात चला सके। मसलन पंचायत फेडरल-क्षेत्र में दो व्यवस्थापक सभायें बनाये, इनमें एक सिनेट हो जिसमें फ़ेडरेशन के सभी समुदायों के कुछ थोड़े-से प्रतिनिधि हों, दूसरा चेम्बर ऑव डिप्युटीज़ हो जिसमें समूचे देश में से बहुत से प्रतिनिधि शामिल किये जायँ। वह निश्चित करे कि भारतीय रिपब्लिक का अध्यक्ष कौन होगा और एक कार्यसमिति का चुनाव भी वही करे जो लेजिसलेचर के मातहत हो। इसी प्रकार राष्ट्रीय-पंचायत ही यह बतायगी कि प्रान्तों में व्यवस्थापक और प्रबन्धक काम किस ढङ्ग से होंगे। व्यवस्थापक और प्रबन्धक सभाओं का रूप कुछ भी तय हो, लेकिन यह राष्ट्रीय-पंचायत का काम होगा कि वह ऐसी व्यवस्था रक्खे जिससे उन दोनों में मेल रहे। उनके क्या-क्या काम होंगे, यह भी स्पष्ट करदे। उन्हें यह भी बतावे कि उनके कार्य-क्षेत्र क्या होंगे और राजनैतिक सत्ता के संचालन में उनका महत्व क्या होगा।

राष्ट्रीय-पंचायत देश की आर्थिक व्यवस्था के बारे में क़ानून बनावेगी। मसलन् वह एक इकनॉमिक प्रिवी कौंसिल की व्यवस्था करेगी। यह कौंसिल देश की सब आर्थिक व्यवस्थाओं पर अधिकार और निगाह रक्खेगी। कराँची कांग्रेस के आधार-मूलक अधिकारों को वह शामिल करके मुख्य उद्योगों पर समाज का स्वामित्व और अधिकार स्थापित करदे और इस प्रकार व्यक्तिगत् रूप से लोगों का ऐसे उद्योगों, बिजली, यातायात, लोहे और कोयले से अपने लिए पैसे बनाना असम्भव करदे। भूमि से ज़मीदारी-प्रथा को भी वह उठादे और खेतीबारी को वह एक ऐसा व्यवसाय बनादे जिसके स्वामी किसान हों। यदि राष्ट्रीय-पंचायत यह निश्चित करे कि आगे भारत में खेती-बारी सहकारी ढङ्ग पर होगी तो वह सहकारी प्रयत्न से उस भूमि को और बढ़ा ले जिसका प्रयोग अबतक नहीं हुआ है और जो खेती-बारी के योग्य है। अन्य क़ानूनी प्रलोभन भी वह निकाले। राष्ट्रीय-पंचायत उत्पादन के साधनों में निजी मिल्कियत की प्रथा को उड़ा देने का निश्चय कर ले। पूंजीवादियों को वह ट्रस्टी बनादे। देश की औसत रहन-सहन के अनुसार उनकी आमदनी निश्चित हो। निजी मिल्कियत की प्रथा को भी वह जारी रहने दे सकती है। लेकिन उसके अधिकारों पर भारी पाबन्दी होनी चाहिए। इन तीनों सम्भावनाओं में से कौन-सी आखिर भौतिक रूप धारण करेगी, यह कहना अभी कठिन है। स्वतन्त्र भारत में व्यक्ति और राज्य के

बीच क्या सम्बन्ध होंगे, इसकी राष्ट्रीय-पंचायत -रूपरेखा तैयार करेगी और इस प्रकार नागरिक के बुनियादी अधिकारों का निर्णय करेगी। प्रेस, संस्थाओं और धार्मिक पूजा की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त राष्ट्रीय-पंचायत भारतीय सरकार के लिए यह आवश्यक करदे कि वह अपनी जनता के लिए काम और शिक्षा की व्यवस्था करे। उसके एवज़ में नागरिक भारतीय सरकार के प्रति वफ़ादार रहें और उसके कहने पर चलें।

राष्ट्रीय-पंचायत निश्चित करे कि स्वतंत्र-भारत के वैदेशिक सम्बन्धों का आधार शान्ति होगी। और भारतीय सरकार को वह निर्देश करे कि वह समस्त अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इस उद्देश्य से भाग ले कि राष्ट्रों के बीच निःशस्त्रीकरण और अहिंसात्मक व्यवहार बढ़ें।

भारत की लालसा राष्ट्रीय-पंचायत पर केन्द्रीभूत हो रही है। यों तो किसान हैं जो चाहते हैं कि उनकी रहन-सहन में सुधार हो, उचित कर उन्हें देना पड़े, उनकी आमदनी बढ़े; या मजूर हैं जो चाहते हैं कि उनको ऐसा काम मिले जिससे उन्हें कुछ आराम और मिल सके और उनका जीवन और शिष्ट बने; या मध्यमवर्ग के लोग हैं जो चाहते हैं कि उन्हें अपनी नौकरियों का भरोसा रहे और सरकार के साथ स्वस्थ सम्बन्ध बढ़ें, लेकिन इन सब लोगों की इच्छायें भारत-वासियों की इस इच्छा में जाकर मिल जाती हैं कि वे स्वतंत्र हों। विदेशी सत्ता भारतवासियों की शक्तियों को बर्बरता-पूर्ण जीवन की नीरस दिनचर्या में फंसा कर कब से सता रही है। अब वह छिन्न-भिन्न होनी चाहिए। उस विदेशी सत्ता का स्थान वह लचीला और टिकाऊ विधान लेगा जिसका निर्माण राष्ट्रीय-पंचायत भारत के लिए आनन्द और शिष्टता के साथ रहने के उद्देश्य को ध्यान में रख कर करेगी।

सस्ता-साहित्य-मण्डल

से प्रकाशित

सामयिक साहित्य माला की पुस्तकें

१—कांग्रेस का इतिहास (१९३५-३९)

यह पुस्तक कांग्रेस इतिहास (१८८५-१९३५) के परिशिष्ट के रूप में है। मूल पुस्तक डा० पट्टाभि सीतारामैया ने सन् १९३५ में हुई कांग्रेस स्वर्ण जयन्ती पर प्रकाशित कराने को लिखी थी। मूल्य ।-)

२—दुनिया का रंगमंच (१९३३-३८)

पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखी गई यह पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' के परिशिष्ट के रूप में है। सन् १९३३ से लेकर १९३८ तक की देश-विदेश की राजनैतिक स्थिति पर यह पुस्तक प्रकाश डालती है। मूल्य ।)

३—हम कहाँ हैं ?

यह पुस्तक पं० जवाहरलाल नेहरू के लेखों का संग्रह है। देश और कांग्रेस की वर्तमान स्थिति का इस पुस्तक में सिंहावलोकन है। मूल्य =)

४—युद्ध-संकट और भारत

यह पुस्तक वर्तमान यूरोपीय युद्ध, ब्रिटिश सरकार की नीति और भारत के रुख पर प्रकाश डालती है। ब्रिटिश सरकार की घोषणायें, महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्रप्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस-कार्यसमिति और महासमिति के सितम्बर १९३९ से लेकर अबतक के वक्तव्यों, लेखों आदि का संग्रह है। मूल्य ।)

५—सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?

इस पुस्तक में महात्मा गांधी के सत्याग्रह के स्वरूप, आवश्यकता और उसके लिए उचित समय, पर ताजे लेखों का संग्रह है। परिशिष्ट में पं० जवाहरलाल नेहरू का लेख, 'स्वतन्त्रता-दिवस की प्रतिज्ञा' आदि दिए गए हैं। मूल्य ≋)

६—राष्ट्रीय-पंचायत

इस पुस्तक में दिखाया गया है कि राष्ट्रीय-पंचायत ही किस प्रकार देश की वैधानिक समस्या को सुलझा सकती है। महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० पट्टाभि सीतारामैया, एम० एन० राय, श्री सम्पूर्णानन्द आदि के लेखों का संग्रह— मूल्य ।)

[सामयिक साहित्य माला: पांचवीं पुस्तक]

सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?

[सत्याग्रह के बारे में गांधीजी के विचार]

महात्मा गांधी

सस्ता साहित्य मण्डल, नई

—शाखायें—

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण

फरवरी १९४० : ५०००

दाम

बन आना

मुद्रक,

एस. एन. भार

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रस,

नई दिल्ली।

विषय सूची

परिशिष्ट

सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?

: १ :

सत्याग्रह

'सत्याग्रह' शब्द दक्षिण अफ़्रीका में मैंने ही उस बल को व्यक्त करने के लिए चलाया था जिसे भारतीय पूरे आठ बरस से वहां बरत रहे थे। ब्रिटेन और दक्षिण अफ़्रीका में जो 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से आन्दोलन उन दिनों चल रहा था, उससे भी अन्तर दिखानें के लिए यह शब्द चालू किया गया था।

× × × ×

'सत्याग्रह' का मूल अर्थ है सत्य पर दृढ़ता। अतः उसका अर्थ हुआ सत्य-बल। मैं उसे प्रेम-बल या आत्म-बल के नाम से भी पुकारता हूँ। सत्याग्रह के चलन में मैंने आरम्भ में ही देखा कि सत्य के आचरण में विरोधी के प्रति हिंसा की गुंजाइश नहीं है, बल्कि विरोधी की खोटं का सुधार धीरज और सहानुभूति के साथ ही किया जाना चाहिए। क्योंकि एक को जो सत्य दिखाई देता है, वह दूसरे को गलत भी दिखाई दे सकता है। और धीरज का अर्थ है स्वयं कष्ट सहना। इसलिए सत्याग्रह के सिद्धान्त का अर्थ हुआ सत्य का प्रतिपादन, विरोधी को कष्ट देकर नहीं, बल्कि स्वयं कष्ट सहकर।

× × × ×

किसी भी दर्जे में इस सत्य-बल को धन की अथवा भौतिक सहायता की आवश्यकता नहीं है। निश्चय ही उसके प्रारम्भ रूप में भी उसे शारीरिक बल या हिंसा नहीं चाहिए। वास्तव में हिंसा तो इस महान आध्यात्मिक बल का; जिसका अनुशीलन या प्रयोग वे ही कर सकते हैं जो हिंसा का पूर्ण परित्याग कर देते हैं, निषेध है। सत्यबल ऐसा बल है कि जिसका प्रयोग व्यक्ति कर सकते हैं, जमात भी कर सकती हैं। राजनैतिक मामलों में उसका इस्तेमाल हो सकता है और घरेलू मामलों में भी। इसका विश्व-व्यापी अमल उसके स्थायित्व और अभेद्यता का प्रमाण है। पुरुष, स्त्री और बच्चे समानरूप से उसका प्रयोग कर सकते हैं। ऐसा कहना एकदम असत्य है कि केवल दुर्बल का ही यह बल है, जबतक वह हिंसा का जबाब हिंसा से नहीं दे सकता। जो अपने को दुर्बल समझते हैं, उनके लिए तो इस बल का प्रयोग असम्भव है। सत्याग्रही प्रभावशाली रूप से वे ही हो सकते हैं जो अनुभव करते हैं कि मनुष्य के अन्दर कुछ ऐसा भी है जो उसको बर्बर स्वभाव से उच्च है और जिसके सामने बर्बर स्वभाव सदा पराजित होता है। यह बल हिंसा और इसलिए समस्त अत्याचार और अन्याय के लिए ऐसा ही है जैसे अंधकार के लिए प्रकाश। राजनीति में इसका प्रयो

अपरिवर्तनीय कहावत पर निर्भर है कि जनता की सरकार तभी तक सम्भव है जबतक जनता, जानें या अनजानें, शासित रहने के लिए सम्मत है।

× × × ×

सत्याग्रह-आन्दोलन किसी सरकार को परेशान करने के लिए नहीं चलाया जाता, जबकि साधारण राजनैतिक हलचल बहुधा इसी उद्देश्य को लेकर आरम्भ की जाती है। और फिर भी यदि सत्याग्रही देखता है कि उसकी कार्रवाइयों के परिणाम-स्वरूप सरकार परेशान होती है तो वह उसका मुकाबिला करने से नहीं हिचकिचाता। सत्याग्रह, जैसी कि मैं उसकी कल्पना करता हूं, घरेलू कानूनों का राजनैतिक क्षेत्र तक फैलाना है और अपने अनुभव से मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यही आन्दोलन एक ऐसा है जो समस्त भारत में दुख-निवारण के लिए हिंसा के फैलाव की सम्भावना का अन्त कर सकता है।

× × × ×

सविनय अवज्ञा अनैतिक स्थायी कानूनों का सविनय भंग करना है। जहांतक मुझे याद है यह शब्द थॉरो ने गुलाम सरकार के कानूनों के प्रति अपने प्रतिरोध को जताने के लिए चालू किया था। सविनय अवज्ञा के कर्तव्य पर उनका एक बेमिसाल लेख है। लेकिन थॉरो शायद पूर्णरूप से अहिंसा के हिमायती नहीं थे। सम्भवतः थॉरो का स्थायी कानून का भंग करना मालगुजारी के कानून, अर्थात् करों के भुगतान तक ही सीमित था, जबकि सविनय अवज्ञा में किसी भी स्थायी और अनैतिक कानून का भंग करना आ जाता है। उससे प्रतिरोधक का सविनय अर्थात् अहिंसात्मक ढंग से राज्य के क़ानूनों के संरक्षण से अपने को अलहदा कर लेना प्रकट होता है। वह कानून के अनुशासन का आह्वान करता है और खुशी से जेल सहता है।

× × × ×

हम अपने दैनिक जीवन में, जानकर अथवा अनजाने, एक दूसरे के साथ अहिंसात्मक व्यवहार करते हैं। भलीभांति निर्माणित समाजों का भी आधार अहिंसा के कानून पर होता है। मैंने अनुभव किया है कि विनाश के बीच भी जीवन चलता है और इसलिए विनाश के कानून से उच्चतर कानून भी अवश्य है। उसी कानून के मातहत सुव्यवस्थित समाज की सम्भावना और जीवन की सफलता हो सकती है। और यदि वही कानून जीवन का भी कानून है तो हमें अपने दैनिक जीवन में उसे अमल में लाना चाहिए। जहां कहीं अनबन है और जहां कहीं आपकी विरोधी से मुठभेड़ होती है तो प्रेम से उस पर विजय पाओ—इसी सीधे-सादे तरीके से इस कानून को मैं अपने जीवन में अमल में लाया हूँ। इसका अर्थ यह नहीं है कि मेरी सारी कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं। बेशक, यह मैंनें अनुभव किया है कि इस प्रेम के कानून से जो फल-सिद्धि हुई है वह विनाश के कानून से कभी नहीं हुई। यहां हिन्दुस्तान में तो इस कानून का बड़े-से-बड़े पैमाने पर अमल हम अपनी आंखों देख चुके हैं। इसलिए मैं यह दावा नहीं करता कि अहिंसा का समावेश आवश्यकरूप से तीस करोड़ लोगों

के भीतर हो गया है; लेकिन यह दावा मैं करता हूँ कि इतने थोड़े समय में कि जिस पर यकीन नहीं किया जा सकता, अहिंसा का जितना गहरा समावेश हुआ है, उतना और किसी सन्देश का नहीं हुआ। हम समानरूप से अहिंसक नहीं रहे हैं और अधिकांश के लिए अहिंसा नीति-मात्र रही है। एसा होते हुए भी, मैं चाहता हूँ कि आप देखें कि आया अहिंसा की छत्रछाया में देश ने असाधारण प्रगति नहीं की है।

× × × ×

मानसिक स्थिति से अहिंसात्मक बनने के लिए लम्बे और सतत शिक्षण की आवश्यकता है। नित्य के जीवन में उसके लिए अनुशासन का पाठ पढ़ना होता है, चाहे वह किसी को अरुचिकर क्यों न हो, जैसे सिपाही का जीवन। लेकिन मैं मानता हूँ कि उसमें जबतक मन का पूर्ण सहयोग न होगा तबतक अहिंसा का बाहरी चलन तो एक दिखावा होगा जो उस आदमी को स्वयं और साथ ही दूसरों को भी हानिकारक होगा। पूर्ण स्थिति केवल उस समय होती है जब मन, काया और वचन में पर्याप्त सामंजस्य होता है। इससे यह न समझें कि जैसे क्रोध मुझे हो ही नहीं सकता; बल्कि लगभग सभी अवसरों पर क्रोध की भावना को दबाने में मुझे सफलता मिल जाती है। परिणाम कुछ भी हो, मेरे अन्दर जानबूझ कर और बेरोक अहिंसा के नियम का पालन करने के लिए निरंतर सचेत हलचल मची रहती है। ऐसी हलचल से व्यक्ति को बल ही मिलता है। अहिंसा सबल का शस्त्र है। दुर्बल के लिए तो वह सुगमता से मक्कारी हो सकती है। भय और प्रीति विरोधी शब्द हैं। प्रेम तो देने में ही उदार है, विना जाने कि बदले में उसे क्या मिलता है। प्रेम का संघर्ष उन भावनाओं से होता है जो उसका विरोध करती हैं और अन्त में उन सब पर उसे विजय मिल जाती है। मेरा अपना तथा मेरे सहकर्मियों का नित्यप्रति का अनुभव है कि यदि हम सत्य और अहिंसा को जीवन का कानून बनाने का निश्चय करलें तो प्रत्येक समस्या का हल अपने आप ही निकल आयगा। क्योंकि मेरे लिए सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

× × × ×

पवित्रतम आत्म-बल को उसके असली स्वरूप में अमल में लानें से अविलम्ब फल-सिद्धि होती है। इस अमल के लिए प्रत्येक व्यक्ति को लम्बा शिक्षण मिलना परमावश्यक है, इसलिए सच्चे सत्याग्रही को अधिक-से-अधिक, यदि पूर्णरूप से नहीं तो, पूर्ण व्यक्ति होना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो सत्याग्रह सब से उत्तम और अच्छी शिक्षा है। हम सब अनायास ही वैसे व्यक्ति नहीं हो सकते, लेकिन यदि मेरा प्रस्ताव ठीक है तो—जैसा कि मैं जानता हूँ कि वह है—जितनी अधिक सत्याग्रह की भावना हमारे अन्दर होगी, उतने ही अधिक अच्छे आदमी हम बन जावगे। अतः मेरे विचार से सत्याग्रह की उपयोगिता निर्विवाद है। और वह एक ऐसा बल है कि यदि वह विश्वव्यापी हो जाय तो उससे सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति मच जाय और उससे निरंकुशता और उत्तरोत्तर बढ़ते सैनिकवाद का अन्त होजाय जिनके कारण कि

घर से बाहर रखने के लिए अख्तियार किये जायें, न्यूनाधिक रूप में मिलते-जुलते होनें ही चाहिएँ। और यह पिछला (रक्षा का) उपाय ज्यादा आसान होना चाहिए। बहरहाल, हकीकत यह है कि हमारी लड़ाई बलवान की अहिंसात्मक लड़ाई नहीं रही है। वह तो दुर्बल के निष्क्रिय प्रतिरोध की लड़ाई रही है। यही वजह है कि इस महत्व के क्षण में हमारे दिलों से अहिंसा की शक्ति में ज्वलंत श्रद्धा का कोई स्वेच्छा-पूर्ण उत्तर नहीं मिला है। इसलिए कार्यसमिति ने यह बुद्धिमानी की ही बात कही है कि वह इस तर्कपूर्ण कदम को उठाने के लिए तैयार नहीं है। इस स्थिति में दुःख की बात यह है कि कांग्रेस अगर उन लोगों के साथ शरीक हो जाती है, जो भारत की सशस्त्र रक्षा की आवश्यकता में विश्वास करते हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि गत बीस बरस योंही चले गये। कांग्रेसवादियों ने सशस्त्र युद्धविज्ञान सीखनें के प्राथमिक कर्तव्य के प्रति भारी उपेक्षा दिखाई। और मुझे भय है कि इतिहास मुझे ही, लड़ाई के सेनापति के रूप में, इस दुःखजनक बात के लिए जिम्मेदार ठहरायेगा। भविष्य का इतिहासकार कहेगा कि यह तो मुझे पहले ही देख लेना चाहिए था कि राष्ट्र बलवान की अहिंसा नहीं, बल्कि केवल निर्बल का अहिंसात्मक निष्क्रिय प्रतिरोध सीख रहा है, और इसलिए, इतिहासकार के कथनानुसार, कांग्रेसजनों के लिए सैनिक शिक्षा मुझे मुहैया करदेनी चाहिए थी।

इस विचार को रखते हुए कि किसी-न-किसी तरह भारत सच्ची अहिंसा सीख लेगा, मुझे यह नहीं हुआ कि सशस्त्र रक्षा के लिए अपने सहकर्मियों से ऐसा शिक्षण लेने को कहूँ। इसके विपरीत, मैं तो तलवार की सारी कला को और मजबूत लाठियों के प्रदर्शन को अनुत्साहित ही करता रहा। और बीती बातों के लिए मुझे आज भी पश्चाताप नहीं है। मेरी आज भी वही ज्वलंत श्रद्धा है कि संसार के समस्त देशों में भारत ही एक ऐसा देश है जो अहिंसा की कला सीख सकता है, और अगर अब भी वह इस कसौटी पर कसा जाये, तो संभवतः ऐसे हजारों स्त्री-पुरुष मिल जायेंगे, जो अपने उत्पीड़कों के प्रति बगैर कोई द्वेषभाव रक्खे खुशी से मरने के लिए तैयार हो जायेंगे। मैंने हजारों की उपस्थिति में बारबार जोर दे-देकर कहा है कि बहुत संभव है कि उन्हें ज्यादा-ज्यादा तकलीफ़ें झेलनी पड़ें, यहांतक कि गोलियों का भी शिकार होना पड़े। नमक सत्याग्रह के ज़मानें में क्या हजारों पुरुषों और स्त्रियों ने किसी भी सेना के सैनिकों के ही समान बहादुरी से तरह-तरह की मुसीबतें नहीं झेली थीं? हिन्दुस्तान में जो सैनिक-योग्यता अहिंसात्मक लड़ाई में लोग दिखा चुके हैं उससे भिन्न प्रकार की योग्यता किसी आक्रमणकारी के खिलाफ़ लड़ने के लिए आवश्यक नहीं है—सिर्फ उसका प्रयोग एक बृहत्तर पैमाने पर करना होगा।

एक चीज नहीं भूलनी चाहिए। निःशस्त्र भारत के लिए यह ज़रूरी नहीं कि उसे जहरीली गैसों से ध्वस्त होना पड़े। मॅगनट लाइन ने सिगफ्रेड को ज़रूरी बना दिया है। मौजूदा परिस्थितियों में हिन्दुस्तान की रक्षा इसलिए जरूरी हो गई है कि वह आज ब्रिटेन का एक अंग है। स्वतंत्रभारत का कोई शत्रु नहीं हो सकता। और

यदि भारतवासी दृढ़तापूर्वक सिर न झुकाने की कला सीख लें और उसपर पूरा अमल करने लगें, तो मैं यह कहने की जुर्रत करूँगा कि हिन्दुस्तान पर कोई आक्रमण करना नहीं चाहेगा। हमारी अर्थनीति इस प्रकार की होगी कि शोषकों के लिए वह कोई प्रलोभन की वस्तु सिद्ध नहीं होगी।

लेकिन कुछ कांग्रेसमैन कहेंगे कि "ब्रिटिश की बात को दरकिनार कर दिया जाये, तब भी हिन्दुतान में उसके सीमान्तों पर बहुत-सी सैनिक जातियां रहती हैं। वे मुल्क की रक्षा के लिए, जो उनका भी उतना ही है जितना कि हमारा, युद्ध करेंगी।" यह बिलकुल सत्य है। इसलिए इस क्षण में केवल कांग्रेसजनों की ही बात कह रहा हूँ। आक्रमण की हालत में वे क्या करेंगे? जबतक कि हम अपने सिद्धान्त पर मर-मिटनें के लिए तैयार न हो जायेंगे, हम सारे हिन्दुस्तान को अपने मत का नहीं बना सकेंगे।

मुझे तो विरुद्ध रास्ता अपील करता ह। सेना में पहले से ही उत्तर हिन्दुस्तान के मुसलमानों, सिक्खों और गोरखों की बहुत बड़ी संख्या है। अगर दक्षिण और मध्य-भारत के जनसाधारण कांग्रेस का सैनिकीकरण कर देना चाहते हैं, जो उनका प्रतिनिधित्व करती हैं, तो उन्हें उनकी (मुसलमान, सिक्ख वग़ैरा की) प्रतिस्पर्धा में आना पड़ेगा। कांग्रेस को तब सेना का एक भारी बजट बनाने में भागीदार बनना पड़ेगा। यह सब चीजें कांग्रेस की सहमति लिए बग़ैर सम्भवतः हो जायें। सारे संसार में तब यह चर्चा का विषय बन जायगा कि कांग्रेस ऐसी चीजों में शरीक है या नहीं। संसार तो आज हिन्दुस्तान से कुछ नई और अपूर्व चीज देखने की प्रतीक्षा में है। कांग्रेस नें भी अगर वही पुराना जीर्णशीर्ण कवच धारण कर लिया, जिसे कि संसार आज धारण किये हुए है, तो उसे उस भीड़भड़क्के में कोई नहीं पहचानेगा। कांग्रेस का नाम तो आज इसलिए है कि वह सर्वोत्तम राजनैतिक शस्त्र के रूप में अहिंसा का प्रतिनिधित्व करती है। काँग्रेस अगर मित्र-राष्ट्रों को इस रूप में मदद देती है कि उसमें अहिंसा का प्रतिनिधि बनने की क्षमता ह, तो वह मित्र-राष्ट्रों के उद्देश्य को एक ऐसी प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान करेगी, जो युद्ध का अन्तिम भाग्य-निर्णय करने में अनमोल सिद्ध होगी। किन्तु कार्यसमिति के सदस्यों ने जो इस प्रकार की अहिंसा का इजहार नहीं किया, इसमें उन्होंने ईमानदारी और बहादुरी ही दिखाई है।

इसलिए मेरी स्थिति अकेले मुझ तक ही सीमित है। मुझे अब यह देखना पड़ेगा कि इस एकान्त पथ में मेरे साथ कोई दूसरा सहयात्री है या नहीं। अगर मैं अपनेको बिलकुल अकेला पाता हूँ तो मुझे दूसरों को अपने मत में मिलाने का प्रयत्न करना ही चाहिए। अकेला होऊँ, या अनेक साथ हों, मैं अपने इस विश्वास को अवश्य घोषित करूँगा कि हिन्दुस्तान के लिए यह बेहतर है कि वह अपने सीमान्तों की रक्षा के लिए भी हिंसात्मक साधनों का सर्वथा परित्याग कर दे। शस्त्रीकरण की दौड़ में शामिल होना हिन्दुस्तान के लिए अपना आत्मघात करना है। भारत अगर अहिंसा को गँवा देता है तो संसार की अन्तिम आशा पर पानी फिर जाता है। जिस सिद्धांत

का गत आधी सदी से मैं दावा करता आ रहा हूँ उस पर मैं जरूर अमल करूँगा और आखिरी सांस तक यह आशा रक्खूंगा कि हिन्दुस्तान अहिंसा को एक दिन अपना जीवन-सिद्धांत बनायेगा, मानवजाति के गौरव की रक्षा करेगा और जिस स्थिति से मनष्य ने अपने को ऊंचा उठाया ख़याल किया जाता है, उसमें लौटने से उसे रोकेगा।

'हरिजन-सेवक', १४ अक्तूबर, १९३९.

: ३ :

सत्याग्रह कब ?

राजकोट-प्रकरण ने मेरे जीवन में जिस नये सत्य-दर्शन की वृद्धि की वह यह कि ठेठ १९२० से लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में जिस अहिंसा का हम दावा करते आ रहे हैं वह अद्‌भुत होते हुए भी सर्वथा विशुद्ध नहीं थी। अत: जो परिणाम आज तक हुए वे यद्यपि असाधारण कहे जा सकते हैं, तथापि हमारी अहिंसा यदि बिल्कुल विशुद्ध होती, तो उसके परिणाम बहुत अधिक मूल्यवान साबित होते। मन-वाणीसहित सम्पूर्ण अहिंसा की लड़ाई से विरोधी में स्थायी हिंसावृत्ति कभी पैदा हो नहीं सकती। लेकिन मैंने देखा कि देशी राज्यों की लड़ाई ने राजाओं तथा उनके सलाहकारों में हिंसावृत्ति पैदा करदी है। कांग्रेस के प्रति अविश्वास से आज उनका अन्तर भरा हुआ है। जिसे वे काँग्रेस की दस्तन्दाज़ी कहते हैं, उस दस्तन्दाज़ी की उन्हें ज़रूरत नहीं। कितने ही राज्यों में तो कांग्रेस का नाम लेना भी अप्रिय हो गया है। ऐसा होना नहीं चाहिए था।

इस अनुसंधान का मुझ पर जो असर हुआ वह बड़े महत्त्व का है। इससे भावी सत्यांग्रहियों के प्रति मैं अपनी अपेक्षाओं और माँगों में सख्त बन गया हूँ। इसके परिणामस्वरूप, मेरी संस्था घटकर बिल्कुल नगण्य हो जाये, तो मुझे उसकी चिंता नहीं होनी चाहिए। यदि सत्याग्रह एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है, जो सभी परिस्थितियों में लागू हो सकता है, तो मुट्‌ठीभर साथियों के ज़रिये लड़ाई लड़ने का कोई अचूक तरीक़ा मुझे ज़रूर खोज लेना चाहिए। और मैं जो नये प्रकाश की धुँधली-सी झलक देखने की बात करता हूँ इसका अर्थ यही है कि मुझे सत्य का दर्शन होते हुए भी अभी कोई ऐसी विश्वसनीय कार्य-पद्धति नहीं मिली कि ऐसे मुट्‌ठीभर आदमी किस तरह प्रभावकारी अहिंसक लड़ाई लड़ सकते हैं। जैसा कि मेरे सारे जीवन में होता आया है, संभव है कि पहला क़दम उठाने के बाद ही अगला कदम सूझे। मेरी श्रद्धा मुझसे कहती है कि जब ऐसा क़दम उठाने का समय आयगा, तब योजना तो उसकी सामने आ ही जायगी।

मगर अधीर आलोचक कहेगा, 'समय तो प्रस्तुत ही है, आप ही तैयार नहीं हो रहे हैं।' इस आरोप को मैं नहीं मानता। मेरा अनुभव इससे उलटा है। कुछ वरसों से

मैं यह कहता आरहा हूँ कि सत्याग्रह फिर से शुरू करने का अभी मौक़ा नहीं। क्यों? कारण स्पष्ट हैं।

राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह जारी करने का अचूक ज़रिया बनने जैसी कांग्रेस आज रही नहीं है। उसका कलेवर भारी होगया है। उसमें सड़न या गंदगी आ गई है। कांग्रेस-वादियों में आज अनुशासन नहीं। नये-नये प्रतिस्पर्धी समुदाय खड़े होगये हैं, जो, अगर उनकी चले और उन्हें बहुमत प्राप्त हो जाय तो, कांग्रेस के कार्यक्रम में जड़मूल का परिवर्तन करदें। ऐसा बहुमत वे अबतक प्राप्त कर नहीं सके, यह चीज़ मुझे कुछ आश्वासन देनेवाली नहीं। जिनका बहुमत है उनकी भी अपने कार्यक्रम में जीवित श्रद्धा नहीं है। किसी भी दृष्टि से महज़ बहुमत के बल पर सत्याग्रह शुरू करना व्यावहारिक कार्य नहीं। देशव्यापी सत्याग्रह के पीछे तो सारी ही कांग्रेस की ताक़त चाहिए।

अलावा इसके, साम्प्रदायिक तनातनी है, जो रोज़-ब-रोज़ बढ़ती जा रही है। जिन विभिन्न जातियों से मिलकर राष्ट्र बना है उनके बीच सम्मानपूर्ण सुलह और एकता के बग़ैर आखिरी सत्याग्रह की लड़ाई की कल्पना नामुमकिन है।

अन्त में, प्रांतीय स्वायत्त शासन को लेता हूँ। मेरा अब भी यह विश्वास है कि इस दिशा में कांग्रेस ने अपने सर पर जिस काम को लिया हुआ है उसके साथ हमने उचित न्याय नहीं किया है। यह भी स्वीकार करना चाहिए कि गवर्नरों ने कुल मिला कर मंत्रियों के काम में बहुत कम दख़ल दिया है। पर दस्तन्दाज़ी—कभी-कभी तो खीज पैदा करनेवाली दस्तंदाज़ी—तो कांग्रेसवादियों और कांग्रेस मण्डलों की तरफ़ से हुई है! जबतक कांग्रेसी मंत्री कारबार चला रहे हैं, तबतक लोकपक्षीय हिंसा या दंगे तो होने ही नहीं चाहिए थे। आज तो मंत्रियों की बहुत बड़ी शक्ति कांग्रेसवादियों की मांगों और विरोध को निपटाने में खर्च होती है! अगर मंत्री लोकप्रिय नहीं हैं, तो उन्हें बरखास्त किया जा सकता है, और कर देना चाहिए। इसके बजाय हो क्या रहा है कि उन्हें काम तो करने दिया जाता है, पर बहुत-से कांग्रेसवादियों का उन्हें सक्रिय सहयोग नहीं मिलता।

दूसरे सब उपायों को समाप्त किये बग़ैर आखिरी क़दम उठाना सत्याग्रह के हरेक नियम के विरुद्ध है।

इसके जवाब में कुछ औचित्य के साथ यह ज़रूर कहा जा सकता है कि मैंने जो शर्तें बताई हैं उन सबको पूरा करने का अगर आग्रह रक्खा गया तो सविनय क़ानून-भंग लगभग असंभव ही हो जायगा। क्या यह आपत्ति वज़नदार कही जा सकती है? हरेक काम को स्वीकार करने के साथ शर्तें तो उसमें रहती ही हैं। सत्याग्रह इसका कोई अपवाद नहीं। पर मेरी अंतरात्मा मुझसे कहती है कि मौजूदा असंभव स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सत्याग्रह का कोई-न-कोई सक्रिय तरीक़ा—यह ज़रूरी नहीं कि वह सविनय भंग ही हो—मिलना ही चहिए। हिन्दुस्तान आज ऐसी असंभव स्थिति का सामना कर रहा है, जो बहुत दिन नहीं चल सकती। समझ में आ सकने लायक़

समय के अंदर या तो उसे अहिंसक लड़ाई का कोई-न-कोई तरीक़ा ढूँढ़ निकालना होगा, या उसे हिंसा और अराजकता में फंसना पड़ेगा।

हरिजन सेवक, १ जुलाई, १९३९

: ४ :

किन कारणों से ?

किसी काम में असफल होने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि अपने विरोधी को ख़ूब गालियाँ दी जायें, और उसकी कमज़ोरी से फ़ायदा उठाया जाये। लड़ाई के दूसरे प्रकारों के बारे में सत्य चाहे जो हो, पर सत्याग्रह में तो यह माना गया है कि असफलता के कारणों को ख़ुद अपने ही अन्दर ढूँढ़ना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की इस आशा पर कि, सरकार कोई अपेक्षित घोषणा करेगी, जो पानी फेर दिया है उसका एकमात्र कारण वे कमज़ोरियाँ ही हैं, जो कांग्रेस के संगठन और कांग्रेसजनों में आगई हैं।

सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि अहिंसा और उसके अनेक फलितार्थों की हमने पूरी क़द्र नहीं की। इसी एक महान् दोष से हमारी दूसरी सब कमज़ोरियाँ पैदा हुई हैं। हमने कायिक अहिंसा का तो खासा अच्छा पालन किया है, पर अपने दिलों में हमने हिंसा को आश्रय दे रक्खा है। इसलिए सरकार के मुक़ाबिले में हमारी अहिंसा, हमारी सक्रिय हिंसा की अयोग्यता का परिणाम है। यही वजह है कि हम अपने आपस के वर्ताव में हिंसा की तरफ़ बहक गये हैं। कमेटियों में हम एक दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते और कभी-कभी तो घूँसेबाज़ी तक पर उतर आते हैं। कार्यसमिति के आदेशों को अमल में लाने से हमने इन्कार कर दिया है। प्रतिस्पर्धी दल हमने अलग बना लिये हैं, जो सत्ता को छीनना चाहते हैं। हिन्दू और मुसलमान ज़रा-ज़रा से ऐतराज़ पर लड़ बैठते हैं साम्प्रदायिक मतभेद जो दूर नहीं हो सके हैं, इसके लिए कांग्रेसजन आंशिक रूप से ज़रूर जिम्मेदार हैं। यह सब ठीक है कि हम अपनी फूट के लिए ब्रिटिश सरकार को दोषी ठहराते हैं। पर इस तरह हम अपनी वेदना को बढ़ाते ही हैं। यह हमें मालूम था कि फूट डालकर राज करने की नीति १९२० में भी थी, और तब भी हमने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को अपने रचनात्मक कार्य में रक्खा था। हमने ऐसा इसलिए किया था कि हमें यह आशा थी कि हमारे रास्ते में सरकार द्वारा रोड़े अटकाये जाने के बावजूद भी हम क़ौमी एकता हासिल कर लेंगे। अधिक क्या कहें, उस वक्त प्रतीत भी ऐसा होता था कि उस एकता को हमने हासिल कर लिया है।

हमारी कमज़ोरियों के ये उदाहरण भयंकर हैं। काँग्रेस को अपनी पूरी उन्नति पर पहुँचने में इन्होंने बाधा डाली है, और हमारी अहिंसा की प्रतिज्ञाओं को मज़ाक बना दिया है। हमारी असफलता के कारणों का यदि मेरा यह विश्लेषण सही है, तो

यह तसल्लीदेह बात है कि इसका इलाज किसी बाहरी परिस्थिति पर नहीं, किंतु ख़ुद हमारे ऊपर निर्भर करता है। हमें अपना ख़ुद का संगठन इतना सुव्यवस्थित, इतना शुद्ध और शक्तिशाली बना लेना चाहिए कि जो हमारे लक्ष्य की ओर बढ़नें में बाधा डालते हैं वे हमें सम्मान से देखने लगें; यह सम्मान हम उनमें डर पैदा करके नहीं, बल्कि उन्हें अपनी अहिंसात्मक वाणी और क्रिया का असंदिग्ध प्रमाण देकर ही प्राप्त कर सकते हैं।

कार्यसमिति का प्रस्ताव जहां इस बात का सबूत है कि कांग्रेस हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सचाई के साथ प्रयत्न कर रही है, वहाँ वह काँग्रेसजनों के अनुशासन और उनकी अहिंसा की भी कसौटी है। हालाँकि प्रस्ताव में कोई ऐसी बात नहीं कही गई है, मगर कमेटी के इच्छानुसार सविनय-भंग के नियंत्रण तथा आयोजन का काम मेरे ऊपर छोड़ दिया है। यह कहनें की कोई ज़रूरत नहीं कि मेरे पास इससे सिवा कोई बल नहीं, न कभी था, कि रजिस्टर में दर्ज और ग़ैर-दर्ज कांग्रेस जनों का विशाल समूह कमेटी द्वारा, या जब 'यंगइंडिया' और 'नवजीवन' निकलते थे तब उनके द्वारा और अब 'हरिजन' और 'हरिजन-सेवक' के द्वारा जारी की गई हिदायतों पर जानबूझकर और स्वेच्छापूर्वक अमल करे। इसलिए जब मुझे मालूम हो कि मेरी हिदायतों पर कोई अमल नहीं होता, तो कांग्रेसजन देखेंगे कि मैं चुपचाप मैदान से हट जाऊँगा।

लेकिन अगर लड़ाई का आम नियन्त्रण मेरे हाथ में रहना हो तो मैं चाहूंगा कि अनुशासन का पूरी कड़ाई से पालन हो। जहांतक मैं देख सकता हूँ, जबतक कांग्रेसजन अहिंसा और सत्य पर पहले से ज्यादा ध्यान न देंगे और पूर्ण अनुशासन न दिखायेंगे तबतक किसी बड़े पैमाने पर सविनय-भंग की कोई सम्भावना नहीं है और जबतक अधिकारियों द्वारा हम इसके लिए बाध्य न किये जायें, उसकी कोई ज़रूरत भी नही पड़ेगी।

हम जीवन-मरण के युद्ध में प्रवृत्त हैं। हिंसा का वातावरण हमारे आसपास छाया हुआ है। देश के लिए यह भारी कसौटी की घड़ी है। घपलेबाज़ी से काम नहीं चलेगा। अगर कांग्रेसजनों को ऐसा लगे कि उनमें अहिंसा नहीं है, अगर वे अंग्रेज़ अधिकारियों के प्रति या कांग्रेस की मुख़ालिफ़त करनेवाले अपनें देशवासियों के प्रति अपनी कटुता को दूर न कर सकें, तो उन्हें खुलेआम यह कह देना चाहिए, और अहिंसा का परित्याग कर मौजूदा कार्यसमिति को बदल देना चाहिए। इससे कोई नुक़सान न होगा। लेकिन कमेटी और उसकी हिदायतों में विश्वास न रखते हुए उसे क़ायम रखने से बहुत बड़ी हानि होगी। जहाँतक मैं देख सकता हूं, सत्य और अहिंसा का कड़ाई के साथ पालन किये वग़ैर हिन्दुस्तान को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। अगर मेरी सेना ऐसी हो कि जिन शस्त्रों से मैं उसे सुसज्जित करूँ उनकी क्षमता में उसे संदेह हो, तो मेरे सेनापतित्व से कोई लाभ न होगा। अपने देश के शोषण का मैं वैसा ही पक्का दुश्मन हूँ जैसा कि कोई हो सकता है। विदेशी जुए से अपने देश को पूर्ण

मुक्त करने के लिए भी मैं उतना ही अधीर हूँ जितना कि कोई गरम-से-गरम कांग्रेसवादी हो सकता है। लेकिन एक भी अंग्रेज़ या भूमण्डल पर के किसी भी मानवप्राणी से मुझे कोई घृणा नहीं है। मित्रराष्ट्रों की अगर मैं मदद नहीं कर सकता, तो उनका सर्वनाश भी मैं नहीं चाहता। कांग्रेस की मेरी आशा पर ब्रिटिश सरकार ने बुरी तरह पानी फेर दिया है, मगर उनकी परेशानी से में कोई फ़ायदा नहीं उठाना चाहता।

मेरा प्रयत्न और मेरी प्रार्थना तो यही है और होगी कि यथासाध्य कम-से-कम समय के अन्दर आपस में लड़नेवाले राष्ट्रों के बीच सम्मानपूर्ण सुलह होजाय। मैंने यह आशा बांध रक्खी थी कि ब्रिटेन और हिंदुस्तान के बीच सम्मानपूर्ण सुलह और साझेदारी हो जायगी और जो भीषण रक्तपात मानवता को अपमानित कर खुद जीवन को ही भाररूप बना रहा है उससे बचने का रास्ता निकालने में शायद मैं अपना विनम्र भाग अदा कर सकूंगा। लेकिन ईश्वर की इच्छा तो कुछ और ही थी।

हरिजन सेवक, २८ अक्तूबर, १९३९.

: ५ :

अटपटी स्थिति

अधीर कांग्रेसजनों से मेरा कहना ह कि सविनय अवज्ञा का ऐलान करनें की तुरन्त मुझे कोई सूरत नहीं दीखती। अंग्रेज़ों को तंग करने ही के लिए तो सविनय-अवज्ञा हो नहीं सकती। वह उसी समय होगी जब निश्चित रूप से अनिवार्य हो जायगा। शायद सरकारी हलकों की तरफ़ से नाकों दम आजानें पर ही हो। मुझे वायसराय साहब या भारतमंत्री महोदय की ईमानदारी में संदेह नहीं ह। साथ ही मुझे इसमें भी कोई शक नहीं कि वे ग़लती पर हैं। इसका कारण यह ह कि वे जिस पुरानी लकीर पर चलने के आदी हैं वह उनसे छोड़ी नहीं जाती। हमें उन्हें सम्हलने के लिए समय देना चाहिए। हमें यहाँ की और बाहर की दोनों जनता को समझाकर सच्चा प्रचार-कार्य करना चाहिए। हमारे चारों तरफ़ जो ग़लतफ़हमी फैली हुई है—वह न सिर्फ़ अंग्रेज लोगों में ही है, बल्कि अपने देशवासियों में भी है—उसे एक दिन में दूर नहीं किया जा सकता। इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि कांग्रेसी मन्त्रियों ने मुसलमानों की शिकायतों पर काफ़ी ध्यान नहीं दिया। ग़ैरकांग्रेसी मुसलमानों की फ़रियादों पर तो अहिंसावादी कांग्रेसियों को ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिए। यह कहनें से कोई लाभ नहीं कि ये शिकायतें यूँ ही की जाती हैं। मैं खुद जानता हूँ कि बहुतसी शिकायतें यूँ ही की गई हैं। लेकिन हमें तो धीरज और अदब के साथ उन्हें गंभीर समझकर साफ़ तौर पर साबित करना चाहिए कि आरोप बेपाया हैं। मेरा मंशा यह नहीं ह कि उनके बारे में कोशिश ही नहीं की गई.। अभी तो मेरा सम्बन्ध उस बात से है जो किसी भी तरह पैदा हो चुकी है और वह यह है कि शिकायतें अबतक बनी हुई हैं। इसलिए हमें

यह प्रमाणित करने को समय देना पड़ेगा कि शिकायतों में कभी कोई तथ्य था ही नहीं। अगर आगे जाँच करने के सिलसिले में पता लगे कि हमसे भूलें हुई हैं, तो उनको ठीक करना चाहिए। हमें अपनें मुसलमान भाइयों और दुनिया को साबित कर देना चाहिए कि मुसलमानों या और किसीके एक भी उचित हित को क़ुर्बान करके कांग्रेस स्वाधीनता नहीं लेना चाहती। हमें कम तादादवालों को अपने साथ लेनें की खातिर कोई भी बात उठा नहीं रखनी चाहिए। इस तरह अपने में से कमज़ोरों के हकों की सूक्ष्म चिन्ता करना हमारी अहिंसा की अचूक शर्त्त है।

अगर यह सच है—और वह है—कि जातीय एकता न होने को आज़ादी के लिए रुकावट बताना अंग्रेज़ों के लिए ग़लत दलील है, तो यह भी उतना ही सच है कि कुछ भी हो यह फूट स्वराज तक पहुँचनें के हमारे रास्ते में एक बड़ी बाधा है। अगर मुस्लिम लीग और दूसरों को हम अपने साथ ले सकें तो हमारी मांग को पूरा होने से कौन रोक सकता है ?

यह बात तो हुई बाहरी कठिनाइयों की। जबतक हम इन्हें हल करने में काफ़ी समय नहीं लगा देंगे तबतक सविनय-अवज्ञा की कल्पना भी नहीं की जासकती।

लेकिन, हमारी भीतरी कमज़ोरियाँ भी कुछ कम नहीं हैं। मैं देखता हूँ, चर्खे और अहिंसा में प्राण-सम्बन्ध है। जैसे हथियारबन्द सिपाही में कम-से-कम कुछ गुण ज़रूर होनें चाहिए वैसे ही अहिंसात्मक सैनिक यानें सत्याग्रही-में कुछ दूसरे और शायद उलटे ही गुणों का होना अनिवार्य है। इन पिछले गुणों में से एक कताई और उसके पहले की क्रियाओं में काफ़ी कुशलता होना है। सत्याग्रही तो किसी उत्पादक काम में ही लग सकता है। लाखों मनुष्यों के लिए कताई से ज्यादा सीधा और अच्छा कोई और उत्पादक काम नहीं है। इतना ही नहीं, यह तो शुरू से ही हमारे अहिंसात्मक कार्यक्रम का एक ज़रूरी अंग रहा है। जिस सभ्यता का आधार अहिंसा है वह हिंसा के लिए संगठित हुई संस्कृति से भिन्न ही होना चाहिए। इस मौलिक सत्य के साथ कोई कांग्रेसी खिलवाड़ न करे। जो बात मैं हज़ारों बार कह चुका हूँ उसीको फिर दुहराता हूँ कि अगर करोड़ों आदमी स्वराज की खातिर और अहिंसा की भावना से कातने लगें तो शायद सविनय-अवज्ञा की ज़रूरत ही न पड़े। संसार में में यह एक बेमिसाल रचनात्मक प्रयत्न होगा। 'दुश्मन' को दोस्त बनानें का यह अचूक उपाय है।

हरिजन सेवक २ दिसम्बर १९३९.

: ६ :

सत्याग्रह की शर्तें

किसी भी सविनयभंग के जारी किये जाने से पहले पहली और अनिवार्य शर्त है सविनयभंग से सम्बन्ध रखनेवाले अथवा जनसाधारण, किसीकी भी तरफ़ से हिंसा फूट न निकलने का निश्चय। हिंसा के फूट निकलने पर यह कोई जवाब न होगा

कि वह सत्याग्रह-विरोधी किसी जमात की तरफ़ से भड़काई गई थी। यह ज़ाहिर रहना चाहिए कि हिंसा के वातावरण में सविनयभंग पनप नहीं सकता। इसका यह मतलब नहीं कि सत्याग्रही के साधनों या उपायों का ख़ात्मा होगया ह। सविनयभंग के सिवा दूसरे तरीक़े निकाले जाने चाहिएँ।

दूसरी शर्त यह है कि सविनयभंग ध्वंसात्मक अर्थात् देश के लिए हानिकारक नहीं होना चाहिए। इसलिए भंग किये जाने के लिए वही क़ानून चुने जायँ जो जनता के लिए हानिकारक हैं अथवा ऐसे क़ानून हों जिनके तोड़े जाने से जनता को तो कुछ नुक़सान न पहुँचे, लेकिन उसके कारण सम्भवतः अधिकारियों को काम अधिक करना पड़े।

तीसरे वह ऐसा आन्दोलन होना चाहिए जिसमें सबसे अधिक संख्या में लोग भाग ले सकें।

चौथे विद्यार्थियों को उसमें भाग लेने के लिए न तो बुलाया जाये, न उन्हें उसमें भाग लेने की इजाज़त दी जाये। आन्दोलन में गुप्तता न हो। अनुशासन के लिए अथवा और किसी बात के लिए जो कम-से-कम आवश्यकता निश्चित की जाये, सविनयभंग करने वाले को अपने को निश्चय ही उसके अनुकूल बना लेना चाहिए।"

हरिजन सेवक, २५ मार्च, १९३९.

: ७ :

अगला क़दम

जिम्मेदारी का बोझ मुझे इतना भारी कभी भी महसूस नहीं हुआ जितना कि मैं आज ब्रिटिश सरकार के साथ मौजूदा संकट के सम्बन्ध में महसूस कर रहा हूँ। कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों का स्तीफ़ा ज़रूरी था। मगर अगला क़दम क्या होगा यह किसी भी तरह साफ़ नहीं है। कांग्रेसजन किसी भारी आन्दोलन की आशा करते हुए जान पड़ते हैं। कुछ संवाददाता कहते हैं कि अगर मैं केवल आह्वान करूँ तो उसका इतना भारी भारतव्यापी जवाब मिलेगा कि जैसा इससे पहले शायद कभी नहीं था। और वे मुझे यक़ीन दिलाते हैं कि लोग अहिंसात्मक रहेंगे। उनके इस आश्वासन के अलावा मुझे उनके कथन के समर्थन में और कोई सबूत नहीं मिलता। बल्कि इसके विरोध में मेरे पास सबूत मौजूद हैं। इन पंक्तियों में उस सबूत के ही कुछ भाग का उल्लेख किया गया है। जबतक कि मुझे यह विश्वास न हो जाय कि कांग्रेसजन अहिंसा में, मय उसके फलितार्थों के, विश्वास रखते हैं और समय-समय पर जारी की गई हिदायतों का अविचल रूप से अनुकरण करते हैं, तबतक मैं किसी भी सविनय-भंग आन्दोलन में हिस्सा नहीं ले सकता।

कांग्रेस हलकों में अहिंसा पर अमल करने की अनिश्चितता के अलावा एक और

बहुत बड़ी बात यह है कि मुस्लिम-लीग कांग्रेस को मुसलमानों का दुश्मन समझती है। इससे कांग्रेस के लिए सविनय-भंग आन्दोलन के ज़रिये सफल अहिंसात्मक क्रांति को संगठित करना लगभग असम्भव सा हो जाता है। निश्चय ही उसका अर्थ हिन्दू-मुस्लिम दंगे होगा। इसलिए अहिंसात्मक शास्त्र का तक़ाज़ा है कि सविनय-भंग आन्दोलन को घटाकर ऐसे कम-से-कम शर्तों पर ले आया जाय जो राष्ट्रीय स्वाभिमान से मेल खाती हों। पहला हमला ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से ही किया जायगा। ऐसी नाज़ुक और लामिसाल स्थिति में किसी भी कांग्रेसजन को व्यक्तिगत रूप में या कांग्रेस कमेटियों को भी क़ानून को अपने हाथों में लेने की इजाज़त नहीं दी जा सकती। सिर्फ़ कार्यसमिति को ही सविनय भंग आन्दोलन की घोषणा और उसका संचालन करने का अधिकार चाहिए।

कार्यसमिति की रहनुमाई का काम मैंने अपने ऊपर ले लिया है। मगर मेरी शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं इधर-उधर घूम सकूं, जैसा कि मैं पहले करता था अब तो मेरे लिए यह असम्भव हो गया है। मैं लोगों के वाह्य सम्पर्क से बिल्कुल अलग जा पड़ा हूँ। यहांतक कि वर्तमान काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को मैं व्यक्तिगत रूप से जानता भी नहीं हूँ। मैं उनसे कभी नहीं मिलता। जहांतक हो सकता है, मेरा पत्र-व्यवहार कम करने की कोशिश की जाती है। इसलिए कांग्रेसजन जबतक साफ़तौर से अपना कर्तव्य और मेरी बताई प्रारम्भिक निष्क्रियता की ज़रूरत नहीं समझ लेते तबतक मेरा नेतृत्व न सिर्फ बेकार ही, बल्कि हानिकारक भी होगा। उससे गड़बड़ी पैदा हो जायगी। मेरी यह पुख़्ता राय है कि जबतक ब्रिटिश सरकार ही खुद अपनी कार्रवाई से वर्तमान युद्ध में कांग्रेस के लिए सहयोग करना नामुमकिन न करदे तबतक कांग्रेस को युद्ध के चलाने में उनके सामनें अड़चनें नहीं डालनी चाहिएँ। मैं देश में अराजकता नहीं चाहता। अराजकता के द्वारा स्वतंत्रता कभी प्राप्त नहीं होसकती। मैं न तो ब्रिटिश की पराजय चाहता हूँ और न जर्मनी की। यूरोप के लोग ज़बर्दस्ती युद्ध में घसीट लिये गये हैं, किन्तु वे जल्दी ही तंद्रा से जाग जायेंगे। जबतक सारी आधुनिक सभ्यता का विनाश न हो तबतक यह युद्ध अन्तिम हर्गिज़ नहीं होगा। चाहे जो हो, मेरी अपनी राय तो यह है कि मैं सविनय-भंग आन्दोलन को शुरू करनें की जल्दबाज़ी नहीं करूँगा। कांग्रेसजनों के लिए फिलहाल मेरी सलाह यह है कि वे अपने संगठन को मज़बूत बनाय और उसकी कमज़ोरियों को दूर करें। मैं कांग्रेस के उसी पुराने रचनात्मक कार्यक्रम का—याने साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण और चरखा-प्रचार का—समर्थक हूँ। यह बिल्कुल साफ़ है कि पहले दो के बग़ैर अहिंसा असम्भव है। अगर हिन्दुस्तान के गांवों को जिन्दा और सुखी रहना है तो चरखे का प्रचार सार्वत्रिक होना आवश्यक है। ग्रामीण संस्कृति का उद्धार चरखे और उससे सम्बन्धित तमाम गाम-उद्योगों के उद्धार के बिना असम्भव है। इस प्रकार चरखा अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है और शास्त्र का उसमें हरेक कांग्रेस-कार्यकर्ता का सारा समय लग सकता है। अगर यह बात उनको अपील नहीं करती तो या तो वे अहिंसा के बारे में नहीं जानते या फिर

में अहिंसा क, ख, ग, घ भी नहीं जानता। अगर मेरा चरखा-प्रेम मेरी एक कमजोरी है, तो वह कमज़ोरी इतनी मौलिक है कि मैं कांग्रेस के नेतृत्व के अयोग्य हूँ। चरखा मेरी स्वराज्य की योजना के साथ ही नहीं, बल्कि खुद मेरे जीवन के साथ बंधा हुआ है। स्वराज की इस आखिरी और निर्णयात्मक लड़ाई के समय मेरी योग्यतायें सम्पूर्ण भारत को जान लेनी चाहिएँ। हरिजन-सेवक, ११ नवम्बर, १९३९.

: ८ :

आवश्यक योग्यतायें

(राजकोट के सम्बन्ध में) चार दिन के उपवास ने मुझे सत्याग्रही के लिए आवश्यक योग्यताओं पर विचार करने का मौका दिया। यद्यपि १९२१ में उनपर सावधानीपूर्वक विचार किया जा चुका है और वे लेखबद्ध भी की जा चुकी हैं, लेकिन उन्हें भुला दिया गया मालूम होता है। क्योंकि कई रियासतों में सविनय-भंग के रूप में सत्याग्रह किया जा रहा है या करने का विचार चल रहा है, इसलिए उन योग्यताओं को दोहरा देना और अनेक कार्यकर्ताओं में फैले हुए ग़लत ख़यालों को दूर करना ज़रूरी है।

इसके अलावा, इस समय जबकि वातावरण में अहिंसा नहीं, बल्कि हिंसा व्याप्त हुई दिखाई देती है, सबसे ज्यादा सावधानी रक्खी जाने की ज़रूरत है। निस्सन्देह, वाजिबी तौर पर यह दलील की जा सकती है कि हिंसा से भरे वातावरण में अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है ; यहाँ तक कि अहिंसा को सर्वथा बेअसर बनाया जा सकता है, जबकि दावा यह है कि हिंसा का, फिर चाहे वह कितनी ही भीषण क्यों न हो, कारगर जवाब अहिंसा ही है। लेकिन जब वातावरण में अहिंसा व्याप्त हो रही हो, तब अहिंसा का प्रदर्शन सविनय-भंग के ज़रिये हो, तो वह उपयुक्त प्रतिबन्धों के के साथ होना चाहिए। सत्याग्रह में और खासकर वह भी उस समय, जबकि हिंसात्मक शक्तियां सर्वोपरि हो रही हों, संख्या का नहीं, हमेशा योग्यता का ही मूल्य है।

फिर अक्सर यह भुला दिया जाता है कि सत्याग्रही की अन्यायी को परेशान करने की इच्छा कभी नहीं होती। प्रतिपक्षी को डराने या दबाने की नहीं, बल्कि हमेशा उसके हृदय पर असर करने की वृत्ति होनी चाहिए। सत्याग्रही का उद्देश्य अन्यायी का हृदय-परिवर्तन करना है, उसे दबाना नहीं। उसे अपनी सब प्रवृत्तियों में बनावट से बचना चाहिए। उसे स्वाभाविक रूप में और आन्तरिक विश्वास के अनु-सार काम करना चाहिए।

इन बातों को विचारपूर्वक अपने ध्यान में रखते हुए पाठक शायद नीचेलिखी योग्यताओं को पसन्द करेंगे, जिन्हें मैं हिन्दुस्तान के प्रत्येक सत्याग्रही के लिए लाज़िमी समझता हूँ :

१. ईश्वर में उसकी सजीव श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि वही उसका आधार है।

२. वह सत्य और अहिंसा को धर्म मानता हो और इसलिए उसे मनुष्य-स्वभाव की सुप्त सात्विकता में विश्वास होना चाहिए। अपनी तपश्चर्या के रूप में प्रदर्शित सत्य और प्रेम के द्वारा वह उस सात्विकता को जाग्रत करना चाहता है।

३. वह चारित्र्यवान् हो और अपने लक्ष्य के लिए जान और माल क़ुरबान करने के लिए तैयार हो।

४. वह आदतन खादीधारी हो और कातता हो। हिन्दुस्तान के लिए यह लाज़िमी है।

५. वह निर्व्यसनी हो, जिससे कि उसकी बुद्धि हमेशा स्वच्छ और स्थिर रहे।

६. अनुशासन के नियमों का पालन करने में वह हमेशा तत्पर रहता हो।

७. उसे जेल के नियमों का, जोकि ख़ासतौर पर आत्मसम्मान को भंग करने के लिए न बनाये गये हों, पालन करना चाहिए।

यह न समझ लेना चाहिए कि इन शर्तों में ही सत्याग्रही की योग्यताओं की परिसमाप्ति हो जाती है। ये तो केवल दिशा-दर्शक हैं।

हरिजन-सेवक, २५ मार्च, १९३९.

: ९ :

सत्याग्रही कौन हो सकता है ?

सत्याग्रह के अर्थ का विचार करने से हमें मालूम होता है कि उसकी पहली शर्त यह है कि सत्याग्रही में सत्य का आग्रह—सत्य का बल—होना चाहिए; सत्याग्रही दोनों घोड़ों पर सवार नहीं हो सकता। ऐसा आदमी बीच में ही पिस जाता है। सत्याग्रह गाजर की तुरही नहीं है कि वह बजाली, नहीं तो चबा डाली। जो यह मानते हैं, वे भटक जाते हैं, रास्ता भूल जाते हैं। इस बात में जरा भी सार नहीं है कि वे ही लोग सत्याग्रह की लड़ाई लड़ते हैं, जिनके बदन में ताक़त नहीं है, अथवा जिनका शरीर-बल कुछ काम नहीं कर पाता और इसलिए जिन्हें बेबस होकर सत्याग्रही बनना पड़ता है। इस तरह की बातें करनेवाले को सत्याग्रह क्या चीज है, यह भी मालूम नहीं है। जिस्मानी ताक़त के मुक़ाबिले सत्याग्रह का तेज कहीं ज्यादा ह और उसके सामने जिस्मानी ताक़त एक तिनके के समान है। शरीर-बल में ख़ास बात यह है कि बलवान आदमी अपने शरीर के मोह को छोड़कर लड़ाई में जूझता है। याने वह डरपोक नहीं होता। मगर सत्याग्रही की नज़र में तो उसके शरीर का कोई मूल्य ही नहीं है। डर तो उसके पास फटक तक नहीं सकता। इसीलिए वह बाहरी हथियार से अपने को नहीं सजाता। और मौत से निडर बनकर मरते दम तक जूझता रहता है। अतएव सत्याग्रही में शरीर-बल की अपेक्षा हिम्मत अधिक होनी चाहिए। इस तरह सत्याग्रही के लिए सबसे पहली आवश्यकता है, सत्य का सेवन और सत्य में उसकी अखण्ड आस्था या श्रद्धा।

सत्याग्रही को धन-दौलत की ओर से लापर्वाह रहना चाहिए। दौलत और सचाई में सदा से अनबन रही है और आखिर तक रहेगी। जो धन से चिपटा रहता है वह सत्य की रक्षा नहीं कर सकता। ट्रांसवाल के बहुतेरे भारतीयों के उदाहरणों से हमें इसकी प्रतीति हो चुकी है। इसका मतलब यह नहीं है कि सत्याग्रही के पास धन हो ही नहीं सकता। दौलत उसके पास हो सकती है, पर पैसा उसका परमेश्वर नहीं बन सकता। सत्य की रक्षा करते हुए पैसा रहे तो अच्छी बात है, नहीं तो उसे हाथ का मैल समझ कर भुला देना चाहिए। और ऐसा करते हुए थोड़ी भी हिचकिचाहट न होनी चाहिए। जिसने अपने मन को इतना मजबूत नहीं बनाया है, वह सत्य का आग्रह कदापि नहीं कर सकता। अलावा इसके जिस देश के राजा के खिलाफ़ सत्याग्रह करना पड़ता है उस देश में सत्याग्रही के पास दौलत का होना एक आफत ही है। राजा का बल मनुष्य पर नहीं चलता, मगर उसकी दौलत या उसके डर पर ज़रूर कामयाब होता है। धन लूट लेने या शरीर को नुक़सान पहुँचाने की धमकी देकर राजा प्रजा से मनमाना काम करा लेता है। अतएव अत्याचारी राजा के राज्य में तो अकसर वे ही लोग धन बटोर सकते हैं, जो राजा की उसके अत्याचार में मदद करते हैं। सत्याग्रही अत्याचारी के अत्याचार में शामिल हो नहीं सकता, इसलिए ऐसे समय सत्याग्रही को ग़रीबी में ही अमीरी मान लेनी चाहिए।

इस बारे में इतनी बात और विचारने की है कि शरीर-बल की आज़माइश के वक्त भी इनमें की बहुतेरी बातों का मोह छोड़ देना पड़ता है। भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी सब सहने पड़ते हैं। कुनबेवालों की माया-ममता छोड़नी पड़ती है। धन-दौलत को भुला देना पड़ता है। बोअर लोगों ने अपनी शस्त्रास्त्र की लड़ाई में यह सब किया था। उनके शरीरी आग्रह में और हमारे सत्याग्रह में बड़ा फ़र्क़ यह है कि उनकी बाज़ी पासों की बाज़ी थी। सिवा इसके, वे अपनी जिस्मानी ताक़त के कारण मग़रूर भी बन गये थे। आधी जीत के मिलते-न-मिलते ही वे अपनी पहले की हालत को भूल गये। वे ज़ालिम के साथ ज़ालिमी हथियारों से लड़े। यही वजह है कि वे आज हम पर भी जुल्म ढारहे हैं। सत्याग्रही जब लड़ाई में जीतता है तो उसकी जीत का नतीजा उसके और दुश्मन या विरोधी दोनों के लिए अच्छा ही होता है। सत्य की रक्षा करते हुए सत्याग्रही कभी ज़ालिम या अत्याचारी बन ही नहीं सकता।

सत्याग्रही को कुटुम्ब की माया छोड़नी पड़ती है। यह काम बहुत टेढ़ा है; पर सत्याग्रह, जैसा कि उसका नाम है, उसकी अपेक्षा भी टेढ़ा है, तलवार की धार है। आखिर तो सत्याग्रह में भी कुटुम्ब के हित की रक्षा होती है। कारण, कुटुम्बियों के लिए भी सत्याग्रह की लगन लगने का अवसर आता है, और जिसे एक बार यह लगन लग जाती है उसे फिर किसी दूसरी चीज़ की इच्छा ही नहीं रहती। कोई खास तरह का कष्ट सहते समय, धन खोते समय, या जेल जाते समय इस बात का शोक या शक न होना चाहिए कि कुटुम्ब का क्या होगा। जिसने दाँत दिये हैं, वह चबाने को भी देगा। जो साँप, बिच्छू, शेर, भेड़िया वग़ैरा डरावने जन्तुओं या जानवरों को भूखा

नहीं रखता है, वह मनुष्य-जाति को भी भुला नहीं सकता। हम जो आँटे मारते हैं, सो सेर बाजरी या मुट्ठी भर धान के लिए नहीं, पर खट्टे-मीठे स्वाद के लिए। ठण्ड से बचने के लिए आवश्यक जैसे-तैसे कपड़ों के लिए नहीं, बल्कि रेशम-किमखाब के लिए। अगर हम इस लोभ को छोड़ दें तो कुटुम्ब के भरण-पोषण की चिन्ता बहुत कम रह जायगी।

इस तरह सत्याग्रही की योग्यता का विचार करते हुए आखिर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिसे अपने धर्म या दीन पर पूरी-पूरी आस्था है, वही सत्याग्रही हो सकता है। 'मुख में राम बगल में छुरी' आस्था नहीं कहलाती। दीन का नाम लेकर दीन के खिलाफ़ काम करना दीन नहीं। पर जो धर्म, दीन और ईमान की सचाई के साथ रक्षा करता है, वही सत्याग्रही हो सकता है। मतलब, जो आदमी खुदा या ईश्वर के भरोसे से सर्वस्व का त्याग करता है, उसके लिए दुनिया में कभी हार या पराजय है ही नहीं। लोगों के कहने से कि इसकी हार हुई है, वह हारा हुआ नहीं माना जाता; और लोगों के उसे विजयी मानने से वह विजयी भी नहीं बनता। इसे तो जो जानता है वही जानता है।

यह सत्याग्रह का सच्चा स्वरूप है। दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों ने इसे कुछ हद तक पहचाना है। पहचान कर थोड़ा इसका पालन भी किया है। इतना-सा प्रयत्न करके भी हम इसके अमूल्य रस को कुछ चख सके हैं। सत्याग्रह की खातिर जिसने अपना सब-कुछ छोड़ दिया है, उसने सब-कुछ पाया है। क्योंकि वह उसी में सन्तुष्ट रहता है। और सन्तोष ही सुख है। दूसरे सुख का किसे पता है ? जो भी है वह सब मृग-तृष्णा है; जितना उसे पाने के लिए आगे बढ़ते हैं, वह उतना ही अधिक दूर हटता जाता है।

इन सब बातों का विचार करके हरएक भारतवासी सत्याग्रही बने, यह हमारी इच्छा है। अगर इस हथियार को चलाना हमने सीख लिया तो अन्याय से होने वाले तमाम दुःखों को दूर करने के लिए इस-सा कारगर और कुछ न होगा। यह हथियार किसी एक जगह के लिए नहीं, बल्कि हमारे देश-भर के लिए बड़ा उपयोगी है। सिर्फ इसके सच्चे स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। इसे समझना सहल भी है और कठिन भी है। जब शरीर से बलवान् लोग भी इने-गिने ही होते हैं तो फिर सत्य के बल से बली तो विरले ही हो सकते हैं।

× × × ×

सत्याग्रह की लड़ाई में हारने या पछताने की कोई बात नहीं है। इस लड़ाई में आदमी का बल हमेशा बढ़ता ही जाता है। इसमें थकावट पैदा नहीं होती, बल्कि हर मंज़िल पर ताक़त बढ़ती ही जाती है। अगर हम सच्चे होंगे तो इस बार हमारे लोग बहुत अधिक काम कर गुजरेंगे, अपने नाम की रक्षा करेंगे और उनके गौरव को खूब बढ़ायेंगे।

हि० न०, ९ मार्च, १९३०.

: १० :

सत्याग्रही की नियमावली

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। इस आग्रह के रखनेवाले मनुष्य में अतुल बल आजाता है। इस बल को हम सत्याग्रह के नाम से पहचानते हैं।

अगर सत्य का आग्रह सच्चा है तो माता-पिता का, स्त्री-पुत्रादि का, राजा-प्रजा का और आखिरकार सारे जगत् का विरोध रहते हुए भी उसकी रक्षा करनी होती है।

इस तरह के व्यापक आग्रह के समय स्व-जन या परजन, बालक या बूढ़े, स्त्री या पुरुष का कोई भेद नहीं रहता। याने किसी के सामने शारीरिक बल का प्रयोग किया ही नहीं जा सकता। अतएव जो बल बाक़ी बच रहता है वह अहिंसा का—प्रेम का—बल ही हो सकता है। इस बल का दूसरा नाम आत्म-बल है।

प्रेम का बल दूसरों को नहीं जलाता; खुद ही जलता है। इसलिए सत्याग्रही में मरते दम तक हँसते-हँसते कष्ट सहने की शक्ति होनी चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी राज्य का अति घोर विरोध करते हुए भी सत्याग्रही मन से, वचन से, या काया से किसी भी अंग्रेज का न तो बुरा चाहेगा, न करेगा। इसी विचार-श्रेणी में से असहयोग, सविनयभंग इत्यादि उत्पन्न हुए हैं।

जो लोग सत्याग्रह की इस उत्पत्ति को याद रक्खेंगे वे सहज ही नीचे लिखे नियमों को समझ सकेंगे :—

१. सत्याग्रही किसी पर ग़ुस्सा न होगा।

२. वह विरोधी का ग़ुस्सा सह लेगा।

३. ग़ुस्सा सहने के साथ ही वह विरोधी की मार भी सह लेगा, पर उसे कभी नहीं मारेगा; और ग़ुस्से में वह जो उचित या अनुचित आज्ञा करेगा उसका भी मार-पीट के या किसी दूसरे डर से पालन नहीं करेगा।

४. सिपाही जब गिरफ्तार करने आवे तो खुशी-खुशी गिरफ्तार हो जायगा। अपनी जायदाद जब्त करने आवे तो खुशी-खुशी उसे दे डालेगा।

५. दूसरे की जायदाद अगर अपनी हिफ़ाज़त में होगी तो मरते दम तक उसकी रक्षा करेगा, मगर क़ब्ज़ा करने के लिए आनेवाले को नहीं मारेगा।

५. नहीं मारने का मतलब गाली भी नहीं देना है।

७. फलतः सत्याग्रही विरोधी का अपमान नहीं करेगा। आजकल के अनेक प्रचलित नारे या आवाज़ें हिंसक हैं, अतः सत्याग्रही के लिए वे सर्वथा त्याज्य हैं।

८. सत्याग्रही अंग्रेजी झंडे (यूनियन जैक) की सलामी नहीं उतारेगा, पर उसका अपमान भी नहीं करेगा। अधिकारी का किसी अंग्रेज का भी अपमान नहीं करेगा।

९. लड़ाई के समय यदि कोई किसी अंग्रेज़ का या सरकारी अधिकारी का अपमान करे या उसपर हमला करे तो सत्याग्रही अपनी जान को खतरे में डालकर भी उसकी रक्षा करेगा।

जेल-जीवन के बारे में

१०. क़ैद होने पर सत्याग्रही जेल के उन सब नियमों का पालन करेगा, जिनसे उसके स्वाभिमान को धक्का नही पहुँचता। वह अधिकारियों के प्रति भी विवेकपूर्ण वर्त्ताव रक्खेगा। मसलन, साधारणतः वह अधिकारी को सलाम करेगा, लेकिन अगर नाक रगड़ने को कहा जायगा तो नहीं रगड़ेगा। वह 'सरकार की जय बोलो' नहीं कहेगा। वह जेल में ऐसा भोजन करेगा, जो अच्छा हो और जिसमें उसे कोई धार्मिक आपत्ति भी न हो। पर कचरेवाला, सड़ा हुआ, मैले बरतन में परोसा हुआ या अपमान-पूर्वक दिया हुआ भोजन वह नहीं करेगा।

११. सत्याग्रही खूनी क़ैदी के और अपने ीच में कोई भेद-भाव नहीं पैदा करेगा। इसलिए वह अपने को उससे उच्च समझकर या कह कर अपने लिए खास सहूलियतें नहीं चाहेगा, पर शरीर या आत्मा की आवश्यकता के लिए ज़रूरी-सहूलियतें माँगने का उसे अधिकार होगा।

१२. जिन सहूलियतों के न मिलने से स्वाभिमान को धक्का नहीं पहुँचता है, उनके लिए सत्याग्रही उपवास वगैरा नहीं करेगा।

दल के बारे में

१३. सत्याग्रही अपने दल के सरदार की तमाम आज्ञाओं का, चाहे वे उसे पसन्द हों या न हों, खुशी-खुशी पालन करेगा।

१४. हुक्म के अपमानजनक, द्वेष-पूर्ण अथवा मूर्खतापूर्ण प्रतीत होने पर भी उसका पालन करने के बाद ही वह सरदार से उसकी शिकायत करेगा। सत्याग्रही को दल में शामिल होने से पहले शामिल होने की योग्यता का विचार कर लेने का अधिकार है। एकबार शामिल होजाने पर दल के कड़ुए और मीठे, सख्त और नरम सब नियमों का तथा उसके अनशासन का पालन करना धर्म हो पड़ता है। दल के समग्र व्यवहार में अनीति मालूम हो तो सत्याग्रही दल से स्तीफ़ा दे सकता है, किन्तु दल में रहकर नियम तोड़ने का उसे अधिकार नहीं है।

१५. किसी भी सत्याग्रही को किसी की तरफ़ से अपने ऊपर आधार रखनेवालों के भरण-पोषण की आशा नहीं रखनी चाहिए। अगर किसी के लिए कोई इन्तज़ाम हो सके तो उसे अनायास प्राप्त बात समझना चाहिए। अन्यथा सत्याग्रही तो अपने को और अपने आश्रितों को ईश्वर की शरण में छोड़ देगा। शरीर-बल या हथियारों से लड़े जानेवाले युद्ध में भी, जहाँ लाखों एकसाथ लड़ते हैं, कोई किसी के ऊपर आधार नहीं रखता। तो फिर सत्याग्रही युद्ध के बारे में तो पूछना ही क्या था?

सार्वभौम यानें सारे संसार का अबतक का यही अनुभव है कि ऐसों को ईश्वर ने भूखों नहीं मरने दिया है।

क़ौमी लड़ाई के बारे में

१६. सत्याग्रही जान-बूझकर क़ौमी कलह या लड़ाई का कारण कभी नहीं बनेगा।

१७. क़ौमी लड़ाई के छिड़नें पर वह किसी क़ौम की तरफ़दारी नहीं करेगा। न्याय जिसकी ओर होगा, वह उसी की मदद करेगा। अगर स्वयं हिन्दू होगा तो मुसलमान वग़ैरा क़ौमों के प्रति वह उदारता से पेश आयेगा और हिन्दुओं के आक्रमण से उनकी रक्षा करते हुए मर मिटेगा। अगर मुसलमान वग़ैरा हिन्दू पर हमला करते होंगे तो उनसे हिन्दू की रक्षा करते हुए वह अपनी जान दे डालेगा, लेकिन विरोध में किये गये हमले में कभी शामिल नहीं होगा।

१८. क़ौमी झगड़ों को पैदा करनेवाले अवसरों से वह जहाँतक हो सकेगा बचेगा।

१९. अगर सत्याग्रही कोई जुलूस निकालेगा तो ऐसा कोई काम न होने देगा, जिससे किसी क़ौम के धार्मिक भावों को चोट पहुँचे। और वह दूसरों के उस जुलूस में भी शामिल नहीं होगा जिससे किसी क़ौम के धार्मिक भावों पर आघात पहुँचता हो।

हि० न०, २७ फरवरी, १९३०.

: ११ :

सत्याग्रह का रहस्य

'सत्याग्रही कौन हो सकता है ?' इस प्रश्न का जवाब पा चुकने पर अब इसके रहस्य को समझ लेना आवश्यक है। इस रहस्य के समझ लेने पर सत्याग्रह की जीत के बारे में कोई उलझन ही पैदा नहीं हो सकती।

सत्याग्रही कई तरह की रियायतें ले सकता है, जिन्हें दूसरे लोग नहीं ले सकते। क्योंकि सत्याग्रही तो सच्चा मर्द बन जाता है। एक बार जहाँ वह मन से निडर बना कि फिर किसी की ग़ुलामी नहीं करता। इस स्थिति को प्राप्त कर लेनें के बाद वह किसी भी तरह के ग़ैरवाजिब बर्त्ताव के वश नहीं होगा। इस तरह का सत्याग्रह सिर्फ़ सरकार के खिलाफ़ ही नहीं, बल्कि देश या जाति के खिलाफ़ भी किया जा सकता है और करना चाहिए। अक्सर यह देखा गया है कि सरकार की तरह देश या जाति के लोग भी गुमराह हो जाते हैं, ग़लत रास्ता पकड़ लेते हैं। ऐसे समय उनके खिलाफ़ भी सत्याग्रह करना कर्त्तव्य हो पड़ता है। 'क़ानून की मुखालफ़त करने का फ़र्ज़' के लेखक स्वर्गीय थोरो नें अपनी क़ौम की मुखालफ़त की थी और उसका विरोध किया था। उन्होंने सोचा कि उनके देश-बन्धु ग़ुलामों के बेचनें का धन्धा करके बुरी राह पर चल रहे हैं। बस, इसलिए उन्होंनें अपनी क़ौम का विरोध किया। महान् लूथर ने अकेले

ही अपनी क़ौम की मुखालफ़त की थी, जिसके फलस्वरूप आज जर्मन-जाति आज़ादी का मज़ा लूट रही है। गेलीलियो ने भी अपनी क़ौम का विरोध किया था। उसकी क़ौम उसे मारने के लिए अमादा हो गई थी। तो भी उसने सीने पर हाथ रखकर दृढ़ता के साथ यही कहा कि "मुझे मारो या न मारो, पृथ्वी तो घूमती ही है।" आज हममें से हरेक जानता है कि पृथ्वी गोल है और चौबीस घण्टों में एक वार अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है। कोलम्बस ने अपने खलासियों के खिलाफ़ सत्याग्रह किया था। जब उसके साथी खलासी बहुत थक गये तो उन्होंने कहा—'अब अमेरिका का पता नहीं चलेगा, लौट चलो, नहीं तो मार डालेंगे।' धीर-वीर कोलम्बस ने जवाब दिया—'मरने का डर नहीं है; पर हमें अभी कुछ दिन और आगे वढ़ना चाहिए।' आखिर अमेरिका का पता चल गया और कोलम्बस अपने पीछे अमर-कीर्ति छोड़ गया।

इस सत्याग्रह की ऐसी अजीव करामत है। हमारा डरकर यह कहना कि 'सरकार फ़लाँ काम नहीं करेगी तो?' सत्याग्रह की कमज़ोरी प्रकट करना है। इससे तो मालूम होता है कि हम डरपोक बन गये हैं और सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र हमारे हाथों से छिन गया है। लेकिन हमारा सत्याग्रह तो हमें यह वता रहा है कि अव हम स्वतन्त्र होनेवाले हैं—आज़ाद बनने वाले हैं। इसलिए हमें किसी तरह का भय रखने की ज़रूरत नहीं है।

यह नियम पाया गया है कि जिस उपाय से जो चीज़ प्राप्त की जाती है, उसी उपाय से उसकी रक्षा भी होती है। ज़ोरो-ज़ुल्म से जो चीज़ हासिल की जाती है, उसकी रक्षा भी उसी तरीक़े से करनी पड़ती है। मस्लन, शेर ज़बरदस्ती किसी जानवर को पकड़ता है, और फिर उसी तरीक़े से उसकी हिफ़ाज़त भी करता है। जो जवरन-क़ैद किये जाते हैं, उनकी रक्षा भी जवरन ही की जाती है। जिस मुल्क को वादशाह जवर्दस्ती जीतता है, उसकी रक्षा के लिए भी उसे जवर्दस्ती ही करनी पड़ती है। ठीक इसी तरह जो चीज़ प्रेम से प्राप्त की जाती है, उसकी रक्षा भी प्रेम ही से होती है। माता वड़े प्रेम के साथ वालक को अपने उदर में रखती है और फिर उतने ही अधिक प्रेम से उसे पाल-पोस कर वड़ा करती ह। वचपन में माता के हाथ से उसे जो मार खानी पड़ती है, उसमें उसके साथ अत्याचार नहीं किया जा सकता और जव किसी कारणवश माता अपने वालक से प्रेम करना छोड़ देती है, तव वह वालक भी उसके हाथ से निकल जाता है। इसी तरह जो चीज़ सत्याग्रह द्वारा प्राप्त हुई है, उसकी रक्षा भी सत्याग्रह ही से हो सकती है। जव सत्याग्रह न रहेगा, तव यह निश्चय समझिये कि वह चीज़ भी न रहेगी जो चीज़ सत्याग्रह से मिलती है अगर कोई चाहे कि मैं उसकी रक्षा शरीर-वल से करलूँ, तो वह नहीं कर सकेगा। मान लीजिए कि हिन्दुस्तान सत्याग्रह के कारण जीतता है और फिर उसके फल को शरीर-वल से सुरक्षित रखना चाहता है—नतीजा इसका क्या होगा? एक नन्हा-सा वालक भी समझ सकता है कि उस हालत में शरीर-वल का प्रयोग करते ही हिन्दुस्तान

एक मिनिट में बरबाद हो सकता है। इसी तरह अगर सत्याग्रह को छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे तो जो प्राप्त हो चुका है उसे भी गँवाना पड़ेगा।

ऐसे चमत्कारपूर्ण सत्याग्रह की खूबी को हम नहीं समझते, यही वजह है कि हम अपने देश में कंगाल और नामर्द बनकर रह रहे हैं। यह बुराई सरकार के और हमारे बीच के व्यवहार में ही नहीं, बल्कि हमारे घरेलू जीवन में भी घुस चुकी है। देश की अनेक रूढ़ियों को, जिनकी बुराई साफ ज़ाहिर है हम आज भी सिर्फ इसीलिए नहीं तोड़ सकते कि हममें सत्याग्रह की कमी है। हम जानते हैं कि फ़लां चीज़ बुरी है, मगर फिर भी डर से, आलस्य के कारण या लज्जावश हम उसे छोड़ नहीं पाते। इन उदाहरणों से यह बात समझ में आजानी चाहिए कि सत्याग्रह मन की एक स्थिति है। जिसके मन में सत्याग्रह ने जड़ जमाली है, वह हर जगह, हर हालत में विजयी होता है। फिर भले ही उसके विरोधियों में राजा हो या प्रजा, अनजान आदमी हो या जान-पहचान वाले, पराये हों या अपने।

मैं हरएक भारतवासी को यह सलाह दूंगा कि वह इन विचारों के मर्म को ठीक-ठीक समझ ले। जो इन्हें समझ सकेंगे वे जीत के स्वरूप को भी पहचान सकेंगे, और फलतः भारतीय जनता को अब जो काम करने हैं, वह उन्हें कर सकेगी।

हि० न०, १३ मार्च, १९३०.

: १२ :

अभूतपूर्व संभावना

जिनका यह विश्वास है कि अहिंसा से ही भारत आज़ाद हो सकता है और आज़ादी मिल जाने पर अहिंसा से ही उसकी रक्षा की जा सकती है, वे यह भी ज़रूर मानेंगे कि आम लोग देश की खातिर जान-बूझकर कोई उपयोगी परिश्रम करके ही बड़े पैमाने पर अहिंसा का पालन कर सकते हैं। वह श्रम कौनसा है जिसे विशष पूंजी के बिना सभी आसानी से कर सकते हों और जिससे ज्ञानतन्तुओं को शान्ति मिलती हो ? निश्चय ही जवाब यह है वह उद्योग हाथ-कताई और उससे पहले की क्रियाएँ हैं। और यह है भी पूरी तरह स्वदेशी उद्योग। करोड़ों लोग इसे आसानी से सीख सकते हैं और इसका माल सदा हाथों-हाथ बिकता है। मिलें न हों तो सूत का महत्व घी जैसी चीज़ों के बराबर हो जाये और सूत के अकाल से वैसा ही कष्ट अनुभव होने लगे जैसा अनाज के अकाल से होता है। लोग इरादा करलें, तो बहुत परिश्रम के बिना ही वे अपना कपड़ा तैयार कर ले सकते हैं।

यूरोप के राज्यों में तो चूंकि लड़ाई एक मानी हुई प्रथा हो गई है, इसलिए वहां कुछ सालतक बालिग़ मर्दों से ज़बर्दस्ती फ़ौजी सेवा ली जाती है। जो देश लड़ाई की तैयारी के बग़ैर अपनी रक्षा करना और अपने जीवन के नियम बनाना चाहता है उसे वहां की जनता से राष्ट्र की उत्पादक सेवा करानी पड़ती है। किसी देश को जिन्दा रहने के

लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत होती है वे यदि किसी केन्द्रीय उद्योग से तैयार होती हैं तो उसे इस उद्योग की रक्षा का वैसा ही प्रबन्ध करने की आवश्यकता होगी जैसा कि एक पूँजीपति अपने धन की रक्षा के लिए करता है। इस तरह जिस मुल्क की सभ्यता की बुनियाद अहिंसा पर खड़ी हो उसे हर घर अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता होगी। एक ज़माने में भारतीय समाज की रचना, अनजाने ही सही, अहिंसा के आधार पर थी। समय-समय पर खूँखार जातियों के झुंड इस देश पर चढ़कर आते थे पर हमारे घरेलू जीवन याने गाँव की शान्ति-भंग न होती थी। अंग्रेज इतिहासकार मेन ने सिद्ध किया है कि हिन्दुस्तान के गांव प्रजातन्त्र-समूह थे। वहां कोई बड़ा-छोटा न होता था। सभी बराबर मानें जाते थे।

कांग्रेसवादियों को यह दलील स्वीकार न हो, तो मेरी राय में ऐसी अहिंसा स्थापित करना असंभव है, जिसपर किसी भी लालच का असर न हो सके और जो भारी-से-भारी मुसीबतों के सामने भी चट्टान की तरह खड़ी रह सके। ऐसी अहिंसा के विना देश इस तरह की लड़ाई नहीं लड़ सकता, जिसमें न पीछे हटनें का काम हो और न हार खानें का। न इसके बिना कांग्रेस कभी अंग्रेज़ों और दुनिया के सामनें अपना अहिंसा का दावा ही साबित कर सकती है।

कांग्रेस की अहिसा जिस तरह शासकों के प्रति रखी गई है उसी तरह उन सब के प्रति रखनी है, जो इस महान् संस्था से डरते या नफ़रत करते हैं या उसपर सन्देह रखते हैं। मुझे कुछ भी शक नहीं है कि ऐसी व्यापक अहिंसा के न होने से ही हम क़ौमी एकता क़ायम नहीं कर सके। सच तो यह है कि कांग्रेसवादी आपस के व्यवहार में भी इस तरह की अमली अहिंसा का परिचय नहीं दे सके हैं। और मेरा तो यहाँतक विश्वास हो रहा है कि खादी के कार्यक्रम में हमारी जितनी कसर रहेगी उतनी ही कमी हमारी अहिंसा में रहेगी। हमारा विश्वास दोनों में ही कच्चा रहा है। मैं चाहता हूँ कि हमारी श्रद्धा दोनों में पक्की हो और फिर देखिए, कांग्रेस का कोई बाल भी बाँका कर सकता है ? फिर तो शायद कांग्रेस को भारत की आज़ादी हासिल करने के लिए सविनय-भंग की अग्नि-परीक्षा में से भी न गुज़रना पड़े।

हरिजन सेवक, ९ दिसम्बर, १९३९.

: १३ :

सत्याग्रह कैसे ?

सविनय-भंग किसी तरह अनिवार्य रूप से अगला क़दम नहीं है। वह तो परिस्थितियों की विविधता पर निर्भर करता है। युद्ध-संचालन की कला में—और तब और भी ज्यादा जबकि युद्ध अहिंसात्मक हो—निष्क्रियता अक्सर सबसे अधिक प्रभावकारी क्रिया होती है।

अहिंसा का स्थान सत्याग्रहशास्त्र में केन्द्रीय है। १९२० में यह हुआ कि कांग्रेस ने राजनीति को जान-बूझकर मूलभूत नीति और आवश्यक समाज-सुधार से जोड़ दिया। कांग्रेस इस निर्णय पर पहुँची कि अहिंसा और अमुक निश्चित सामाजिक सुधारों के बगैर, मद्य-निषेध और अस्पृश्यता-निवारण के बिना, स्वराज हासिल नहीं किया जा सकता। अपने आर्थिक कार्यक्रम के केन्द्र-स्थान में उसनें चर्खा भी रखा। निस्संदेह, उसनें तबके प्रसिद्ध राजनैतिक कार्यक्रम, याने पार्लमेण्टरी प्रोग्राम से परहेज़ रक्खा। अतः कांग्रेस की राजनीति में नीति को दाखिल करना कांग्रेस की आज़ादी की लड़ाई के साथ असंगत नहीं था, न है। यह तो उसका जिगर है। उस वक्त थोड़े-से लोग ज़रूर इसपर कुड़कुड़ाये। लेकिन भारी बहुमत नें इस कार्यक्रम का स्वागत किया। कांग्रेस के सारे गौरवपूर्ण इतिहास में यह अपूर्व चीज़ थी। इस कार्यक्रम ने आश्चर्यकारक पैमाने पर लोक-जागृति की। कांग्रेस ने वह महत्त्व पाया, जो उसे पहले कभी नहीं मिला था। इस कार्यक्रम को कांग्रेस नें जबसे ग्रहण किया, वह एक भारी लोकतंत्रीय संस्था बन गई, और एक ऐसा लोकतंत्रीय विधान बनाया जो आजतक क़ायम है, और जिसमें कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया गया, जो बहुत भौतिक और मूलभूत हो।

कांग्रेस का काम दुहेरा है। शान्ति के वक्त वह प्रजातंत्रीय संस्था है और युद्ध के वक्त वह एक अहिंसात्मक सेना बन जाती है। अपनें इस दूसरे रूप में मताधिकार का महत्त्व नहीं रहता। उस समय तो जो भी उसका प्रधान हो उसके द्वारा उसकी इच्छा प्रदर्शित होती है। और उस हालत में उसकी हरेक इकाई को मन, वचन, कर्म से स्वेच्छापूर्वक उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। हाँ, मन से भी, क्योंकि उसकी लड़ाई अहिंसात्मक लड़ाई है। **हरिजन-सेवक,** १८ नवम्बर, १९३९.

: १४ :

स्वराज की ख़ातिर कातो

उस दिन कुछ लड़के-लड़कियाँ मेरे पास आये और मेरे हाथ का लिखा माँगने लगे। वे कोई सन्देश भी चाहते थे। उन सबको मैंनें यह सन्देश दिया, 'स्वराज की खातिर कातो।' क्योंकि अभी तो मेरे दिमाग़ में सिवा कताई और स्वराज के और कुछ नहीं है। मैं तो यह समझे हुए था कि कहीं मेरे इन नौजवान मुलाक़ातियों को यह जानकर दुख न हो कि उन्हें साधारण उपदेश न मिलकर एक ऐसा सन्देश मिला जिसमें कोई चीज़ पैदा करने के लिए कहा गया ह और वह भी कताई जैसी एक नीरस चीज़। मगर मेरे पूछने पर वे बोले, 'हम कातेंगे'।

श्री सीताराम शास्त्री लिखते हैं कि लोग उनसे चर्खे वग़ैरा माँग रहे हैं। एक और मित्र, जो पुराने जेल-यात्री हैं, कहते हैं कि मुझे निश्चित रूप से एक साल सिर्फ़ कताई और खादी का सब जगह प्रचार कर देने के काम में ही लगाना चाहिए।

इसके विपरीत, मुझे बम्बई के एक वकील का एक पत्र मिला ह :—

"'अगर आप हँसे नहीं तो मैं बग़ैर किसी संकोच के कहूँगा कि वह कार्यक्रम सबके कातने का है'—ये शब्द आपने युक्तप्रांत के काँग्रेसजनों को कहते हैं, जिनमें आपके ही कहने के मुताबिक 'कुछ ऐसे भी थे, जो चर्खे और अहिंसा का मज़ाक उड़ा चुके थे।' मगर यह देखकर आपके अचरज का पार न रहा कि वे 'दोनों ही चीज़ों से राज़ी हो गये हैं,' इसीसे आपको परेशानी होती है।

"युक्तप्रांत के इन कांग्रेसी भाइयों की वकालत का दावा न करते हुए भी मैं कहूँगा कि क्या अधिकांश कांग्रेसवाले आपके ऐसे बयानों का अमली विरोध नहीं करते, जैसे, 'अगर करोड़ों स्वराज की ख़ातिर और अहिंसा की भावना से कातने लगें, तो शायद सविनय-भंग की ज़रूरत ही न पड़े।' इसी तरह जब आप मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करने पर ज़ोर देते हैं, तब भी वे चुप रहते हैं, हालाँकि वे जानते हैं कि ऐसा अमल असंभव है और आप इस चीज़ के चाहनेवाले होकर भी यह मानते हैं कि आप खुद भी अभी उस मंज़िल पर नहीं पहुँचे हैं। इस तरह के रवैये का कारण सिर्फ़ यह ह कि आप काँग्रेस की ताक़त की निशानी बन गये हैं। आम लोगों की नज़र में 'गांधी' और 'कांग्रेस' में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए स्वाधीनता की लड़ाई की मौजूदा स्थिति में काँग्रेसवाले ऐसे ज़बर्दस्त हथियार को खोने के लिए तैयार नहीं हैं। कांग्रेस में से 'गांधी' निकल जाये तो उसकी ताक़त पहले से आधी भी न रहे। इस सचाई को सभी लोग समझते हैं और यही वजह है कि जिसे, आप श्रद्धा के बिना आज्ञा मानना कहते हैं? वह करके भी लोग आपको कांग्रेस से अलग होने देना नहीं चाहते। यह तो मुख्य कारण हुआ। वैसे, कांग्रेस संस्था के भीतर पेच-पर-पेच भरे ह। क़ई तरह के अलग-अलग विचार करनेवालों के सिवाय नरम और गरम तो हैं ही। नरमों को गरमों और उनके समाजवादी सिद्धान्तों का बड़ा डर है। वे आपके नाम का जादू पहचानते हैं और उसे आम लोगों में पहुँचाने के गरम आर्थिक तरीक़े के मुकाबिले में इस्तेमाल भी खूब करते हैं। हम यह अजीब दृश्य भी देखते हैं कि जब मिल-मालिक 'खादी' की हिमायत करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि कैसे बिलकुल साधारण मनुष्य भी अपने निजी स्वार्थ के विरुद्ध आचरण करने का ढोंग रचते हैं। ऐसा क्यों होता है? एक बड़े अर्थशास्त्री नें जिनपर आपकी कृपा है, मुझसे कहा है कि आप पूंजीपतियों के अन्तिम सहारे हैं। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि खादी कभी इतनी सस्ती होनेवाली नहीं है कि साधारण लोग ले सकें और इसलिए उनके स्वार्थों को कोई ख़तरा नहीं। इसके विपरीत, 'खादी' और 'अहिंसा' के उसूलों के लिए ज़बानी सहानुभूति दिखाकर वे अपने मज़दूरों के साथ बर्ताव करते वक़्त आपके 'रक्षक सिद्धान्त' का फ़ायदा उठा सकते हैं और जो मजूर-संघ अहमदाबाद के तरीक़े पर काम करते हैं उनके सिवाय सब मजूर-संघों का चलना असंभव बना सकते हैं। आज तो यह हाल ह कि पूँजीपति और ज़मींदार ही क्या, राजा भी (सब नहीं) अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार 'अहिंसा' 'सत्य' वग़ैरा शब्दों के सपाटे मार रहे हैं।

"रही बात गरमों की, सो वे भी नरमों से किसी तरह कम नहीं है। उन्हें भी सर्वसाधारण में घुसने के लिए आपके नाम का सहारा चाहिए। यही कारण है कि कांग्रेस में उनकी भीड़ मच रही है। नीति के तौर पर अहिंसा स्वीकारने में उन्हें कोई हर्ज नहीं दीखता। आपको खुश रखने के लिए तो वे यह भी कह सकते हैं कि वे इससे राज़ी हो गये हैं। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि कांग्रेसवालों में बहुत लोग सच्चे दिल से आपके ध्येय को माननेवाले हैं, मगर ज्यादातर अपना-अपना मतलब साधने के लिए ही हैं।

"मैं यह नहीं कह सकता कि कांग्रेसवालों को आपसे मैं ज्यादा जानता हूँ। मैं तो उल्टा आपकी इन बातों से असमंजस में पड़ गया हूँ कि 'आपके अचरज का पार नहीं' और आप 'परेशान' हैं। हां, यह बात दूसरी है कि जैसा आप कहते हैं कि आप 'सेगाँव में पड़े हैं', इसलिए आपका जनता से सीधा सम्पर्क नहीं है। आदरणीय गांधीजी मैं आपसे सच कहता हूँ, अगर आप साधारण और साधारण से ऊँचे भी मनुष्यों के स्वाभाविक हेतुओं का ध्यान भर रखकर चलें, (और काँग्रेसवाले मनुष्य ही हैं) तो आपका 'अचरज' और 'परेशानी' इसी तरह ग़ायब हो जायँगे, जैसे सूरज की तेज़ किरणों के आगे सुबह का कोहरा छिन्न-भिन्न हो जाता है।"

लेखक की दलील में ज़ोर है, इससे मैं इनकार नहीं कर सकता। मगर मैंने, जबतक बेईमानी साफ़ ज़ाहिर ही न हो जाये, जीवनभर, साथी कार्यकर्त्ताओं की बात को जैसा उन्होंने कहा वैसा ही माना है। इस तरह भरोसा करके मैंने कुछ खोया नही है। इसके विपरीत, मुझे ऐसे कई आदमियों के उदाहरण याद हैं कि जिन्होंने शुरूआत आधे दिल से की है और अन्त में वे पूरे उत्साही बन गये हैं। जब बहुत आदमियों से काम लेना हो, तो अविश्वास रखकर चलना ग़लत नीति है।

जो मिल-मालिक मुझे चर्खे के लिए भी रुपया देते हैं वे साफ़ कह देते हैं कि उन्हें चर्खे की स्पर्धा का डर नहीं है। मैं नहीं समझ सकता कि वे हमारे काम को कैसे नुक़सान पहुँचा सकते हैं। उनका जो भी हेतु है, वह स्पष्ट है। छिपा हुआ कुछ नहीं है। अगर चर्खे का अर्थशास्त्र ग़लत है, तो चर्खा अपनी ही मौत मर जायगा; मगर राष्ट्र चाहे तो जिस वक्त एक भी मिल बाक़ी नहीं रहेगी उस समय भी चर्खा ज़िन्दा रहेगा। मिल के कपड़े के मुक़ाबिले में खादी मँहगी है। मगर वह हिन्दुस्तान के लाखों बेकारों को थोड़ा-सा भी उपयोगी काम देती है—जैसाकि वह देती है, तो वह मिल के कपड़े से सस्ती है।

बम्बई के वकील ने जो कुछ कहा है वह सही हो तो, क्या बात है जो आम लोगों का मुझपर इतना प्रेम है और मैं काँग्रेस की ताक़त की निशानी हूँ? क्या इस सवाल का जवाब इस सूर्य की भाँति प्रकाशमान सचाई से नहीं मिल जाता कि मैं शुद्ध अहिंसा का प्रतिनिधि हूँ? भोली-भाली जनता ने अनजाने और सहज ही मुझे अपना मित्र, सेवक और नेता मान लिया है। वे मुझे अपना समझें या मैं उन्हें अपना समझूँ, इसमें कभी कोई दिक्क़त पेश नहीं आई। क्या यहाँ और क्या दक्षिण

अफ़्रीक़ा में, मुझे उन्हें अपनी तरफ़ खींचने के लिए कभी कोशिश नहीं करनी पड़ी। इसका कारण मैं तो प्रेम की अद्भुत शक्ति ही समझता हूँ।

मुझे यह स्वीकार करने में शर्म नहीं लगती कि बहुत-से धनिक मेरे प्रति मित्रभाव रखते हैं और मुझसे डरते नहीं। वे जानते हैं कि मैं भी पूँजीवाद का बिल्कुल नहीं तो लगभग उतना ही अन्त चाहता हूँ जितना कि बहुत आगे बढ़े हुए समाजवादी या साम्यवादी चाहते हैं। पर हमारे तरीक़े जुदा हैं। हमारी भाषा भी दूसरी है। अमीर लोग ग़रीबों के रक्षक बन जायें, यह मेरा सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो काम निकालने के लिए आज गढ़ लिया गया है। इसमें धोखेबाज़ी तो क़तई नहीं है। मुझे विश्वास ह कि और सब सिद्धान्त मिट जायँगे तब भी यह तो रहेगा ही।

इसके पीछे तत्वज्ञान और धर्म दोनों की छाप है। अगर अभीतक धनवानों ने इसपर अमल नहीं किया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह सिद्धान्त झूठा ह। इससे तो धनवानों की अयोग्यता साबित होती है। बात यह ह कि अहिंसा के साथ और किसी सिद्धान्त का मेल नहीं बैठता। अगर मनुष्य-स्वभाव इसके अनकूल नहीं बनता, तो भी कोई बिगाड़ होनेवाला नहीं। अहिंसा का मार्ग ही ऐसा है कि उसमें बुराई करनेवाला अगर अपनी ग़लती ठीक नहीं करता तो वह अपनी मौत आप ही बुला लेता है; कारण या तो अहिंसात्मक असहयोग द्वारा उसे अपनी ग़लती का भान करा दिया जाता है या वह बिल्कुल अकेला पड़ जाता है। हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि समाजवादी और गरम लोग इतने दूरदर्शी ज़रूर हैं कि जब कुछ कराने का समय आयेगा तब मेरे रास्ते में रुकावट नहीं डालेंगे। वे जानते हैं कि मेरा तरीक़ा अगर सफल हुआ तो ग़रीबों और पीड़ितों को उससे सुख ही मिलेगा। अभी उनके अपने साधन तो तैयार नहीं हैं और उनमें इतना देश-प्रेम भी है कि तबतक वे मेरे काम में दखल नहीं देंग। इसलिए मुझे जिस चीज़ से सावधान रहना है वह ह मक्कारी।

इसकी कसौटी मेरी नज़र में चर्ख़ा है। मेरे पास कोई ऐसी सरल परीक्षा नहीं है जिससे मैं यह जान सकूँ कि किसी कांग्रेसवाले ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता बढ़ाने या अछूतपन मिटाने का कितना काम लिया है। मगर यह मैं आसानी से पता लगा सकता हूँ कि उसनें काता कितना है या किसी ख़ास प्रदेश में ख़ादी कितनी चल निकली है। इसलिए जिन मित्र ने मुझसे चाहा है कि मैं सिर्फ़ खादी-कार्य के लिए ही कुछ वक्त निकाल रक्खूँ, उनकी सलाह मैंने बिल्कुल मान ही नहीं ली है। मैं तो नतीजे से ही निर्णय करना चाहता हूँ कि कुल कितना प्रयत्न किया गया। मैंने गणित के अनुसार हिसाब लगाकर अन्तिम रूप साबित कर दिया है कि ख़ुद कातकर ग़रीब-से-ग़रीब देहाती भी खादी पहन सकते हैं। कम-से-कम पूँजी और संगठन की मेहनत से अधिक-से-अधिक तादाद में गांववालों की जेब में इतना पैसा पहुँचाने की जो शक्ति कताई और उसके साथ की क्रियाओं में है वह शक्ति और किसी भी देहाती दस्तकारी में नहीं है।

कांग्रेसवालों को जान लेना चाहिए कि जबतक मुझे इस बात का पक्का सबूत

नहीं मिल जायगा कि हिन्दुस्तान भर में खादी का काम सफलता के साथ हुआ है तबतक, और दूसरी सब कठिनाइयाँ दूर हो जायें तो भी, मुझे सत्याग्रह जैसी कोई कार्रवाई करने के लिए अपने पर या काँग्रेसवालों पर विश्वास नहीं होगा। यह तो तभी होगा जब काँग्रेसवालों की भारी तादाद दिल से, डटकर और ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करे। इसलिए मैं कहता हूँ कि स्वराज के लिए कातो।

हरिजन सेवक, १६ दिसम्बर, १९३९.

: १५ :

'हमारी प्रतिज्ञा'[1]

यह आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेसजन कार्यसमिति के उस प्रस्ताव को, जिसमें २६ जनवरी के लिए प्रतिज्ञा भी दी हुई है न सिर्फ़ जबानी ही, बल्कि दिल से भी याद कर लेंगे। यह प्रतिज्ञा सन् १९३० में की गई थी। १० साल का समय थोड़ा नहीं होता। कांग्रेसजन सन् १९२० के रचनात्मक कार्यक्रम पर ईमानदारी और दिलो-जान से अमल करते तो पूर्ण स्वराज कभी का आ गया होता, क़ौमी एकता हो गई होती, हिन्दूधर्म शुद्ध हो गया होता और हिन्दुस्तान के गांवों में आज प्रफुल्लित चेहरे दिखाई देते। इन सब बातों से मिलकर ऐसी शक्ति पैदा हुई होती कि किसकी मजाल थी जो स्वाधीनता के रास्ते में रोड़े अटका सकता।

मगर यह दुखदायी और सच्ची बात माननी ही पड़ेगी कि कांग्रेसवालों ने उस कार्यक्रम को जैसा होना चाहिए वैसा पूरा नहीं किया है। उनका यह विश्वास नहीं रहा कि यह तिहेरा कार्यक्रम ही अमली अहिंसा है। उनको यह भरोसा नहीं रहा कि इस कार्यक्रम को पूरा किये बग़ैर सविनय-भंग का आन्दोलन सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता।

इसलिए मैंने इस पत्र में यह कहने में अनाकानी नहीं की है कि हमारी अहिंसा नामर्दी से पैदा होनेवाला अहिंसात्मक व्यवहार रही है। यही सबब है कि आज हमें झख मारकर यह क़बूल करना पड़ता है कि भले ही कमज़ोरी की इस अहिंसा से हमें अंग्रेज़ी राज से छुटकारा मिल जाये, पर इससे हममें विदेशी हमले का मुक़ाबिला करने की शक्ति नहीं आ सकती। इस बात से—और बात यह सच्ची है—ज़ाहिर होता है कि अगर कमज़ोरों की इस अहिंसा के सामने, जिसे अहिंसा कहना ही ग़लत है, अंग्रेज़ लोग झुक जायें तो यह साबित हो जायेगा कि उन्होंने सत्ता छोड़ने का निश्चय-सा कर लिया था और अमनपसन्द प्रजा को भयभीत करने की जोखम उठा कर वे उससे चिपटे नहीं रहना चाहते। काँग्रेसवालों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए, अगर मैं उस वक़्त तक सविनय-भंग का ऐलान न करूँ जबतक कि मेरे दिल को यह भरोसा न

१. 'स्वतन्त्रता-दिवस की प्रतिज्ञा' परिशिष्ट नं० ५ में दी हुई है।

हो जाये कि उन्होंनें अहिंसा का अर्थ पूरी तरह समझ लिया है और वे इस तिहेरे कार्य-क्रम को उतनी ही लगन के साथ चला रहे हैं जितनी लगन के साथ वे जिसे सविनय-भंग कहा जाता है उसे करना चाहते हैं। शायद अब उनकी समझ में आ जायगा कि मैं कायक्रम के तीनों हिस्सों को अहिंसा के जरूरी अंग क्यों कहता हूँ।

क़ौमी भाईचारे से मेरा क्या मतलब है ? जब जिन्ना-नेहरू बातचीत पार नहीं पड़ी तो यह भाईचारा होगा कैसे ? वह टूट भी जाये और न भी टूटे। मगर क़रारनामे तो बड़े आदमियों के लिए हैं। उनसे साधारण लोगों, करोड़ों पददलितों को क्या ? इन लोगों में भाईचारा बढ़ाने के लिए लिखा-पढ़ी की ज़रूरत नहीं होती। क्या कांग्रेसवादी रानैजतिक हेतु छोड़ कर सबके लिए सद्भाव पैदा करते हैं ? यह भ्रातृ-भाव स्वाभाविक होना चाहिए, डर या काम निकालने के ख़याल से नहीं होना चाहिए। यह भाईचारा सगे भाइयों का-सा होना चाहिए। उसमें कोई छिपी ग़रज़ नहीं होती, इसीलिए वह स्वाभाविक और स्थाई होता है। यह भी बात नहीं होनी चाहिए कि यह भाईचारा हिन्दू और मुसलमानों में ही हो। यह तो सबके साथ होना चाहिए। हममें से छोटे-से-छोटे के साथ भी होना चाहिए, अंग्रेज़ों के साथ भी होना चाहिए और राजनैतिक विरोधियों के प्रति होना चाहिए।

दूसरी बात है अछूतपन दूर करने की। इसका बड़ा गहरा अर्थ है। हिन्दुओं में ऊँच-नीच का जो खयाल है उस खयाल की जड़ उखाड़ देनी चाहिए। अपनी-अपनी जाति की एकता की जगह राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा होनी चाहिए। कांग्रेसवालों में तो ये भेद-भाव गई-बीती बातें हो जानी चाहिएँ।

रहा चरखा, सो यह क़रीब २० साल खादी के बने राष्ट्रीय झंडे पर विराजमान है। फिर भी खादी सब जगह नहीं फैली है। जब खादी ने कांग्रेस को अपना लिया है तो जबतक हिन्दुस्तान के कोनें-कोनें और घर-घर में खादी न पहुँच जाये तबतक कांग्रेस-वादी चैन से नहीं बैठ सकते। ऐसा होने पर ही यह खुशी से दिये हुए सहयोग और एक इरादे की प्रबल निशानी बनेगी। यह देश के ग़रीब-से-ग़रीब लोगों के साथ एकरस होने का चिन्ह है। अबतक तो कांग्रेसवालों ने खादी से खिलवाड़ ही किया है। उन्होंने उसके सन्देश में श्रद्धा नहीं रक्खी है। उन्होंने अक्सर इसे इच्छा न होते हुए भी ख़ाली दिखावे के लिए इस्तेमाल किया है। पर अगर सच्ची अहिंसा को हमारे भीतर पैठना है, तो खादी हमारे लिए एक जीती-जागती चीज़ हो जानी चाहिए।

हरिजन सेवक, २४ दिसम्बर, १९३९.

नहीं मिल जायगा कि हिन्दुस्तान भर में खादी का काम सफलता के साथ हुआ है तबतक, और दूसरी सब कठिनाइयाँ दूर हो जायें तो भी, मुझे सत्याग्रह जैसी कोई कारंवाई करने के लिए अपने पर या काँग्रेसवालों पर विश्वास नहीं होगा। यह तो तभी होगा जब काँग्रेसवालों की भारी तादाद दिल से, डटकर और ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करे। इसलिए मैं कहता हूँ कि स्वराज के लिए कातो।

हरिजन सेवक, १६ दिसम्बर, १९३९.

: १५ :

'हमारी प्रतिज्ञा'[१]

यह आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेसजन कार्यसमिति के उस प्रस्ताव को, जिसमें २६ जनवरी के लिए प्रतिज्ञा भी दी हुई है न सिर्फ़ ज़बानी ही, बल्कि दिल से भी याद कर लेंगे। यह प्रतिज्ञा सन् १९३० में की गई थी। १० साल का समय थोड़ा नहीं होता। कांग्रेसजन सन् १९२० के रचनात्मक कार्यक्रम पर ईमानदारी और दिलो-जान से अमल करते तो पूर्ण स्वराज कभी का आ गया होता, क़ौमी एकता हो गई होती, हिन्दूधर्म शुद्ध हो गया होता और हिन्दुस्तान के गांवों में आज प्रफुल्लित चेहरे दिखाई देते। इन सब बातों से मिलकर ऐसी शक्ति पैदा हुई होती कि किसकी मजाल थी जो स्वाधीनता के रास्ते में रोड़े अटका सकता।

मगर यह दुखदायी और सच्ची बात माननी ही पड़ेगी कि कांग्रेसवालों ने उस कार्यक्रम को जैसा होना चाहिए वैसा पूरा नहीं किया है। उनका यह विश्वास नहीं रहा कि यह तिहेरा कार्यक्रम ही अमली अहिंसा है। उनको यह भरोसा नहीं रहा कि इस कार्यक्रम को पूरा किये बग़ैर सविनय-भंग का आन्दोलन सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता।

इसलिए मैंने इस पत्र में यह कहने में अनाकानी नहीं की है कि हमारी अहिंसा नामर्दी से पैदा होनेवाला अहिंसात्मक व्यवहार रही है। यही सबब ह कि आज हमें झख मारकर यह क़बूल करना पड़ता ह कि भले ही कमज़ोरी की इस अहिंसा से हमें अंग्रेज़ी राज से छुटकारा मिल जाये, पर इससे हममें विदेशी हमले का मुक़ाबिला करने की शक्ति नहीं आ सकती। इस बात से—और बात यह सच्ची है—ज़ाहिर होता है कि अगर कमज़ोरों की इस अहिंसा के सामने, जिसे अहिंसा कहना ही ग़लत ह, अंग्रेज़ लोग झुक जायें तो यह साबित हो जायेगा कि उन्होंने सत्ता छोड़ने का निश्चय-सा कर लिया था और अमनपसन्द प्रजा को भयभीत करने की जोखम उठा कर वे उससे चिपटे नहीं रहना चाहते। काँग्रेसवालों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए, अगर मैं उस वक़्त तक सविनय-भंग का ऐलान न करूँ जबतक कि मेरे दिल को यह भरोसा न

१. **'स्वतन्त्रता-दिवस की प्रतिज्ञा' परिशिष्ट नं० ५ में दी हुई है।**

हो जाये कि उन्होंनें अहिंसा का अर्थ पूरी तरह समझ लिया है और वे इस तिहेरे कार्य-क्रम को उतनी ही लगन के साथ चला रहे हैं जितनी लगन के साथ वे जिसे सविनय-भंग कहा जाता है उसे करना चाहते हैं। शायद अब उनकी समझ में आ जायगा कि मैं कायक्रम के तीनों हिस्सों को अहिंसा के जरूरी अंग क्यों कहता हूँ।

क़ौमी भाईचारे से मेरा क्या मतलब है? जब जिन्ना-नेहरू बातचीत पार नहीं पड़ी तो यह भाईचारा होगा कैसे? वह टूट भी जाये और न भी टूटे। मगर क़रारनामे तो बड़े आदमियों के लिए हैं। उनसे साधारण लोगों, करोड़ों पददलितों को क्या? इन लोगों में भाईचारा बढ़ाने के लिए लिखा-पढ़ी की ज़रूरत नहीं होती। क्या कांग्रेसवादी रानैजतिक हेतु छोड़ कर सबके लिए सद्भाव पैदा करते हैं? यह भ्रातृ-भाव स्वाभाविक होना चाहिए, डर या काम निकालने के ख़याल से नहीं होना चाहिए। यह भाईचारा सगे भाइयों का-सा होना चाहिए। उसमें कोई छिपी ग़रज़ नहीं होती, इसीलिए वह स्वाभाविक और स्थाई होता है। यह भी बात नहीं होनी चाहिए कि यह भाईचारा हिन्दू और मुसलमानों में ही हो। यह तो सबके साथ होना चाहिए। हममें से छोटे-से-छोटे के साथ भी होना चाहिए, अंग्रेज़ों के साथ भी होना चाहिए और राजनैतिक विरोधियों के प्रति होना चाहिए।

दूसरी बात है अछूतपन दूर करने की। इसका बड़ा गहरा अर्थ है। हिन्दुओं में ऊँच-नीच का जो ख़याल है उस ख़याल की जड़ उखाड़ देनी चाहिए। अपनी-अपनी जाति की एकता की जगह राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा होनी चाहिए। कांग्रेसवालों में तो ये भेद-भाव गई-बीती बातें हो जानी चाहिएँ।

रहा चरखा, सो यह क़रीब २० साल खादी के बने राष्ट्रीय झंडे पर विराजमान है। फिर भी खादी सब जगह नहीं फैली है। जब खादी ने कांग्रेस को अपना लिया है तो जबतक हिन्दुस्तान के कोनें-कोने और घर-घर में खादी न पहुँच जाये तबतक कांग्रेस-वादी चैन से नहीं बैठ सकते। ऐसा होने पर ही यह ख़ुशी से दिये हुए सहयोग और एक इरादे की प्रबल निशानी बनेगी। यह देश के ग़रीब-से-ग़रीब लोगों के साथ एकरस होने का चिन्ह है। अबतक तो कांग्रेसवालों ने खादी से खिलवाड़ ही किया है। उन्होंने उसके सन्देश में श्रद्धा नहीं रक्खी है। उन्होंने अक्सर इसे इच्छा न होते हुए भी खाली दिखावे के लिए इस्तेमाल किया है। पर अगर सच्ची अहिंसा को हमारे भीतर पैठना है, तो खादी हमारे लिए एक जीती-जागती चीज़ हो जानी चाहिए।

हरिजन सेवक, २४ दिसम्बर, १९३९.

: १६ :

मेरा चर्खा

मैं समाजवादियों, रायपन्थियों और दूसरे भाइयों को बधाई देता हूँ कि उन्होंने कताई के बारे में अपने दिल की बात साफ़-साफ़ कहदी। देश के सामने निहायत गंभीर परिस्थिति है। अगर छाती ठोककर सविनय-भंग का ऐलान किया जाये तो जबतक ठीक तरह से निबटारा न होजाये तबतक वह स्थगित नहीं होना चाहिए। इसलिए नतीजा यह निकलता है कि अगर हमारी लड़ाई को अहिंसक रहना है तो उस अहिंसा में कोई मिलावट नहीं होनी चाहिए। इसके लिए हमें जिन-जिन बातों की ज़रूरत है उनके बताने में मुझे कमज़ोरी नहीं दिखानी चाहिए। अगर मैं संकोच कर जाऊँ तो राष्ट्र के साथ विश्वसघात होगा। मैं ऐसी सेना का नायक बनने की हिम्मत नहीं कर सकता जिसमें वे गुण न हों जिन्हें मैं सफलता के लिए ज़रूरी समझता हूँ।

पूरी वफ़ादारी के बिना काम नहीं चल सकता। आधा दिल इधर और आधा दूसरी तरफ़ होगा तो हमारा सत्यानाश हो जायेगा। आलोचकों को समझ लेना चाहिए कि मैंने अपने को कांग्रेस के सर पर थोपा नहीं है। भले ही कृपालु मित्रों ने मुझे बदनाम करने के लिए सर्वसत्ताधारी (डिक्टेटर) की उपाधि देदी है, मगर मैं हूँ नहीं। किसीपर भी अपनी इच्छा लादने की मेरे पास कोई ताक़त नहीं है, इसीलिए मैं अपने को जनता का सेवक कहता हूँ। और यह सच है। जनता को मालूम होना चाहिए कि मुझे तो ज़ाब्ते से प्रधान सेनापति बनाया भी नहीं गया है। इसका यह सबब नहीं है कि कार्यसमिति मुझे बाक़ायदा मुक़र्रर करना चाहती नहीं। मगर बात यह है कि मैंने ही सुझाया कि इसकी ज़रूरत नहीं है और कार्यसमिति के सदस्यों ने मेरी बात मानली। इस प्रकार कहीं और कभी किसी सिपहसालार के और उसके सिपाहियों के बीच में शुद्ध प्रेम और विश्वास का गठबंधन हो सकता है तो वह यहां मौजूद है। वैसे कांग्रेस मेरी पर्वाह न करे और जो चाहे प्रस्ताव पास करदे तो उसे कौन रोक सकता है? जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, कोई व्यक्ति, प्रान्त या ज़िला अपनी ज़िम्मेदारी पर सविनय-भंग का ऐलान करदे तो भी कोई रुकावट नहीं है। अलबत्ता, ऐसा करनेवाले कांग्रेस का अनुशासन तोड़ने के अपराधी होंगे। पर इस तरह की हुक्मउदूली के बारे में मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ।

इन बातों को देखते हुए कताई के पक्ष में दलीलें देना मेरे लिए ज़रूरी नहीं होना चाहिए। इतना कहना काफ़ी होना चाहिए कि यह वह शर्त है जिसे हर सत्याग्रही को पूरा करना चाहिए।

पर जबतक मैं विरोधियों को अपनी राय का न बनालूँ या हार न मानलूँ तबतक मुझे दलीलें देते ही रहना चाहिए। इसका सबब है। मेरे जीवन का यह ध्येय है कि

राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सभी तरह के आपसी ताल्लुक़ात में अहिंसा से ही काम लिया जाये, इस राय के हिन्दू, मुसलमान और दूसरे सभी हिन्दुस्तानी, अँग्रेज़ भी और अन्त में दुनियाभर के लोग होजायें। मुझे कोई ज़रूरत से ज्यादा महत्वाकाँक्षी होनें का दोष देगा तो में अपना क़सूर मान लूँगा। लेकिन अगर मुझे कोई यह कहेगा कि तुम्हारे सपनें कभी सच्चे होनेवाले नहीं हैं, तो मैं जवाब दूंगा—'हो सकते हैं', और अपना काम करता रहूँगा। में अहिंसा का मँजा हुआ सिपाही हूँ और मुझे इसका इतना प्रमाण ज़रूर मिला है कि उसके आधार पर मेरी श्रद्धा क़ायम रह सके। यही कारण है कि मुझे एक साथी मिले, ज्यादा मिलें या एक भी न मिले तो भी मेरा प्रयोग तो जारी रहेगा ही।

पहली बात जो मैं चाहूँगा, कि साथी लोग अच्छी तरह समझलें, यह है कि मेरे दिल में एक भी अंग्रेज़ के लिए घृणा नहीं है। मैं उसको हिन्दुस्तान से नहीं निकालना चाहता। मैं इतना ही चाहता हूँ कि वह शासक या शासक जाति का न रहे, अपने को ऐसा समझना छोड़ दे और हिन्दुस्तान का सेवक बन जाये। उसके लिए मेरा भाव ठीक वही है जो एक हिन्दुस्तानी के लिए है, फिर भले ही उसका धर्म कुछ भी हो। इसलिए जिन लोगों में मेरी तरह यह पहला गुण न हो वे सत्याग्रह में मेरे साथी नहीं बन सकते।

अँग्रेज़ों के प्रति मेरा प्रेम ऐसा नहीं है कि मैं उनके लिए ज़बान से मीठी-मीठी बातें कहूँ। उनके साम्राज्य की जितनी बुराई मैंने की है उससे अधिक शायद ही और किसीने की होगी। लेकिन साथ ही, मैंने अपने घरवालों और राजनैतिक हलके के लोगों के बारे में भी वैसा ही किया है। प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर हो सकता है। मेरी पत्नी को इस कठोरता का अनुभव है। मेरा बड़ा लड़का अब भी इसका अनुभव कर रहा है मैंने सोचा था कि सुभाषबाबू को मैंने सदा के लिए पुत्र के रूप में पा लिया है, मगर वह मुझसे रूठ बैठे हैं। उनपर प्रतिबन्ध लगाने के काम में मैं कठोर होकर पूरी तरह शामिल था। एक ज़माना था, जब डॉक्टर खरे और वीर नरीमान कहा करते थे कि आपकी ज़बान ही हमारे लिए कानून है। अफ़सोस, आज मैं वह अधिकार खो बैठा हूँ। कुछ भी हो, उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई करनें में मैं शरीक था। मैं मानता हूँ कि मैंने उनके साथ वही सलूक किया है जो मैं अपने नज़दीक-से-नज़दीक और प्यारे-से-प्यारे समझे जानेवाले लोगों के साथ कर चुका हूँ। मेरे सारे व्यवहार में प्रेम की ही प्रेरणा रहती है। अँग्रेज़ों के साथ भी मेरा बर्ताव इसी तरह का रहा है। हाँ, उन्होंने जब-जब मेरी उनसे लड़ाई हुई है मुझे तरह-तरह की गालियाँ दी हैं। उनकी कड़ी टीका का मुझ पर उतना ही असर हुआ है जितना उनकी तारीफ़ का। ये सब बातें मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मेरी कोई बड़ाई करे। इसका न मुझे हक़ है और न मैं आशा रखता हूँ। मैं तो इतना बताना चाहता हूँ कि चूंकि मैंने अँग्रेज़ों की हुकूमत और उनके तरीक़ों के बारे में कड़वी बातें कही हैं, इसलिए मुझ पर यह इल्ज़ाम नहीं लगाया

जाना चाहिए कि मैं अँग्रेज़ों से द्वेष रखता हूँ। जिन लोगों के दिल में अंग्रेज़ों के लिए द्वेष-भाव भरा है उनकी मेरी पटेगी नहीं।

मैं यहाँ कोई नये विचार नहीं प्रकट कर रहा हूँ। 'हिन्द स्वराज'[१] में ये मौजूद हैं। वह पुस्तक तो १९०८ में लिखी गई थी। उस समय तो सत्याग्रह का शास्त्र बन ही रहा था। मगर चर्खा इस प्रेम के कार्यक्रम का अंग उस वक्त भी बन चुका था। जब मैं अपने दिमाग़ में यह चित्र तैयार कर रहा था कि अहिंसा के आधार पर कैसा जीवन बनना चाहिए तभी मुझे पता चल गया था कि ऊँचे विचारों के साथ मेल खाते हुए रहन-सहन सादे-से-सादा होना चाहिए। रोटी और कपड़ा जीवन की पहली ज़रूरतें हैं और सदा रहेंगी। इन दोनों के मिलने का भरोसा न हो तो जीना असंभव है। इस कारण समाज की अहिंसक रक्षा करना हो तो उसकी बनावट ऐसी होनी चाहिए कि बाहरी हमले का मुक़ाबिला करना हो या भीतरी झगड़ों का, जहाँ तक हो सके इन दो बातों के बारे में समाज के सब लोग स्वावलम्बी होने चाहिएँ। इस दृष्टि से जैसे घर का रसोईखाना ऐसी परिस्थितियों में सबसे सरल उपाय है, ठीक उसी तरह कपड़ा तैयार करने के लिए तकली या अधिक-से-अधिक चर्खा और करघा सादा-से-सादा चीज़ें हैं। अहिंसा के पाये पर बने हुए समाज में गाँवों में बसे हुए छोटे-छोटे समूह ही हो सकते हैं और वे स्वाभिमान और शान्ति के साथ तभी ज़िन्दा रह सकते हैं जब उनमें आपस में स्वेच्छापूर्वक सहयोग हो। इसके विपरीत, जिस समाज में हिंसा से हिंसा का सामना करने की गुंजायश और छूट हो उसका जीवन या तो चिन्ताजनक रहेगा या उसे बचाव के लिए बड़े-बड़े शहर और तोपखाने खड़े करने होंगे। यूरोप की आज जो हालत है उसपर से यह मान लेना बेजा नहीं है कि वहाँ के शहरों, भीमकाय कारखानों और बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रों का आपस में इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरा क़ायम ही नहीं रह सकता। जिस सभ्यता की बुनियाद अहिंसा पर खड़ी होगी उससे मिलती-जुलती व्यवस्था वैसी होगी जैसी अभी कलतक हिन्दुस्तान की ग्राम-पंचायतों में पाई जाती थी। मैं मानता हूँ कि उसका रूप भद्दा-सा था। मैं यह भी जानता हूँ कि उसमें मेरी व्याख्या और कल्पना की अहिंसा नहीं थी। मगर उसमें बीज मौजूद था। मैंने जो कुछ कहा है वह निरी मूर्खता भी हो सकती है। अगर ऐसा ही है तो मेरे जैसे सच्चे राष्ट्र-सेवक को यह शोभा नहीं दे सकता कि मैं अपनी बेवकूफ़ी को छिपाऊँ। इसमें कोई शक नहीं कि बहुत जल्द बड़े-बड़े परिवर्तन होने को हैं। मुझे आशा तो यही है कि उनसे भलाई होगी, पर बुराई भी हो सकती है। ऐसे वक्त में अपने साथियों का सहयोग खो देने का जोखिम उठाकर भी अपने गुप्त-से-गुप्त विचार तक उनपर प्रकट कर देने का मुझमें साहस होना चाहिए।

हाँ, तो मैं यह दलील दे रह था कि उस बीज में से ही मैंने अहिंसा का शास्त्र बनाया है। चर्खे का जो अर्थ मैंने समझा है वह सही है, तो सत्याग्रह के शस्त्रागार में चर्खा ही सबसे कारगर हथियार रह जाता है। चर्खे से निकलनेवाला कच्चा धागा

१. सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित : मूल्य =)

करोड़ों स्त्री-पुरुषों में प्रेम का अटूट सम्बन्ध बाँध देता है। इस सूत का एक धागा भले ही बेकार हो, मगर जब इसी सूत के करोड़ों धागे दिल से और जानकार हाथों से काते जायँगे और उनका अनन्त ताँता बँध जायेगा तब उनसे ऐसी मज़बूत रस्सी तैयार होगी जो कितना ही ज़ोर सह सकती है। मगर सन् १९०८ से १९१४ तक इस कल्पना पर अमल नहीं हो सका। यह सारी योजना बनी तो थी हिन्दुस्तान के लिए ही, फिर भी इसकी भावना के अनुसार काम दक्षिण अफ़्रीका में भी हुआ। वहाँके सत्याग्रहियों का जीवन सादा-से-सादा बन गया था। चाहे बैरिस्टर हो चाहे और कोई, सबने हाथ से काम करने का महत्त्व जान लिया था। उन्होंने अपनी इच्छा से गरीबी की ज़िन्दगी बिताना स्वीकार कर लिया था और ग़रीबों के साथ एकरस हो गये थे। हिन्दुस्तान में आते ही मैंनें अकेले दम चर्खे को फिर से सजीवन करने का काम शुरू कर दिया। १९२१ में खादी कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक मुख्य अंग बन गई। काँग्रेस के झण्डे का अहिंसा के साथ जीवन-प्राण का सम्बन्ध हो गया और चर्खा उस झण्डे के बीचोंबीच विराजमान हुआ। इसलिए आज मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। मगर अक्सर बात यह हुई कि लोगों ने उस वक्त तक मेरे कहने पर ध्यान नहीं दिया, जब तक उन्हें उसपर अमल न करना पड़ा।

जिन-जिन साथियों ने चर्खे और उसके फलितार्थों के विरुद्ध समय-समय पर कुछ भी लिखा है उनका मुझे बड़ा लिहाज़ है। वे अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार देश को रास्ता दिखाकर सेवा ही कर रहे हैं। मैं नहीं चाहता कि जो बातें मैं आवश्यक समझता हूँ उन्हें वे बिना सोचे-समझे यों ही मानलें। इससे देश का काम बनता हो तो मैं ऐसा भी करलूँ, मगर मैं जानता हूँ कि इससे राष्ट्र का कोई फ़ायदा नहीं।

हरिजन-सेवक, ९ जनवरी, १९४०.

: १७ :

अमली अहिंसा

डॉक्टर राममनोहर लोहिया लिखते हैं :—

"क्या आज़ादी की प्रतिज्ञा का यह अर्थ है कि स्वतन्त्र भारत के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था में विश्वास रखा ही जाय, जिसकी बुनियाद सिर्फ़ चरखे और मौजूदा रचनात्मक कार्यक्रम पर होगी? मुझे खुद को तो ऐसा लगता है कि ऐसी बात नहीं है। प्रतिज्ञा में चरखा और गाँवों की दस्तकारियाँ शामिल हैं, मगर यह बात नहीं है कि प्रतिज्ञा में दूसरे उद्योगों और आर्थिक प्रवृत्तियों की गुंजाइश ही नहीं। इन उद्योगों में बिजली, जहाज़ बनाने, कलें तैयार करने आदि का नाम लिया जा सकता है। फिर भी यह सवाल रह जाता है कि ज़ोर किसपर दिया जायें। इस बारे में प्रतिज्ञा से सिर्फ़ इस हदतक फ़ैसला होता है कि इतना विश्वास रखना तो ज़रूरी है कि चरखा

और ग्रामउद्योग भावी समाज-व्यवस्था के ऐसे हिस्से होंगे जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता और उनपर से विश्वास हटाकर दूसरे उद्योगों पर विश्वास नहीं रखा जा सकता।

"क्या प्रतिज्ञा से तुरन्त यह ज़रूरी हो जाता है कि और सब कारवाई करना छोड़ दिया जाये और सिर्फ़ वही की जाये जिसका आधार मौजूदा रचनात्मक कार्यक्रम पर हो ? मुझे तो ऐसा लगता है कि यह ज़रूरी नहीं। लगान, कर, ब्याज और जनता की प्रगति के रास्ते में और भी जो आर्थिक रुकावटें हैं उनके विरुद्ध आन्दोलन करने में तो कोई बाधा नहीं दिखाई देती। मिसाल के लिए, यह नामुमकिन नहीं है कि जब आप सत्याग्रह शुरू करना पसन्द करें तब आप खुद ही लगानबन्दी और करबन्दी का आन्दोलन करने का निश्चय करें। आप सचमुच ऐसा करें या न करें, प्रतिज्ञा की दृष्टि से इसका इतना महत्व नहीं है, जितना इस बात का कि आप कर सकते हैं। कुछ भी हो, आज तो आर्थिक ढंग के आन्दोलन की छूट है।

"ये दोनों सवाल तो प्रतिज्ञा के इस पहलू से पैदा होते हैं कि क्या-क्या नहीं किया जा सकता। एक तीसरा सवाल इस बारे में खड़ा होता है कि क्या-क्या करना ज़रूरी है। बेशक, यह आवश्यक है कि जो कोई प्रतिज्ञा ले उसे समाज की अर्थ-व्यवस्था एक जगह केन्द्रित न करने के उसूल में अपना क्रियात्मक विश्वास ज़ाहिर करने को तैयार रहना चाहिए। इस विश्वास का असली रूप क्या हो, यह भले ही कालप्रवाह के साथ तय हो सकता है। प्रतिज्ञा लेनेवाले को सिर्फ़ चरखे के बारे में इतना विश्वास होना चाहिए कि कपड़े का उद्योग थोड़े लोगों के हाथों से पूरी तरह निकालकर अधिक-से-अधिक लोगों के हाथों में दिया जा सकता है और इसके लिए कोशिश भी होनी चाहिए।

"मैंने आलस्य और दूसरे कारणों से होनेवाली व्यवहार की अनियमितताओं का बिलकुल ज़िक्र नहीं किया है। ऐसा तो सभी प्रतिज्ञाओं और श्रद्धाओं के बारे में होता है। सिर्फ़ ऐसी ग़लतियों को दूर करने की इच्छा ज़रूर होनी चाहिए। मैं नहीं जानता कि प्रतिज्ञा का यह अर्थ सही है या नहीं और आपको स्वीकार हो सकता या नहीं। मुझे यह भी पता नहीं कि मेरे समाजवादी साथियों को यह पसन्द आयेगा या नहीं। शायद आपकी राय जल्दी मालूम होना देश के लिए अच्छा होगा। मगर पहले ही इतनी देर हो चुकी है कि स्वाधीनता-दिवस के लिए तो यह राय काम नहीं आ सकेगी।"

जो बात मैं कई बार कह चुका हूँ उसे दोहराने की ज़रूरत तो नहीं है, मगर वह बात यह है कि प्रतिज्ञा का क़ानूनी और अधिकारपूर्ण अर्थ तो कार्यसमिति ही बता सकती है। मेरे बताये हुए अर्थ का महत्त्व वहींतक है जहाँतक कि लोगों को मान्य है।

संक्षेप में, मैं इतना कह सकता हूँ कि डॉक्टर लोहिया का लगाया हुआ अर्थ मंजूर कर लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। कांग्रेस की कोशिश का अन्त में कुछ भी परिणाम निकले, प्रतिज्ञा के बारे में जो चर्चा हो रही ह उससे जनता को अच्छी राज

नीतिक शिक्षा मिल रही है और देश में अलग-अलग विचार के लोगों की राय स्पष्ट होती जा रही है।

हालांकि मोटेतौर पर डॉ० लोहिया से मेरी राय मिलती है, फिर भी यह अच्छा होगा प्रतिज्ञा का अपना अर्थ मैं अपनी ही भाषा में बतादूं। प्रतिज्ञा में सारी बातें नहीं आई हैं। इससे तो यही मालूम होता है कि कार्यसमिति कहाँतक मेरे साथ जा सकती थी। अगर देश का दृष्टिकोण मैं अपना-सा बना सका तो आयंदा समाज-व्यवस्था की बुनियाद ज्यादातर- चरखे और उससे निकलनेवाले सारे फलितार्थों पर खड़ी की जायेगी। उसमें वे सब चीज़ें शामिल होंगी जिनसे देहातियों की भलाई हो। लेखक ने जिन उद्योगों का ज़िक्र किया है जबतक वे देहात और देहाती जीवन का गला न घोंटने लगें तबतक उन उद्योगों का स्थान भी रहेगा। मेरी कल्पना में यह ज़रूर है कि देहात की दस्तकारियों के साथ-साथ बिजली, जहाज बनाना, कलें तैयार करना और इसी तरह के दूसरे उद्योग भी रहेंगे। मगर कौन मुख्य और कौन गौण रहे, इसका क्रम उलट जायेगा। आजतक बड़े-बड़े कारखानों की योजना इस तरह बनती रही है जिससे गाँवों और ग्राम-उद्योगों का नाश हुआ। आनेवाली शासन-व्यवस्था में बड़े उद्योग गाँवों और उनकी कारीगरी के मातहत रहेंगे। मैं समाजवादियों की इस मान्यता से सहमत नहीं हूँ कि जब बड़े कारखानों की योजना बनानेवाला और उसका मालिक राज्य हो जायेगा तब जीवन के लिए जरूरी चीज़ें बड़े कारखानों में तैयार करने से आम लोगों का भला होगा। हेतु तो पश्चिमी और पूर्वी दोनों तरह की कल्पना में एक ही है, यानी यह कि सारे समाज को अधिक-से-अधिक सुख मिले और जिस घिनौने भेदभाव के कारण एक तरफ़ करोड़ों नंगे-भूखे और दूसरी ओर मुट्ठीभर मालदार रहते हैं वह भेदभाव मिट जाये। मेरा विश्वास है कि यह उद्देश्य तभी सफल हो सकता है जब संसार के अच्छे और विचारशील लोग मानलें कि अहिंसा के आधार पर ही न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था रची जा सकती है। मेरी राय में ग़रीबों के हाथ में हिंसा द्वारा सत्ता लाने की कोशिश अन्त में पार नहीं पड़ेगी। जो चीज़ हिंसा से हासिल की जाती है वह उससे बढ़कर हिंसा के सामने नहीं टिक सकती और हाथ से निकल जाती है। अगर कांग्रेसवादी अहिंसा के अपने ध्येय पर सच्चे रहें और उसपर अमल करें तो भारत का उद्देश्य पूरा हुआ ही समझना चाहिए। इस सचाई की परीक्षा है रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करना। जो लोग आम जनता के विचारों को भड़काते हैं वे जनता और देश दोनों का नुक़सान करते हैं। उनका हेतु ऊँचा होता है, इस बात से यहाँ सरोकार नहीं। कांग्रेसवादी रचनात्मक कार्यक्रम पर पूरी तरह और सचाई के साथ अमल क्यों नहीं करना चाहते? जब सत्ता हमारे हाथ में आ जायेगी तब दूसरे कार्यक्रमों पर विचार करने का वक्त आयेगा। मगर हम तो शेखचिल्ली ठहरे। दन्त-कथा है न कि भैंस खरीदने से पहले ही उसके बटवारे के बारे में साझीदार झगड़ बैठे! इसी तरह स्वराज तो मिला नहीं और हम हैं कि अपने जुदा-जुदा कार्यक्रमों के बारे में बहस और झगड़े कर रहे हैं! सुशीलता का तक़ाज़ा है

कि जब बहुमत ने एक कार्यक्रम मंजूर कर लिया तो सभी उसपर सचाई के साथ अमल करें।

इसमें तो कुछ भी शक नहीं कि कांग्रेस के कार्यक्रम के जिन दूसरे अंगों से उस कार्यक्रम की अबतक शोभा बढ़ी है और जिनकी तरफ़ डॉ० लोहिया ने संकेत किया है उन्हें प्रतिज्ञा के कारण छोड़ देने की ज़रूरत नहीं है। हर तरह के अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन करना तो राजनीतिक जीवन का प्राण है। मेरा ज़ोर इसी बात पर है कि उस आन्दोलन को रचनात्मक कार्यक्रम से अलग कर देने से उसमें हिंसा की झलक आ ही जायगी। मैं अपनी बात उदाहरण देकर समझाऊँ। अहिंसा के प्रयोगों से मैं यह सीखा हूँ कि अमली अहिंसा का अर्थ सब लोगों का शरीर-श्रम है। एक रूसी दार्शनिक बोर्डरेफ़ नें इसे रोटी के लिए श्रम कहा है। इसका परिणाम यह होगा कि लोगों में आपस में गहरे-से-गहरा सहयोग हो। दक्षिण अफ्रीका के पहले सत्याग्रही सबकी भलाई और सम्मिलित कोष के लिए मेहनत करते थे और उन्हें उड़ते पंछियों की-सी बेफ़िक्री रहती थी। उनमें हिन्दू, मुसलमान (शिया और सुन्नी), ईसाई (प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक), पारसी और यहूदी सभी थे। अंग्रेज और जर्मन भी थे। धंधे के लिहाज़ से उनमें वकील, इमारत और बिजली की विद्या जाननेवाले, इंजीनियर, छापनेवाले और व्यापारी थे। सत्य और अहिंसा के व्यवहार से धार्मिक झगड़े मिट गये थे और हमनें सब धर्मों में सत्य के दर्शन करना सीख लिया था। दक्षिण अफ़्रीका में मैंने जो आश्रम क़ायम किये उनमें एक भी मज़हबी झगड़ा हुआ हो ऐसा मुझे याद नहीं आता। सब लोग छपाई, बढ़ईगिरी, जूते बनाना, बाग़बानी, इमारत वग़ैरा, हाथ के काम करते थे। यह मेहनत किसीको भाररूप नहीं लगती थी। उसमें आनन्द आता था। शाम का समय पढ़ने-लिखने में जाता था। सत्याग्रही सेना का अग्रणी दल इन्हीं स्त्री, पुरुषों और लड़कों का हुआ। इनसे ज्यादा वीर या सच्चे साथी मुझे नहीं मिल सकते थे। हिन्दुस्तान में दक्षिण अफ़्रीका का-सा ही अनुभव रहा और मुझे भरोसा है कि उसमें कुछ सुधार ही हुआ। सभी लोग मानते हैं कि अहमदाबाद का मज़दूर-संगठन भारत में सबसे बढ़िया है। उसका काम जिस ढंग से शुरू हुआ था उसी तरह चलता रहा तो अन्त में वहाँकी मिलों में मौजूदा मालिकों और मज़दूरों की मालिकी होकर रहेगी। यह स्वाभाविक परिणाम न निकला तो पता चल जायेगा कि संगठन की अहिंसा में खामियाँ थीं। बारडोली के किसानों ने वल्लभभाई को सरदार की पदवी दी और अपनी लड़ाई फ़तह की। बोरसद और खेड़ा के किसानों ने भी वैसा ही किया। ये सब बरसों से रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल कर रहे हैं। मगर इस अमल से उनके सत्याग्रही गुणों का ह्रास नहीं हुआ है। मुझे पूरा यक़ीन है कि सविनय-भंग हुआ तो अहमदाबाद के मज़दूर और बारडोली और खेड़ा के किसान भारत के और किसी भी हिस्से के किसानों और मज़दूरों से जौहर दिखाने में पीछे नहीं रहेंगे। चौंतीस साल के सत्य और अहिंसा के लगातार प्रयोग और अनुभव से मुझे दृढ़ विश्वास होगया है कि यदि अहिंसा का ज्ञान-पूर्वक शरीर-श्रम के साथ सम्बन्ध न होगा और हमारे पड़ोसियों

के साथ रोज़मर्रा के व्यवहार में उसका परिचय न मिलेगा तो अहिंसा टिक नहीं सकेगी। यह है रचनात्मक कार्यक्रम का रहस्य। यह साध्य नहीं है, साधन है; मगर है इतना अनिवार्य कि उसे साध्य भी समझ लें तो बेजा नहीं। अहिंसक विरोध की शक्ति रचनात्मक कार्यक्रम पर ईमानदारी के साथ अमल करनें से ही पैदा हो सकती है।

हरिजन सेवक, २४-१-४०

परिशिष्ट

: १ :

किस रास्ते और किन साधनों से

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

बड़ी-बड़ी घटनाओं के किनारे पर हम फिर खड़े हुए हैं। हमारी नाड़ियाँ फिर ज़ोर से फड़कने लगी हैं, पैर कांपते हैं और पुरानी पुकार हमारे कानों में आरही है। अपनी मामूली मुसीबतों को हम भूल जाते हैं और घरेलू चिन्ताओं को एक ओर डाल देते हैं। आखिर उनका मूल्य है ही क्या ? पुकार आती है और हम सबकुछ भूल जाते हैं। भारत, जिसे हमने प्रेम किया है और जिसकी सेवा हमने करनी चाही है, वह धीमे से कुछ कहता है और जादू का मन्त्र हम तुच्छ प्राणियों के ऊपर फूंक देता है।

पर कुछ व्यक्ति उतावले हैं और अपनी जवानी की तरंग में आरोप लगाते हैं--'यह देरी क्यों ? हमारी नसों में जब खून दौड़ता है और जीवन पुकार कर कहता है कि आगे बढ़ो, तब हम मन्द गति से क्यों चलते हैं ?' ओ भारत के युवको और युवतियो ! आप परेशान न हों, झुंझलानें या उतावले बनने की भी जरूरत नहीं है। जल्दी ही वक्त आयगा जब इस भारी बोझे में आपको सहारा देना होगा। आगे बढ़ने की पुकार भी आयगी और गति भी जितना आप सोचते हैं, उससे तेज़ होगी। क्योंकि अज्ञात भविष्य की ओर बेतहाशा दौड़ लगाकर दुनिया ने आज गति पैदा करली है और हममें से कोई भी खड़ा नहीं रह सकता—चाहे खड़ा रहना चाहे या न चाहे—जबकि हमारे पैरों तले की धरती ही हिल रही है।

समय आयगा। तब वह हमें तैयार पाए; दिल से मजबूत, शरीर से गतिशील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी जिस पर हमें चलना है, हम अच्छी तरह पहचानें जिससे संदेहों के हमले हम पर न हों और विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमज़ोर न करे।

अपने मंज़िलेमक़सूद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने है। उनपर बहस करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन हमारी राह क्या है जो हमें चलनी है ? कौन से तरीक़े हमें बरतने हैं, और कौनसे उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं ? ये बातें भी, निश्चिय ही, बहस के लिए नहीं हैं। बरसों पहले ही हमने वह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है जिससे दूसरे उस खुन्दे रास्ते पर चल सकें। बीस बरस पहले बहुत से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर संदेह किया होगा, लेकिन आज मार्ग-दर्शन के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलता और असफलतायें हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के बावजूद भी हम दृढ़ निश्चिय के साथ उसपर अड़े हुए

हैं और भारत के लाखों व्यक्तियों नें उस रास्ते के महत्व को समझा है और अब वह उसपर इतने पावन्द हैं कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाए जा रही है; क्योंकि उसके लिए तो दूसरा मार्ग है ही नहीं।

पर फिर भी आवश्यक है कि चीज़ों को अधिक मानकर हम न चलें और इस नाज़ुक घड़ी में नये सिरे से उस मार्ग के फलितार्थों की जाँच करें और पूरे दिल से और मन से उन्हें स्वीकार करें। समय अब सिद्धान्तों या बेकार के ख़याली पुलाव बनानें का नहीं है। आवश्यकता काम की है और काम के लिए मन और प्रयत्न की संलग्नता चाहिए। सन्देह की फ़िलासफ़ी या बहस-मुबाहिसे की आरामदेही की उसमें इजाज़त नहीं है। उससे भी कम इजाज़त है उन व्यक्तियों या दलों को कि वे अपनी विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ़ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।

यह आवश्यक ह कि हम इस प्रश्न पर खुलकर विचार करें और स्पष्ट और अन्तिम निर्णयों पर आवें; क्योंकि एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभवों में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा बोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खुले तौर पर या छिपकर और हमारी ही संस्था की आड़ से हमारे तौर-तरीक़ों और सिद्धान्तों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं। हो सकता है जैसा कि हमें अच्छी तरह से विश्वास ह कि ये सन्देह करनेवाले और विरोधी लोग कम ही हैं और देशव्यापी इस बड़े आंदोलन का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते; लेकिन यह सम्भव है कि बहुत-से लोगों के दिमाग़ों में वे गड़बड़ पैदा कर दें और ऐसी घटनायें घटादें जिससे हमारे ध्येय को हानि पहुँचे। अतः ध्येय की स्पष्टता और निर्णय का होना ज़रूरी है। जो हलचल हमारे सामने है, उसमें अनावश्यक ख़तरा हम नहीं ले सकते।

उन्नीस बरस पहले काँग्रेस ने अपने कामों में अहिंसा का तरीक़ा ग्रहण किया था। इन गुजरे सालों में बहुत से अवसरों पर हमने अहिंसा के प्रयोग भी किये हैं। इनसे हमने संसार को प्रभावित किया और उससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह कि हमने अपने आपको प्रभावित किया और जो कुछ हमने किया या जिस प्रकार हमने वह किया, उससे हमने अपूर्व शक्ति पाई। परतन्त्र राष्ट्र का पुराना मार्ग—या तो ग़ुलामी या हिंसक विद्रोह—अब हमारे लिए नहीं है। हमारे पास अब एक शक्तिशाली हथियार है जिसका मूल्य—हमारी बढ़ती शक्ति और उसके बारे में समझ बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसका प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है; लेकिन भारत की योग्यता तथा वर्तमान स्थिति में वह विशेषरूप से उपयुक्त है। हमारा निज का उदाहरण है जो उसका समर्थन करता है, और जो हमें दिलासा और उत्साह प्रदान करता है। लेकिन पिछले वर्षों की विश्व की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि हिंसक तरीके बेकार हैं और वहशियाना हैं।

मेरे खयाल से हममें से कुछ ही कह सकते हैं हिंसा का युग समाप्त हो गया या जल्दी ही उसके समाप्त होने की संभावना है। आज हिंसा अपने बहुत ही गहन,

विध्वंसकारी और अमानवीय रूप में बढ़ रही है। उतनी वह पहले कभी नहीं बढ़ी। लेकिन उसकी तेज़ी ही उसके पतन का चिन्ह है। वह या तो स्वयं समाप्त होगी या संसार के बहुत बड़े भाग को समाप्त कर देगी।

"तलवार सर्वदा की भांति मूर्खों के लिए अपनी मूर्खता छिपाने का एक साधन है।"

लेकिन हम मूर्खता और पागलपन के युग में रहते हैं और हमारे शासक और मानवी संबंधों को देखने-भालने वाले इसी युग की असली उपज हैं। हर रोज़ हमारे सामने यही खूंखार समस्या है—हिंसक आक्रमण का मुकाबिला कैसे किया जाय? क्योंकि इसके अतिरिक्त बहुधा और कोई मार्ग नहीं है कि बुराई के आगे चुपचाप झुक जाओ और उसके हाथों अपने को सौंप दो। स्पेन ने बलपूर्वक हिंसक आक्रमण का विरोध किया और यद्यपि अन्त में उसकी पराजय हुई; लेकिन उसके लोगों ने साहस और वीरतापूर्ण धैर्य का शानदार उदाहरण उपस्थित कर दिया। मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया, फिर भी ढाई बरस तक फ़ासिस्ट आक्रमण की बाढ़ को उन्होंने रोके रक्खा। उनकी हार के बाद आज भी कौन कहेगा कि वे ग़लती पर थे; क्योंकि उनके लिए दूसरा सम्मानपूर्ण मार्ग खुला हुआ नहीं था। अहिंसात्मक तरीक़ा उनके दिमाग़ में नहीं था और वैसे भी उन परिस्थितियों में वह उनकी पहुँच के बाहर था। यही चीन में हुआ।

चेक़ोस्लोवेकिया अपनी सशस्त्र शक्ति और असंदिग्ध साहस के बावजूद भी बिना लड़े पराजित होगया। ठीक है, पराजय उसकी हुई; क्योंकि उसके मित्रों ने उसके साथ विश्वासघात किया, लेकिन फिर भी सचाई तो यह है कि उसकी तमाम सशस्त्र शक्ति उसकी आवश्यकता के समय कारगर साबित नहीं हुई। पोलैण्ड तीन सप्ताह की हलचल में एकदम समाप्त होगया और उसकी भारी फ़ौज और हवाई जहाज़ों के बेड़े न जाने कहाँ विलीन होगये।

हिंसक मार्ग और सशस्त्र शक्ति आज तात्कालिक सफलता के संकुचित-से-संकुचित अर्थ में तभी संभव है जबकि सशस्त्र शक्ति अपने विरोधी से अधिक बलवती हो। अन्यथा बिना युद्ध के ही समर्पण कर दिया जाता है या ज़रा-सी हलचल के बाद ही पतन हो जाता है और साथ आती है घोर पराजय और अनैतिकता। साधारण हिंसा को एकदम त्याग दिया गया है; क्योंकि विजय की कोई संभावना भी उससे नहीं होती और उससे पराजय और फूट का भय फैल जाता है।

भविष्य में भारत का क्या होगा, यह हमारे अन्दाज़ से बाहर है। यदि भविष्य में सशस्त्र राष्ट्रीय शक्ति की आवश्यकता रहती है, तो हममें से अधिकांश के लिए यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि बिना राष्ट्रीय फ़ौज और 'बचाव के अन्य साधनों के' भारत स्वतंत्र होगा। लेकिन वैसे भविष्य पर विचार करने की हमें आवश्यकता नहीं है। हमें तो बस वर्तमान पर विचार करना है।

इस वर्तमान में सन्देह और कठिनाइयाँ नहीं उठतीं; क्योंकि हमारा कर्तव्य स्पष्ट है और मार्ग निश्चित है। वह मार्ग भारतीय स्वाधीनता की समस्त रुकावटों का निष्क्रिय प्रतिरोध करना है। उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। इसके बारे में

हमें बिलकुल स्पष्ट होजाना चाहिए; क्योंकि विभिन्न दिशाओं में मन के खिचते होनें की दशा में कोई काम शुरू करने का साहस हमें नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई दूसरा मार्ग है, जो हमें प्रभावशाली कार्य के अवसर की छाया-मात्र भी दे सकता है, मैं नहीं जानता। वास्तव में अगर हम दूसरे मार्गों के बारे में सोचते हैं तो वास्तविक कार्य हो ही नहीं सकता।

मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न पर अधिकतर कांग्रेसजन एकमत हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो कांग्रेस के लिए नये हैं। वे दिखाने के लिए तो एकमत हैं; लेकिन करते दूसरी तरह से हैं। वे अनुभव करते हैं कि कोई राष्ट्रीय या देश-व्यापी आंदोलन उस समय तक नहीं चल सकता जबतक कि कांग्रेस द्वारा वह न चलाया जाय। उसे छोड़कर और जो कुछ होगा वह तो दुस्साहस होगा। इसलिए वे चाहते हैं कि कांग्रेस से पूरा लाभ उठावें और साथ ही उन दिशाओं में भी चले जावें जो कांग्रेस की नीति के विरुद्ध हैं। उनका प्रस्तावित सिद्धान्त तो यह है कि वे कांग्रेस में अपनेको मिलाये रहें और फिर उसके बुनियादी धर्म और कार्य-प्रणाली को हानि पहुँचावें, विशेषकर अहिंसा के सिद्धान्त के अमल को रोका जाय, बाहर से और प्रकटरूप में नहीं; बल्कि धोखेबाजी से और अन्दर से।

अब प्रत्येक भारतीय को स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रस्तावों और विचारों को आगे लाकर रक्खे, उनके लिए काम करे और अपने दृष्टिकोण पर दूसरों को राज़ी करे। उनके अनुसार वह आचरण भी करे; यदि वह सोचता है कि वैसा करना आवश्यक है। लेकिन दूसरी किसी चीज़ की आड़ में ऐसा करने की उसे स्वतन्त्रता नहीं है। वह जनता को गलत रास्ते ले जाना होगा। और ऐसे धोखे से जन-आंदोलन नहीं उठ खड़े होते। कांग्रेस के प्रति वह नमकहरामी होगी और अनुचित समय में आंदोलन से नाजायज़ फ़ायदा उठाना होगा। यदि विचारों का कोई विरोध है तो इसमें भलाई हीं है कि वह सामने आये और लोग उसे समझें और अपना निर्णय करें। किसी भी समय ऐसा होना चाहिए, विशेषकर बड़ी घटनाओं के प्रारम्भ होने से पहले। कोई भी संस्था आंतरिक विघ्न-बाधाओं को बर्दाश्त नहीं कर सकती जबकि वह शक्तिशाली दुश्मन से मुठभेड़ करने की परिभाषा में सोचती है। अपनी जनता में उस समय अनुशासनहीनता या मत-भेद ठीक नहीं है जबकि समय ऐसा है कि हम सबको काम में लग जाना चाहिए।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्ण स्पष्टता और निश्चय के साथ हम इस मसले को तय करें। जहाँतक कांग्रेस का सम्बन्ध है, बेशक हमने तय कर लिया है और उस निर्णय पर हम दृढ़ रहेंगे। दूसरा कोई भी मार्ग प्रभावशाली नहीं है और उसमें राष्ट्र के लिए खतरा है।

यदि हम वैसा विचार करें तो भारत में गड़बड़ मचा देना हमारे लिए कठिन नहीं है; लेकिन गड़बड़ में से ज़रूरी तौर पर या आम तौर पर भी स्वाधीनता नहीं निकलती। भारत में गड़बड़ की स्पष्ट संभावनायें हैं जिनका फल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण

निकलेगा। हम हमेशा अपने काम के परिणामों के बारे में भविष्यवाणी नहीं कर सकते, विशेषकर उस हालत में जब हम जनता के बल पर उस काम को करते हैं। खतरे हम उठाते हैं, और उठाने ही चाहिएं। लेकिन ऐसा कुछ करना तो अकल्पनीय मूर्खता होगी जो उन खतरों को बहुत बढ़ादे और हमारी स्वतन्त्रता के मार्ग में रोक लगादे और हमारे आन्दोलन में से उस नैतिकता को ही उठाले जिस पर कि इतने बरसों से हमें गर्व रहा है। ऐसी दशा में जबकि संसार हिंसक तरीकों से चूर-चूर हो रहा है, हमारे लिए उन्हें ग्रहण करने की बात सोचना तक एक भारी दुख की बात होगी।

इसलिए मज़बूती और निश्चय के साथ हम अहिंसा पर दृढ़ रहें और उसके स्थान पर कुछ भी मिले, उसे अस्वीकार करदें। हमें याद रखना चाहिए कि यह संभव नहीं है कि विभिन्न तरीक़े साथ-साथ चालू रह सकें; क्योंकि ये एक दूसरे को कमजोर करते हैं और एक ओर हटा देते हैं। इसलिए होशियारी के साथ हम अपना मार्ग चुनें और उस पर दृढ़ रहें। अन्य मार्गों के साथ खिलवाड़ करके उसे हम बिगाड़ें नहीं। सबसे अधिक हम यह अनुभव करें कि अहिंसा अहिंसा है। यह एक ऐसा शब्द-मात्र नहीं है कि मन के दूसरी तरह काम करने पर भी उसे मशीन की तरह इस्तेमाल किया जा सके, मुँहसे दूसरे शब्द और वाक्य निकलते हों, जो उसके विरोधी हों, और हमारे काम के विपरीत हों। यदि हमें अहिसा तथा अपने और अपने ध्येय के प्रति ईमानदार रहना है तो हमें अहिंसा के प्रति सच्चा रहना होगा।

: २ :

चर्खे का महत्त्व

[मथुरा में हुए युक्तप्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन की विषय-समिति में रचनात्मक कार्यक्रमवाले प्रस्ताव पर काफ़ी बहस होने के बाद सभापतिपद से पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक भावपूर्ण और मार्मिक भाषण दिया। उसमें चर्खे के संबंध में आपने कहा—]

हम सत्याग्रह के सिलसिले में जब सोचते हैं तब हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। इस प्रस्ताव पर हमें अमल करना चाहिए।

मैं चर्खे के खिलाफ़ और चर्ख के पक्ष में बहुत कह सकता हूं। चर्खे ने काफी फायदे पहुँचाये हैं, लेकिन चर्खे को मैं कोई मंत्र नहीं मानता। चर्खा एक औजार है, जो हमारे लिए लाभदायी है। दूसरे भी हज़ार औज़ार हमें चलाने हैं। महात्माजी चर्खे के बारे में किस्म-किस्म की बातें करते हैं, जो मेरी समझ में नहीं आतीं। पर जितना समझ में आता है, उतने का ही उपयोग किया जाय तो बहुत काफ़ी है।

एक बात और बतादूं। मैं अच्छा कातना जानता हूँ और मेरा दावा है कि किसी को भी चार दिन में मैं चर्खा सिखा दूंगा। पर पिछले तीन-चार वर्ष में मैंने नहीं काता

है। पर एक अजीब बात है कि चीन से जब मैं आया तब पहला काम मैंने अपने पुराने चर्खे को देखने का किया। उस समय इस प्रस्ताव का खयाल नहीं था, पर जेल जाने के वास्ते मैं चर्खे को तैयार करना चाहता था। जब पुराने चर्खों से मुझे संतोष नहीं हुआ तो मैंने एक नया चर्खा भी ख़रीद लिया।

अब चर्खे के दो पहलू हैं। (१) इसके कातने से क्या लाभ हैं। (२) लड़ाई के सिलसिले में यह क्या असर रखता है। मैं चर्खे का अंध-भक्त नहीं हूँ, परन्तु इसमें फायदा मैंने देखा है। इसमें राजकीय असर है। चीन में हर जगह चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में सवाल हुआ। मैं यह देखकर हैरान होगया कि कोई जगह ऐसी नहीं थी जहां मुझसे यह नहीं पूछा गया कि हिन्दुस्तान में चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में क्या हो रहा है? चीनवालों के सामने कोई अहिंसा का सवाल नहीं है, न बड़े-बड़े कारखानों से परहेज़ करने का। परन्तु वहाँके वाकयात ऐसे हैं जिनसे चीन के गांव-के-गांव को इसमें दिलचस्पी है। वहाँ जापान की लड़ाई चल रही है और घनी आवादी है। चीन के लोग महसूस कर रहे हैं कि इस लड़ाई के हमले से भी ज्यादा खतरनाक जापान का आर्थिक आक्रमण है। जापानवाले अपनी आर्थिक नीति चलाने के लिए बड़ा ही ज़ोर लगा रहे हैं और चीनवाले समझते हैं कि इसमें अगर वे सफल हुए तो हमारी बड़ी बर्बादी होगी। इसलिए वे लोग हर किस्म के ग्रामोद्योगों को बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। इस वक्त वे चाहें तो भी कारख़ाने खड़े नहीं कर सकते। कारखाने किसी समय भी बम के शिकार हो सकते हैं, पर घर-घर चलनेवाले चर्खे पर फौज आक्रमण नहीं कर सकती। फ़ौज भी आगई तो किसान सरक जायेंगे और चर्खा बगल में लेते जायेंगे। इस तरह रोज़मर्रा के जीवन के लिए ग्रामोद्योग वहां आवश्यक हो गये हैं। चीन का सवाल वैसा ही है जैसा हमारा है। वहाँ घनी आवादी है। हम पेचीदा सवालों को पढ़ते ही नहीं। रूस की बड़ी-बड़ी बातें पढ़ते हैं। जब सुनते हैं कि वहाँ ट्रैक्टर से खेती हो रही है तब हम भी वैसा ही करना चाहते हैं। मेरी भी इच्छा है कि हमारे यहाँ फोर्ड के ट्रैक्टर नहीं तो अपने ही देश के बनाये हुए ट्रैक्टर काम करें और खेती की तरक्की हो। लेकिन अगर आपको फोर्ड से या उसके प्रतिनिधि से बात करने का मौक़ा मिले तो सुनकर चकित होंगे। मुझे फोर्ड के एजेण्ट से बात करने का मौका मिला था। उसने कहा कि हमारे ट्रैक्टरों के के लिए साइबेरिया जैसा कोई अनुकूल क्षेत्र नहीं है और हिन्दुस्तान जैसी कोई प्रतिकूल जगह नहीं है। साइबीरिया में मीलों जमीन खाली है और आवादी नहीं-सी है। हिन्दुस्तान में तो इतनी घनी आवादी है कि ट्रैक्टर के लिए एक चक जमीन मिलना नामुमकिन है। बंगाल में जहाँ एक बालिश्त में चार-पाँच आदमी बैठे हैं वहाँ ट्रैक्टर कैसे चलेंगे? हमारे यहाँ इस मशीनरी के लिए गुंजाइश नहीं है। पचास वर्ष के बाद क्या होगा, यह मैं नहीं बता सकता। दुनिया बदलती है, मैं भी बदलता हूँ और हिन्दुस्तान में तरह-तरह के परिवर्तन चाहता हूँ, लेकिन आज जो स्थिति है उसमें सिर्फ कारखानों से हिन्दुस्तान का सवाल हल न होगा। मैं अपनेको वैज्ञानिक आदमी

समझता हूँ। आप लोगों में से बहुतों का जन्म नहीं हुआ होगा तब मैंने साइंस लेकर एक डिग्री पाई है। साइंस के बिना मैं किसी चीज़ को सोच नहीं सकता। कोई ज़बर-दस्ती मुझे कुछ समझाने जावे तो मेरा दिमाग उसका विरोध करता है। महात्माजी का मैं आदर करता हूँ, लेकिन भक्ति नहीं करता। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनकी बात वैसी-की-वैसी मैं अपने दिमाग में नहीं ला सकता। लेकिन मैं सिपाही के नाते उनकी बातों को समझने की कोशिश करता हूँ। मैं अदब के साथ आप लोगों से कहूँगा कि चर्खे को निकम्मा बताना वाक़यात से ताल्लुक नहीं रहता। क्योंकि हम लोगों की आबादी बहुत घनी है, हमें कोई चीज़ ऐसी चाहिए जो हर जगह हरेक आदमी को करने के लिए कह सकें।

दूसरा लड़ाई का पहलू है। हम महात्माजी को जनरल बनाना चाहते हैं और महात्माजी का कहना है कि चर्खा ही मेरा हथियार है। पर हम महात्माजी को इस तरह रिश्वत देना नहीं चाहते। हम उनके हाथ बाँध देना नहीं चाहते, आज़ाद रखना चाहते हैं। सवाल उठता है, इसमें क्रान्तिकारी बात क्या है ? चर्खे में क्रान्तिकारी कोई चीज़ नहीं। क्रान्ति तो आपके दिमाग़ में है। अगर दिमाग़ में लड़ाई भरी हो तो चर्खा क्या झाड़ू भी लड़ाई का निशान हो सकता है। अगर दिमाग़ में लड़ाई नहीं है तो अच्छे-से-अच्छे औज़ार भी बेकार हैं। फ़र्ज़ कीजिए कि किसी वजह से अँग्रेज़ों ने क़ानून बना दिया कि हर घर में चर्खा रहे और बिना खादी के कोई कपड़े न रहें और हमारे देश में खादी और चर्खा हो जाय तो उसमें कोई लुत्फ नहीं होगा। हाँ, थोड़ा-सा आर्थिक लाभ ज़रूर होगा, पर उससे हमारी ताक़त या संगठन पैदा नहीं हो सकते। जितने संशोधन यहाँ आये उनमें चर्खे के स्थान पर जो बात रक्खी गई है उससे साफ़ पता चलता है कि अगर चर्खा छोड़ दें तो सिर्फ़ व्याख्यान देना ही लड़ाई का साधन हो जाता है। व्याख्यान से वातावरण तैयार होता है, यह मैं भी मानता हूँ। काफ़ी जोश पैदा किया जा सकता है। पर उससे क्रान्ति पैदा नहीं होती। अगर हो भी तो थोड़े वक्त के लिए होती है। उसकी जड़ पक्की नहीं होती है और जबतक जड़ पक्की नहीं होती तबतक उकसाया हुआ आन्दोलन खतरनाक होता है। इसलिए किसानों को कोई चीज़ ऐसी देनी चाहिए जो उनकी सब भावनाओं के लिए पूर्ति का काम करे।

हरिजन-सेवक, २ दिसम्बर, १९३९.

: ३ :

हमारा भावी कार्यक्रम

तैयारी की शर्त

हालांकि कार्यसमिति का काम कुछ कम नहीं था, फिर भी पंडित जवाहरलाल ने संयुक्तप्रान्त के खास-खास जितने कार्यकर्त्ता इकट्ठे किये जा सकते थे उन्हें एकत्र करके गांधीजी को उनसे मिलने बुला लिया। बातें अनेक विषयों पर हुई।

आम बहस भी काफ़ी हुई। पाठकों के लिए मैं यहाँ उस सारी चर्चा का सार देता हूँ:

प्रश्न—आज आप अहिंसा पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देते मालूम होते हैं। आपकी मन्शा यह तो हरगिज़ न होगा कि सन् १९२०–२१ में या १९३० में हमारी तैयारी या अहिंसा आज से बढ़ी-चढ़ी थी। या आप यह कहेंगे कि तबसे आपका माप-दण्ड अब ऊँचा होगया है?

उत्तर—दोनों ही बातें हैं। आज ऊपर से जितनी हिंसा दिखाई देती है उतनी उन दिनों नहीं थी। और मेरा माप-दण्ड भी बढ़ गया है। मेरी शर्तें जितनी इस वक्त कड़ी हैं उतनी कड़ी उस समय न थीं। अगर आप लोगों को मेरा सेनापतित्व मंजूर है तो आपको न सिर्फ़ मेरी शर्तें ही माननी होंगी, बल्कि हम तैयार है या नहीं, इस बारे में मेरा निर्णय भी स्वीकार करना पड़ेगा। यह बिल्कुल सम्भव है कि आज की और उन दिनों की शर्तों में कोई असली अन्तर न हो, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उस वक्त मैं यह नहीं जानता था कि मेरे पैरों तले बारूद बिछी हुई है। आज तो यह ख़याल भूत की तरह मेरा पीछा कर रहा है और इसे मैं दिल से किसी तरह निकाल नहीं सकता।

कड़ी शर्त

प्रश्न—क्या यह डर नहीं है कि अगर गर्म लोहे पर हमने चोट न की तो फिर कभी मौक़ा ही हाथ न लगे? इस वक्त तो लोगों के दिलों में तैयारी की भावना है। अगर हम अवसर चूक गये, तो मुमकिन है, उनका उत्साह ठंडा पड़ जाये और सारी तैयारी काफ़ूर हो जाये। इस कारण आपके लिए सबसे अच्छा यही ह कि आप कोई ऐसा कार्यक्रम हमें सुझायें, जिससे कि हम क्षेत्र तैयार कर सकें और साथ ही लोगों का जोश भी क़ायम रख सकें।

उत्तर—इस तरह की भाषा से ही मुझे सदा चिढ़ रही है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह तैयारी किस काम की, जिसे तुरन्त काम में न लाया जाये तो वह काफ़ूर हो जायगी! यह कोई तैयारी नहीं। तैयार तो उसे कहते है जो हर घड़ी और हर जगह जहाँ और जब कहीं उसे याद किया जाय तैयार मिले। तैयारी का एक यही अर्थ है कि सेनापति का हुक्म मानने की तैयारी हो। फ़ौजी भाषा काम में लें तो यों कहा जायगा कि हमारी इतनी तैयारी होनी चाहिए कि लड़ने की जरूरत ही न पड़े। असल बात स्वाधीनता हासिल करना है, न कि सविनय-भंग का समय, प्रकार या साधन। आपसे मुझे इतनी श्रद्धा और अनुशासन की आशा है कि आप सहज ही अपने सेनापति के हुक्म का इन्तज़ार और पालन करेंगे। इससे अधिक कुछ भी कहने की मुझसे उम्मीद न रखिए। न यह आशा रखिए कि अगर कभी मैंने सविनय-भंग छेड़ा तो मैं आपको यह बता सकूँगा कि वह किस तरह छिड़ेगा। मैं कुछ भी छिपाकर नहीं रख छोड़ता। और बात यह है कि आखिरी वक्त तक खुद मुझे भी कुछ मालूम नहीं

होता। मेरी रचना ही वैसी नहीं है। नमक-क़ानून-भंग के कूच के बारे में जबतक उसका निर्णय नहीं होगया उस क्षण तक मुझे कुछ भी पता न था। हाँ, इतना मुझे मालूम है कि ईश्वर मेरे द्वारा इतिहास शायद ही कभी दोहराता होगा और सम्भव है इस बार भी न दोहराये। हाँ, एक बात है। आप मुझे कारण भले ही न बतायें, पर मुमकिन है, मुझे सेनापति होने के लायक़ न समझा जाये। उस सूरत में आपको मुझे छोड़ देना चाहिए। इसका मुझे कुछ भी अफ़सोस न होगा।

अब आपके सवाल का आखिरी मुद्दा लें। आप ऐसा कार्यक्रम चाहते हैं कि जिसका सविनय-भंग के साथ सीधा सम्बन्ध हो। आप मेरी हँसी न उड़ायें तो मैं बिना संकोच के कहूँगा कि सब लोग कातें, यही वह कार्यक्रम है। मैंने डाक्टरों की घबराहट और सलाह पर ध्यान देकर कुछ समय तक कातना छोड़ दिया था। नारणदास गांधी की पुकार पर मैंने फिर कातना शुरू कर दिया और मैं नहीं समझता कि जबतक मेरे हाथ बिल्कुल जवाब ही न देदें तबतक मैं कभी कातना छोड़ूँगा। तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप लोग जितना ज्यादा कातेंगे उतने ही अच्छे सैनिक बनेंगे। अगर मेरा यह पक्का विश्वास है, तो इसकी घोषणा करने में मुझे क्यों शर्म होनी चाहिए? मेरी सलाह को काटकर आप ऐसे दो भाग नहीं कर सकते कि एक को तो आप क़बूल करलें और दूसरे को रद्द करदें। मेरी शर्त अनिवार्य है। सम्भव है कि उसके बारे में जितना बुद्धिपूर्वक विश्वास होना चाहिए उतना न हो, किन्तु श्रद्धा से वह परिणाम अपने आप निकल आयेगा। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैं इसी भावना से काम करता हूँ। जुलू-विद्रोह में अफ़सर की आज्ञा मानकर मैं झाड़झंखाड़ों से भरे अनजान रास्तों पर मीलों पैदल चला हूँ।

लेकिन जैसा कि मैं कह चुका हूँ, आपको यह सब हवाई किले बाँधना या खयाली पुलाव पकाना मालूम हो सकता है। इस सूरत में आपको मेरा नेतृत्व छोड़ ही देना चाहिए। मैंने बीस साल नेतृत्व कर लिया। अब आराम लेना मेरे लिए अच्छा ही हो सकता है। संभव है, आप लोग सत्याग्रह की कोई नई कला निकाल सकें। अगर वैसा हुआ तो ज्योंही मुझे उसपर विश्वास हो जायगा, त्यों ही मैं आपके पीछे चलने को तैयार हो जाऊँगा। आप कुछ भी करें, मगर मन में कोई बात रखकर मेरा नेतृत्व स्वीकार न करें; वरना आप मुझे भी धोखा देंगे और देश को भी। अगर मुझे आपका सहयोग मिलता है तो वह पूरा और दिल से मिलना चाहिए। मैंने बीस साल तक यही दलीलें दी हैं, अब मैं कोई नई दलील नहीं दे सकता।

प्रश्न—हम तो बिलकुल जुदा विचार-धारा पर चल पड़े।

उत्तर—हाँ, यही तो बात खटकती है। इसीलिए मैं बार-बार नेता बदल लेने की बात सुझा रहा हूँ।

प्रश्न—पर हममें से कुछ के लिए चर्खा आपके नेतृत्व की निशानी के सिवाय और कुछ न हो, तो ?

उत्तर—नहीं, वह अहिंसा का चिन्ह और अहिंसात्मक युद्ध की तैयारी की एक

खास शर्त होना चाहिए। मैं इससे भी अच्छा रास्ता बताऊँ। यही रास्ता मैंने १९३४ में सुझाया था। कताई और खादी को काँग्रेस के कार्यक्रम में से निकाल दीजिए। मैं अपने आप अलग हो जाऊँगा। आप ऐसा करें तो यह ग़लती आपकी नहीं, मेरी होगी, क्योंकि यह बात कि चर्खे और अहिंसा में प्राण-सम्बन्ध है, यह आपके दिल में बिठाना मेरा फ़र्ज़ है।

हिन्दू-मुसलिम-एकता

इस बात पर सब सहमत हो गये कि जब देश के लोगों का एक बड़ा भाग सत्याग्रही कार्यक्रम के विरुद्ध है तो उसके बावजूद ऐसा आन्दोलन नहीं छेड़ा जा सकता। इससे यह नतीजा निकला कि रचनात्मक कार्य का एक हिस्सा ऐक्य स्थापित करना होगा। मतभेद की कई बातें थीं। उनपर कार्यसमिति की अगली बैठक में विस्तार से विचार किया जायगा। इनके अलावा क़ौमी दंगों का हमेशा का सवाल तो था ही, भले ही वे दंगे किसी भी समय या किसी भी वजह से हों। 'जब कहीं दंगा हो रहा हो, तो कांग्रेसियों का क्या धर्म है ?' एक सवाल था।

'उसे शान्त करने में प्राण दे देना', गाँधीजी ने कहा, 'हममें सन् १९३१ में एक गणेशशंकर विद्यार्थी हो गये। तब से और किसी ने उनका अनुकरण नहीं किया। दंगों में इतने लोग मरते हैं, पर वे जानबूझकर अपना बलिदान नहीं करते। जिन्हें यह कार्यक्रम मंजूर न हो, वे मुझे छोड़ दें।'

प्रश्न—लेकिन मान लिया कि हिन्दू-मुसलिम-दंगे तो होते ही रहेंगे, तो क्या उनके कारण हमारा आन्दोलन रुका ही रहे ?

उत्तर—अनिश्चित कालतक तो ऐसा नहीं हो सकता। मुझे मुसलमानों पर जितना विश्वास है उससे आशा यह होती है कि स्वाधीनता के रास्ते में रुकावट बनने के खिलाफ़ वे खड़े हो जायेंगे। उनमें आज़ादी और लोकवाद का इतना प्रेम ज़रूर है कि उन्हें उस हालत पर शर्म आयेगी।

कम-से-कम कितनी तैयारी ?

प्रश्न—हमारे पास समय थोड़ा है। इस दृष्टि से आप बता सकते हैं कि कताई के ख़याल से आप कम-से-कम कितनी तैयारी ज़रूरी समझेंगे ?

उत्तर—थोड़ा समय क्यों ? क्या यह आवश्यक है कि हम तीन या छः महीने में ही आन्दोलन शुरू करदें। भले ही छः साल लगें। ज़रूरी चीज़ तो यह है कि तैयारी पूरी हो। मैं कहता हूँ कि आप लोग यह अधीरता छोड़िए। मेरी कसौटी यह नहीं कि आप सब मुझे सन्तुष्ट करने या मेरा नेतृत्व हासिल करने के लिए रोज़ आधा या एक घंटा भी नियमित कातलें, बल्कि कसौटी यह है कि कताई इतनी आम हो जाये कि आपके प्रान्त में देशी या विदेशी किसी भी तरह का मिल का कपड़ा देखने में न आये। अगर मुझे ऐसा लगेगा कि इस दिशा में हमने तेज़ कदम उठाया है तो मेरा संतोष हो जायगा।

आप लोगों को कई लाख कांग्रेस-मेम्बर बनाने का गर्व है। यदि ये सब कार्यक्रम अंगीकार करके चर्खा-संघ के स्वयं-सेवक बन जायें, तो इस प्रान्त में मिल का कपड़ा नहीं रहेगा। यह काम रोजाना के जीवन का हिस्सा होना चाहिए। जैसे एक अफ़ीदी का बंदूक के बग़ैर काम नहीं चल सकता, ठीक उसी तरह आप अहिंसात्मक सिपाहियों में से किसी का काते बिना काम नहीं चलना चाहिए, और यह सब इसलिए न हो कि यह बुड्ढा चाहता है, बल्कि इसलिए हो कि आप स्वाधीनता चाहते हैं। जब आपकी समझ में यह बात अच्छी तरह आ जायगी, तब मेरे पास इस जैसे सवाल लेकर आप नहीं आयँगे।

हरिजन सेवक, २८ नवम्बर, १९३९.　—महादेव ह० देशाई

: ४ :

परीक्षा की घड़ी

"अगर हिन्दुस्तान तलवार के सिद्धान्त को अपनाता है, तो हो सकता है कि वह क्षणिक विजय पाले। लेकिन उस दशा में वह मेरे लिए उतना गौरवास्पद न रहेगा। मैं हिन्दुस्तान को इसलिए चाहता हूं कि मेरा सबकुछ उसी की बदौलत है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि दुनिया के लिए उसका अपना एक मिशन है। उसे अन्धे की तरह यूरोप की नक़ल नहीं करनी है। जिस घड़ी हिन्दुस्तान तलवार के सिद्धान्त को मान लेगा, वह मेरी परीक्षा की घड़ी होगी। मुझे उम्मीद है कि मैं उस कसौटी पर खरा ठहरूँगा। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं से परे है। अगर मुझ में उसके प्रति ज्वलन्त श्रद्धा है, तो वह मेरे भारतवर्ष के प्रेम पर भी विजय पालेगा। अहिंसा धर्म के द्वारा भारत की सेवा करना ही मेरे जीवन का व्रत है, और मैं मानता हूँ कि अहिंसा हिन्दूधर्म का मूलभूत सिद्धान्त है।

"अहिंसा का धर्म सिर्फ़ ऋषियों और साधू-सन्तों के लिए ही नहीं है। आम जनता के लिए भी वह उतना ही आवश्यक है।"

कार्यसमिति के साथ

ऊपर की पंक्तियाँ मैंने अगस्त, १९२० में लिखे गये गांधीजी के एक लेख से ली हैं; लेकिन ये ऐसी मालूम होती हैं, मानो आज ही लिखी गई हों। इसी ज्वलन्त श्रद्धा के साथ गांधीजी ने आजतक हिन्दुस्तान की नैया को, क्या शांति में और क्या आंधी-तूफान में, ठीक रास्ते पर रखने की कोशिश की है। यह मानते हैं कि अहिंसा दुनिया के लिए हिन्दुस्तान की एक खास देन है। अकसर यह हुआ है कि आसमान बादलों से घिर गया है और अँधेरा छा गया है, पर हमने अपने ध्रुवतारे को कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया। मौजूदा तूफ़ान एक बार फिर इस ध्रुव को हमारी आँखों से दूर किया चाहता है, लेकिन कर्णधार सजग है, और वह लगातार, रात और

दिन, हमें सचेत करता है कि कहीं हम उस ध्रुवतारे को भूल न जायँ, जिसके विना हम अपनी मंजिल तक पहुँच नहीं सकते।

इसलिए कार्यसमिति का काम ख़त्म होते ही गांधीजी ने उसके सदस्यों को इस सवाल पर फिर से विचार करने को कहा और वताया कि उन्हें अब एकवारगी ही तय कर लेना चाहिए कि मौक़े पर कांग्रेस और कांग्रेसवाले क्या करना चाहते हैं, क्योंकि इस प्रश्न का सम्बन्ध सिर्फ़ सरकार के साथ हमारे सम्बन्धों से नहीं है, वल्कि क़ौम-क़ौम के आपस के ताल्लुकात पर भी इसका असर पड़ता है।

गांधीजी की इस सूचना पर घंटों वहस होती रही, पर कोई निर्णय नहीं हो सका। कार्यसमिति की अगली वैठक में इस प्रश्न पर फिर विचार होगा, और तभी आख़िरी निर्णय भी दिया जायगा। इस दरम्यान सारे प्रश्न पर अच्छी तरह विचार करने के लिए सदस्यों को काफ़ी समय मिल चुकेगा।

गांधी-सेवा-संघ की कार्यवाहक समिति में

संघ का प्रश्न गांधीजी का पूरा समय ले रहा है, यहाँतक कि कुछ व्यक्तियों को छोड़कर, जिनसे वह समय देकर मिलते हैं, वह हमेशा मौन रहते हैं। अक्सर वड़े तड़के उनकी आँख खुल जाती है और वह उसके वारे में सोचने लगते हैं। २५ ता० (अक्तूवर) की सुवह वह एक वजे जाग गये और सोचने लगे कि गांधी-सेवा-संघ की कार्यवाहक समिति के सदस्यों से, जव वह दोपहर को मिलेंगे तो क्या कहें। इसलिए सदस्यों से उन्होंने कहा:—"समस्या मेरे मन में वनी हुई है। वह मुझे चैन नहीं लेने देती। कार्यसमिति के जूनियर सदस्यों की स्थिति मैंने 'हरिजन' में वताई है। उनकी स्थिति वड़ी कठिन है। उनकी जान दो संघर्षों में फँसी है, वे सिद्धान्त के प्रति सच्चे रहें या अपने साथियों के प्रति सच्चे रहें। लेकिन अपनी स्थिति को वह मेरे सामने स्पष्ट करने के लिए इच्छुक थे, उसका मैंने स्वागत किया। इससे पता चलता है कि हम सव सत्य के अनुयायी हैं और हमारी मानसिक हलचलें और संघर्ष तक हमारी इस चिन्ता से ही उत्पन्न होते हैं कि सत्य के प्रति हम किस प्रकार सच्चे रहें। कल कार्यसमिति में वहुत अच्छी चर्चा हुई और हमने खुले तौर से सदस्यों की स्थिति पर, उनके वैयक्तिक रूप तथा कांग्रेस और जनता के प्रतिनिधियों के रूप में, चर्चा की। आपके सामने प्रश्न भिन्न है। क्योंकि आप यहाँ अपनी व्यक्तिगत हैसियत में हैं और कांग्रेस और कांग्रेसजन कुछ भी सोचें, आपको अपना आचरण निश्चित करना है। इसलिए प्रश्न आपके सामने कहीं सीधा-सादा है। क्या आप उस व्यक्ति के साथ भाईचारे का रुख़ अख़्तियार करेंगे जिसने कि आपके प्रियजन को खेदजनक चोट पहुँचाई है? मान लीजिए, राजेन्द्रवावू पर आक्रमण किया गया। क्या आप उसका जवाव आक्रमण से ही देंगे या राजेन्द्रवावू और आक्रमणकारी के वीच खड़े होकर ख़ुशी से राजेन्द्रवावू पर होनेवाली चोटों को अपने ऊपर ओड़ेंगे? यदि आपने मृत्यु के भय को छोड़ दिया है, और शरीर को भी चोट पहुँचने का डर आपको नहीं है,

और न घरेलू बन्धनों का जो आपको बाँधे रहते हैं, कोई विचार है, तो आप पिछला उपाय करेंगे। लेकिन जबतक उन लोगों के प्रति, जो आपके साथ घृणा का व्यवहार करते हैं, आप भाईचारे का ही व्यवहार न करेंगे, तबतक आपके इस प्रस्ताव का, कि कठिन-से-कठिन परीक्षा में भी आप अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ रहेंगे, कोई अर्थ नहीं होगा। कोरे प्रस्ताव को रखने की अपेक्षा तो यह कहीं अच्छा होगा कि संघ को बन्द कर दिया जाये।

"अहिंसा मठ-मन्दिर की ही चीज़ नहीं है, जो ऋषियों अथवा गुफ़ाओं में रहनेवालों के ही लिए हो। अहिंसा तो ऐसी है कि जिसपर लाखों आचरण कर सकते हैं, इसलिए नहीं कि उसके फलितार्थों का उन्हें पूर्ण ज्ञान है, बल्कि इसलिए कि वह हमारी मनुष्यजाति का नियम है। यह आदमी और पशु के बीच अन्तर करती है। लेकिन मानव ने अपने भीतर की पशुता को छोड़ा नहीं है। वैसा करने की उसे कोशिश करनी होगी। वह कोशिश अहिंसा के व्यवहार के लिए है, उसमें महज़ विश्वास के लिए नहीं। किसी सिद्धान्त के विश्वास के लिए मैं कोशिश नहीं करता। मैं उसमें या तो विश्वास करूँ या न करूँ। अगर उसमें विश्वास करता हूँ तो उसपर आचरण करने के लिए मुझे हिम्मत के साथ प्रयत्न करना चाहिए। अहिंसा तो सबल का गुण है। दुर्बलता और अहिंसा साथ-साथ नहीं चल सकते, जैसे पानी और आग। यही अहिंसा है, जिसे अपने भीतर पैदा करने के लिए गांधी-सेवा-संघ के प्रत्येक सदस्य को प्रयत्न करना चाहिए।"

"हमने प्रायः इस प्रश्न पर विचार किया है। लेकिन लड़ाई के सम्बन्ध में, स्वराज के लिए हमारे संघर्ष, और साथ ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के सम्बन्ध में परीक्षा की घड़ी तो आज आगई है। यह भी याद रखिए कि आपकी अहिंसा तबतक सक्रिय रूप से कारगर न होगी, जबतक कि आप चर्खे में ज्वलंत श्रद्धा न रक्खेंगे। मैं चाहूँगा कि मेरी दृष्टि से आप 'हिन्द-स्वराज' को पढ़ें और उसमें इस अध्याय को देखें कि भारत को अहिंसात्मक कैसे बनाया जा सकता है। कल-कारखाने की सभ्यता के आधार पर आप अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते, लेकिन स्वावलम्बी गाँवों के आधार पर उसका निर्माण किया जा सकता है। हिटलर चाहकर भी सात लाख अहिंसापरक, आत्म-निर्भर गाँवों को खत्म नहीं कर सकता। खत्म करने की प्रक्रिया में वह स्वयं अहिंसक हो रहेगा। मेरी कल्पना के ग्राम्य अर्थ-विधान में शोषण को क़तई जगह नहीं है। शोषण हिंसा का मूल है। इसलिए अहिंसात्मक हो सकने के पहले आपको ग्राम्य-वृत्ति का बनना होगा और ग्राम्य-वृत्ति पैदा करने के लिए आपको चर्खे में श्रद्धा रखनी होगी।"

इस चर्चा के बाद सदस्य सो गये और अगले दिन गांधीजी से फिर मिले। बहुत-से सवाल उन्हें तंग किये हुए थे, जैसा कि अहिंसा के अनुयायी को करते रहते हैं, लेकिन गांधीजी के समय का विचार करके उन्होंने कुछ ही प्रश्नोंतक अपने को सीमित रक्खा।

"आपकी कल्पना की अहिंसा में विश्वास रखनेवाला कोई मन्त्री कैसे हो सकता है?"

"मुझे भय ह कि वर्तमान स्थिति में वह नहीं हो सकता," गांधीजी ने कहा, "हम देख चुके हैं कि प्रान्तीय स्वराज के पहले के दिनों में जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार को हिंसा का सहारा लेना पड़ा उसी प्रकार मंत्रियों को भी हिंसा का सहारा लेना पड़ा। शायद वह अनिवार्य था। यदि काँग्रेसजन सच्चे रूपसे अहिंसात्मक होते, तो बल-प्रयोग का सहारा न लिया जाता। लेकिन कांग्रेस में अधिकांश लोग विशुद्ध अहिंसा पर आधार नहीं मानते हैं।"

"लेकिन एक मन्त्री ने उस दिन कहा कि हालांकि उन्होंने अहिंसा को रत्ती भर भी नहीं छोड़ा, फिर भी थोड़ा-सा गोली का सहारा लिये विना उनका काम न चल सका। उन्होंने उसका सहारा उसी सीमा तक लिया जितना कि वह टाला नहीं जा सकता था।"

"तब उन्होंने ऐसा कहा होगा, लेकिन मेरा वस चले तो फिर वह ऐसा न कह पायेंगे। यदि वह मन्त्री होते हैं तो उन्हें अपनी स्थिति को स्पष्ट करना होगा और वह एक ऐसी सभा का प्रतिनिधित्व करेंगे जो मुख्यतः अहिंसात्मक होगी। दूसरे शब्दों में, वह पद तभी स्वीकार् करेंगे जव अहिंसात्मक आधार पर शासन-संघ चला लेने देंगे।"

"लेकिन क्या ऐसा नहीं हो सकता कि अहिंसा माननेवाले मन्त्री, जव कि कम-से-कम हिंसा तक उतरते हैं, तव हिंसा में विश्वास न रखनेवाले ऐसा कोई नियम नहीं रक्खेंगे?"

"ऐसा विश्वास करना तो भ्रम है। वे सभी, जो आज हिंसा का प्रयोग कर रहे हैं, ऐसा ही दावा करते हैं। हिटलर भी ऐसी ही वात कहेगा। लार्ड-सभा ने जनरल डायर की उस घड़ी का महान् वीर कह कर प्रशंसा की थी, क्योंकि उसका उद्देश्य जनता में हिंसा के फैलाव को रोकने का कहा जाता है। सोवियट रूस का विश्वास है कि हिंसा से रहित व्यवस्था को स्थापित करने के लिए उसकी हिंसा तो एक संक्रमण-अवस्था है। हमारे विश्वास और व्यवहार की वर्तमान दशा में यह अधिक अच्छा हो सकता है कि संघ को वन्द कर दिया जाये और हरेक व्यक्ति को वंधन-मुक्त वढ़ने के लिए छोड़ दिया जाये।"

"लेकिन यह सलाह दी जा रही है," किशोरलाल भाई ने कहा, "कि हम सदस्यता को उन्हीं तक सीमित करदें, जो रचनात्मक काम में लगे हुए हैं।"

"यह सलाह अच्छी है और संघ को ऐसी संस्था के रूप में परिणत करने की कल्पना रक्खी जा सकती है और तव हममें से प्रत्येक अपनी वैयक्तिक हैसियत में अपने को जितना शुद्ध कर सकता है, करे। क्योंकि अहिंसा विना आत्म-शुद्धि के सम्भव नहीं है। इसलिए हम आत्म-शुद्धि-संघ के सदस्य हों, लेकिन उस अर्थ के लिए किसी संघ की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हममें से हरेक अपने ही तरीक़े से कठिनाइयों और समस्याओं का, जैसे-जसे कि वे आती हैं, मुक़ाविला करे और देखे कि हम कितना कर सकते हैं। दो वरस पहले हुदली में चुनावों, कौंसिलों और असेम्वलियों में अच्छे-से-अच्छे आदमी भेजने में मैंने आपकी मदद माँगी थी। उस वायुमंडल में, जैसाकि तव

वह था, मैंनें अपनी सलाह दी थी। आज वह सलाह मैं आपको नहीं दे सकता। वास्तव में समय आ गया है कि आवश्यक है कि आपमें से वे, जो सबल की अहिंसा में विश्वास करते हैं, कांग्रेस से हट जायें, जैसा कि १९३४ में मैंनें किया।"

"आप कैसे सोचते हैं कि जनता अहिंसा पर आचरण करेगी, जबकि हम जानते हैं कि सब लोग क्रोध और घृणा करनें के लिए तैयार रहते हैं और दुर्भावनाएँ उनमें हैं ? देखा जाता है कि छोटी-छोटी चीज़ों के लिए लड़नें की उनकी आदत है।"

"आदत है और फिर भी मेरा विचार है कि वे सामान्य हित के लिए अहिंसा का व्यवहार कर सकते हैं। क्या आप सोचते हैं कि हज़ारों स्त्रियाँ, जिन्होंने निषिद्ध नमक इकट्ठा किया, किसीके प्रति दुर्भावना रखती थीं ? वे जानती थीं कि कांग्रेस या गांधीजी ने उनसे कुछ चीजें करने के लिए कहा है और श्रद्धा और आशा के साथ उन्होंने वही चीज़ें कीं। मेरे विचार से अहिंसा का सबसे पूर्ण प्रदर्शन चम्पारन में हुआ। क्या हज़ारों की रैयत, जिन्होंने कृषि-सम्बन्धी बुराइयों के विरुद्ध विद्रोह किया, ज़रा भी सरकार या किसानों के प्रति दुर्भावना रखती थीं ? अहिंसा में उनकी श्रद्धा सोच-समझकर नहीं थी, जैसी कि बहुतों की श्रद्धा पृथ्वी की गोलाई के बारे में सोची-समझी नहीं है। लेकिन उनकी श्रद्धा उनके नेताओं में सच्ची थी और वही काफ़ी था। मगर जो नेतृत्व करते हैं उनकी बात दूसरी है। उनकी श्रद्धा सजग और सोची-परखी होगी और उन्हें उस श्रद्धा के सब फलितार्थों पर आचरण करना होगा। लेकिन क्या दुनिया भर में और कहीं जनता इस प्रकार की नहीं है ? हाँ, नहीं ह; क्योंकि दूसरों के लिए अहिंसा का वह आधार नहीं है।"

"लेकिन अगर अहिंसा उनमें मौजूद थी तो वे ग़ुलामी की दशा में कैसे आये ?"

"वहीं तो है जो मैं मानता हूँ कि मेरे जीवन की देन समझी जायगी। मैं चाहता हूँ कि दुर्बल की अहिंसा सबल की अहिंसा बन जाये। हो सकता है कि वह एक स्वप्न हो; लेकिन उसको पूरा करने के लिए मैं कोशिश कर रहा हूँ।"

हरिजन सेवक, ४ नवम्बर, १९३९. —महादेव ह० देसाई

: ५ :

स्वतन्त्रता-दिवस की प्रतिज्ञा

"हम मानते हैं कि हिन्दुस्तान की जनता को यह पैदायशी हक़ है कि उसे आज़ादी मिले, वह अपनी मेहनत का फल भोग सके और जीवन के लिए आवश्यक चीज़ें उसे इतनी मिलें कि अपने विकास की पूरी सुविधा रहे। हम मानते हैं कि कोई सरकार प्रजा के ये अधिकार छीने और उसे सताये तो प्रजा को यह भी हक़ है कि वह उस सरकार को बदलदे या मिटादे।

"हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार ने भारतीय प्रजा से उसकी आज़ादी ही नहीं छीनी है, बल्कि उसका आधार ही ग़रीबों का शोषण है और उसने हिन्दुस्तान को

आर्थिक और राजनैतिक, सांस्कृतिक और आत्मिक सभी दृष्टियों से तबाह कर दिया है, इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से सम्वन्ध छोड़कर पूर्ण स्वराज यानी मुकम्मिल आज़ादी हासिल करना ही चाहिए।

"हमने पहचान लिया है कि आज़ादी हासिल करने का सबसे कारगर उपाय हिंसा नहीं है। शान्तिपूर्ण और उचित साधनों के बल पर ही हिन्दुस्तान ने बल और स्वावलम्बन प्राप्त किया और 'स्वराज' का बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है और इन्हीं तरीक़ों पर क़ायम रहने से हमारे देश को स्वाधीनता मिलनेवाली है।

"हम भारत की स्वाधीनता का फिर से अहद करते हैं और सौगन्ध खाकर निश्चय करते हैं कि जबतक पूर्ण स्वराज हाथ न आजायगा, तबतक हम अपनी आज़ादी की अहिंसात्मक लड़ाई जारी रक्खेंगे। हमारा यक़ीन है कि आमतौर पर किसी भी अहिंसात्मक कार्रवाई के लिए और खासकर अहिंसात्मक सविनय-भंग जैसी सीधी लड़ाई के लिए खादी, क़ौमी एकता और अस्पृश्यता-निवारण के रचनात्मक कार्यक्रम का कामयाव होना ज़रूरी है। हम जाति या धर्म का भेद-भाव छोड़कर अपनें देशवासियों में सद्भाव फैलाने का कोई मौक़ा न छोड़ेंगे।

"हिन्दुस्तान के ७ लाख गाँवों में फिर से जान डालनें और आम जनता की कमरतोड़ ग़रीबी को मिटाने के लिए चर्खा और खादी हमारे रचनात्मक कार्यक्रम के ऐसे हिस्से हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए हम नियम से कातेंगे, अपने निजी काम के लिए सिवाय खादी के, जहाँ तक हो सकेगा, गाँवों में हाथ से बनी हुई चीज़ों के और कुछ इस्तेमाल न करेंगे और दूसरों से भी ऐसा ही करवाने की कोशिश करेंगे।

"हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हम सिपाहियाना तौर पर कांग्रेस के उसूलों और नीति पर चलेंगे, और हिन्दुस्तान की स्वाधीनता की लड़ाई जारी रखने के लिए जब कभी कांग्रेस की पुकार होगी तो उसपर आ खड़े होने को तैयार रहेंगे।"

हरिजन सेवक, ३० दिसम्वर, १९३९.

सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित
'सामयिक साहित्यमाला' की पुस्तकें

---

१. कांग्रेस का इतिहास (१९३५–३९)

यह पुस्तक 'कांग्रेस इतिहास' (१८८५–१९३५) के परिशिष्ट के रूप में है। मूल पुस्तक डॉ० पट्टाभि सीतारामैया ने लिखी थी। यह सन् १९३५ में कांग्रेस-स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित हुई थी। मूल्य ।–)

२. दुनिया का रंगमंच (१९३३–३८)

पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखी गई यह पुस्तक 'विश्व-इतिहास की झलक, के परिशिष्ट के रूप में है। सन् १९३३ से लेकर अबतक की देश-विदेश की राजनैतिक स्थिति पर यह पुस्तक प्रकाश डालती है। मूल्य =)

३. हम कहां हैं ?

यह पुस्तक पं० जवाहरलाल नेहरू के लेखों का संग्रह है। देश और कांग्रेस की वर्तमान स्थिति का इस पुस्तक में सिंहावलोकन है। मूल्य =)

४. युद्ध-संकट और भारत

यह पुस्तक वर्तमान यूरोपीय युद्ध, ब्रिटिश सरकार की नीति और भारत के रुख पर प्रकाश डालती है। ब्रिटिश सरकार की घोषणायें, महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्रप्रसाद पं० जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस-कार्यसमिति और महासमिति के सितम्बर १९३९ ई० से लेकर अबतक के वक्तव्यों और लेखों आदि का संग्रह है। मूल्य ।)

५. सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?

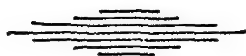
इस पुस्तक में महात्मा गांधी के सत्याग्रह के स्वरूप, आवश्यकता, उसके उचित समय, आदि पर लिखे ताज़े लेखों का संग्रह है। परिशिष्ट में पं० जवाहरलाल नेहरू का सत्याग्रह संबंधी एक लेख, स्वतंत्रता-दिवस की प्रतिज्ञा आदि दिये गए हैं। मूल्य =)

६. राष्ट्रीय-पंचायत

इस पुस्तक में दिखाया गया है कि राष्ट्रीय-पंचायत ही किस प्रकार देश के वैधानिक संकट को दूर कर सकती है। इसमें महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० पट्टाभि सीतारामैया, श्री एम. एन. राय, श्री सम्पूर्णानन्द आदि के लेखों का संग्रह है। मूल्य ।)

सस्ता साहित्य मण्डल की
'सामयिक साहित्य माला' के
प्रकाशन

१. कांग्रेस का इतिहास १९३५-३९ (कृष्णचन्द्र)
२. दुनिया का रंगमंच १९३३-३८ (ज० नेहरू)
३. हम कहाँ हैं ? (ज० नेहरू)
४. युद्ध-संकट और भारत (संकलन)
५. सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ? (म० गांधी)
६. राष्ट्रीय-पंचायत (संकलन)



हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित।

[सामयिक साहित्य-माला : सातवीं पुस्तक]

देशी राजाओं का दर्जा

[श्री प्यारेलाल नायर]

प्यारेलाल ने जो हिन्दुस्तान के राजाओं के दर्जे का गहरा अध्ययन किया है, ये ७ अध्याय उसीका परिणाम हैं। वे हर वक्त तरोताजा रहनेवाले हैं। व्यस्त रहनेवाले सार्वजनिक कार्यकर्त्ता या विद्यार्थी को इससे समूचे रूप में इन राजा लोगों के दर्जे का भान हो जायेगा। इस पैम्फलेट की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि जो विश्वस्त—प्रामाणिक—रिकार्डों से लिया गया है।

मो० क० गांधी

लक्ष्मीराम पुगलिया — भीनासर



सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखायें—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

[सामयिक साहित्य माला : सातवीं पुस्तक]

देशी राजाओं का दर्जा

लेखक

श्री प्यारेलाल नायर

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखायें

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

संस्करण
मई, १९४१ : २०००
दाम
चार आना

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

मुद्रक
ओङ्कारचन्द गुप्ता
सरस्वती प्रेस, दीवान हाल, दिल्ली।

भूमिका

प्यारेलाल ने जो हिन्दुस्तान के राजाओं के दर्जे का गहरा अध्ययन किया है, ये ७ अध्याय उसीका परिणाम हैं। उन्हें आज से बहुत पहले पेम्फ्लेट के रूप में प्रकाशित हो जाना चाहिए था पर मैं पहले से व्यस्त न हुआ होता तो ऐसा हो जाता। लेखक स्वयम् इस समय जेल में हैं। इसलिए वे जिस रूप में लिखे गये थे, उसी रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं। वे हर वक्त तरोताज़ा रहनेवाले हैं। व्यस्त रहनेवाले सार्वजनिक कार्यकर्त्ता या विद्यार्थी को इनसे समूचे रूप में उन राजा लोगों के दर्जे का भान हो जायगा—जिनकी कि तादाद क़रीब ६०० है। इस पैम्फ्लेट की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि जो विश्वस्त—प्रामाणिक रिकार्ड से लिया गया है। इस विशालकाय निरंकुशता का कायम रहना ही अंग्रेज़ों की प्रजासत्ता का सबसे बड़ा प्रतिवाद है और वह न तो राजाओं के लिए अच्छी बात है और न उन अभागे लोगों के लिए जिन्हें इस शुद्ध निरंकुश तंत्र में रहना पड़ता है। राजाओं के लिए यह कोई तारीफ़ की बात नहीं है कि वे अपने पास ऐसी सत्ता रख लें जो कि किसी भी इन्सान को, यदि उसे अपने गौरव का भान है, नहीं रखनी चाहिए। उन लोगों के लिए यह कोई तारीफ़ की बात नहीं है कि जिन्होंने चुपचाप प्रारंभिक मानवीय स्वतन्त्रता का छिन जाना बर्दाश्त कर लिया है। और शायद भारत में ब्रिटिश राज पर यह सबसे बड़ा धब्बा है। लेकिन हम तो वस्तुस्थिति के इतने निकट है कि राजाओं का भारत, या भारतीय भारत का ढकोसला समझ ही नहीं सकते। यह प्रथा अपने ही असहनीय बोझ से दबकर चकनाचूर हो जायेगी। मेरा विनम्र अहिंसात्मक प्रयत्न उन तीनों दलों को यह तिहेरा पाप धोने के लिए प्रेरित करना है। उनमें से कोई एक भी निर्णयात्मक कदम उठा सकता है और उसका असर सबपर पड़ेगा। लेकिन अगर तीनों मिलकर एक साथ इस पाप की जघन्यता को समझें और सम्मिलित प्रयत्न से उसे धो डालें तो वह बात शानदार होगी।

सेवाग्राम, वर्धा
२३-२-४१

मो० क० गांधी

सूची

: १ :

सर्वोच्च सत्ता और अहस्तक्षेप

हाल में कुछ देशी राज्यों के सम्बन्ध में जो तब्दीलियाँ हुई हैं उनसे राजाओं के शासन-अधिकारों का प्रश्न और उन सन्धिगत जिम्मेदारियों का रूप जो सर्वोच्च सत्ता पर आयी हुई हैं, आगे आगया है। इन घटनाओं से तीन प्रश्न तो निश्चित रूप से उठ ही खड़े हुए हैं। पहला, क्या सर्वोच्च सत्ता को रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है? दूसरा, वह उनके प्रजाजनों की न्यायोचित आकांक्षाओं के विरुद्ध उनकी सहायता करने को किस हद तक बाध्य है? और तीसरा, अपने शासकों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध इन देशी रियासतों की जनता के प्रति उसका कोई कर्तव्य है कि नहीं? ली वार्नर को रहनुमा मान कर हम इन प्रश्नों का उत्तर खोजें। हम जानते हैं कि ली वार्नर ने अपनी पुस्तक 'संरक्षित भारतीय राजागण' (प्रिंसेज़ आफ़ इण्डिया दि प्रोटेक्टेड) लिखी तबसे बहुत कुछ किया और लिखा जा चुका है तो भी इस समय उन्होंने उन पुस्तकों में जो सत्य घटनायें जुटायी हैं, वे उस स्थिति पर प्रकाश डाले बिना नहीं रहतीं कि जो इस समय उत्पन्न हो गयी है।

ली वार्नर के अनुसार जिन स्रोतों से देशी राज्यों के और अंग्रेज़ों के सम्बन्ध को बनाये रखनेवाले क़ायदे या सिद्धान्त लिये गये हैं, उनकी तीन श्रेणियाँ हैं:

सबसे पहले तो वे संधियाँ, वे समझौते और वे सनदें आतीं हैं जो उनके दर्मियान हुई हैं, दूसरे सर्वोच्च सत्ता ने उत्तराधिकार या दूसरे मामलों में जो समय-समय पर फैसले किये हैं और तीसरे हैं वे रीति-रिवाज या ढर्रे जो समाज के साथ-साथ बदलते आये हैं और जो उनके सम्पर्क होने के वक्त अमल में आते हैं। पिछले का महत्त्व ज्यादा है क्योंकि अगर लिखावट की शहादत और अमल की शहादत में टक्कर हो तो जब कभी आखिरी फैसला कार्यवाहक सरकार के हाथ में होता है, तब अमल की शहादत को ज्यादा वक़त दी जाती है। जितने भी प्रचलित रिवाज हैं वे निस्सन्देह विधान-विषयक कानूनी कार्यवाही के मातहत होते हैं। अख़ीर में—हालाँकि सन्धि से कोई ऐसी रियासत जिसने उसपर दस्तखत नहीं किये हों उनसे बँध नहीं जाती तो भी उसी व्यवहार के आधार पर जो बड़े-बड़े राजाओं के साथ होता रहा हो कुदरती तौर पर वैसी ही या उससे मिलती-जुलती दशाओं में दूसरी रियासतों के साथ व्यवहार हुआ करता

है। ये सब बातें पूरी होती रहने के फलस्वरूप, जैसा कि ली वार्नर ने बतलाया है, हिन्दुस्तान के भीतर एक भी ऐसी देशी रियासत नहीं है जिसमें पूर्ण बाह्य और आन्तरिक स्वतन्त्रता की सारी बातें हो।

शासन-सत्ता का आधार

भारत का शासन १८५७ से सम्राट् के हाथ में आ जाने से भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन होगया। उसी समय लार्ड कैनिंग ने डलहौजी की हड़प-नीति से भारतीय राजाओं के मन में पैदा हुए डर को कम करने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम ख़ास-ख़ास राजा लोगों को गोद लेने की सनद बख्शने का निश्चय किया था। इसके पहले देशी रियासतों में अंग्रेजों की अहस्तक्षेप-नीति की वजह से पैदा होनेवाले भयङ्कर कुशासन का एक ही इलाज था उनको अंग्रेजी राज्य में मिला लेना। यह उसका अनिवार्य फल था। ये सनदें देने का मतलब, ली वार्नर कहता है कि, यह था कि हिन्दुस्तान के राजा लोगों को इस बात पर भरोसा करके कि महारानी को उनके राजघरानों में दिलचस्पी है, भविष्य में इत्मीनान हो जाये कि उनके प्रजाजनों के सुख-सन्तोष के लिए कही गयी प्रत्येक बात उन्हीं के व्यक्तिगत कल्याण की सच्ची कामना से ही प्रेरित होकर कही गयी है और वह उतनी ही स्वयम् सम्राज्ञी की चिन्ता का भी विषय है। गोद रखने के आश्वासन से रियासत का अंग्रेजी राज में मिला लिये जाने का डर दूर हो जाने का मतलब यह नहीं है कि उद्दण्डता या कुशासन के लिए उन्हें बहाना मिल जाये। यह लार्ड कैनिंग ने काफी स्पष्ट कर दिया था। ३० अप्रेल १८६० को उसने लिखा था—जो तजवीज की गयी है वह सरकार को न तो किसी भी रियासत के ऐसे गम्भीर दुर्व्यवहार को ठीक करने के लिए कदम उठाने से रोकेगी, कि जिससे मुल्क के किसी हिस्से में अराजकता और गड़बड़ फैलने का अन्देशा हो और न किसी रियासत को अस्थायी रूप से सँभालने से ही रोकेगी कि जब वैसा करने के लिए प्रयाप्त कारण मौजूद हों।× × ×हमने बार-बार इस अधिकार का उपयोग किया है× × ×और वह ऐसा है कि जिसे कायम रखना बहुत जरूरी है। सच तो यह है कि ऐसा आश्वासन दिये जा चुकने पर ही उसको अमल में लाना अधिक आसान होगा, उस से पहले नहीं।

बड़ौदा और मैसूर

जिस भावना से इन सनदों की तजवीज की गयी, उसीके आधार पर अंग्रेजों के सम्बन्ध आश्वासन पानेवालियों के अलावा दूसरी रियासतों से रहे हैं। इसलिए इनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण सनदों की जाँच-पड़-

ताल करना दिलचस्प होगा। ५ मई १८६० की पटियाला की सनद को लें। एक ओर ब्रिटिश सरकार ने सनद के शब्दों में कहा था कि महाराजा के राज्य में महाराजा का तथा उनके उत्तराधिकारियों का पूरा-पूरा आधिपत्य रहेगा और वह महाराज के किसी भी प्रजाजन के द्वारा की गयी कोई शिकायत नहीं सुनेगी। दूसरी ओर महाराजा ने अपने राज्य में न्याय से चलने और अपनी प्रजा के सुख और कल्याण की वृद्धि करने की बात कही थी। राजद्रोह के अपराध पर नहीं, कुशासन के फलस्वरूप गायकवाड़ का गद्दी से उतारा जाना एक मार्के की मिसाल है। मल्हारराव गायकवाड़ पर सरकार के प्रतिनिधि को जहर देने की कोशिश में मददगार बनने के अभियोग में खुली अदालत में मुकद्दमा चलाया गया था। सच्ची घटना की खोज करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया था। कमीशन के सदस्य अपने-अपने निर्णयों में एकमत नहीं थे और १६ अप्रेल १८७५ की एक घोषणा में सर्वोच्च शासन-सत्ता ने जाब्ते के मुताबिक खुलेआम राजद्रोह का अभियोग छोड़ दिया। लेकिन इसके बाद गायकवाड़ को 'शरारतभरी करतूत, राज्य के अत्यन्त बुरे शासन और आवश्यक सुधारों को अमल में लाने की जाहिरा नाक़ाबलियत' के आधार पर गद्दी से उतार दिया गया।

मैसूर के मामले में राज करते हुए महाराजा को १८३१ में अयोग्यता और कुशासन के आधार पर गद्दी से उतार दिया गया और उनकी मृत्यु के बाद उनके गोद लिये हुए पुत्र को उनका उत्तराधिकारी मान लिया गया। वापस लौटाने के उस हुकुमनामे में जिससे आखिरकार लार्ड रिपन ने देश उसके अपने राजा को लौटा दिया, एक वाक्य बढ़ाया गया, जिसमें महाराजा से दूसरी और बातों के साथ-साथ यह आशा की गयी कि वे 'हमेशा उस आदेश को मानते रहेंगे, जो परिषद् सहित गवर्नर जनरल उन्हें अपनी अर्थ व्यवस्था करने, टैक्स लगाने, न्याय से शासन करने, और दरबार के हितों की बढ़ती से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे उद्देश्यों, अपनी प्रजा के सुख और ब्रिटिश सरकार से उनके सम्बन्ध की दृष्टि से उन्हें दें।'

ली वार्नर ने देशी रियासतों के प्रति अंग्रेज सरकार की नीति के इस पहलू पर आलोचना करते हुए लिखा है – 'जिस तेजी के साथ राज्य मिलाये जा रहे थे, उससे अंग्रेज लोग आगाह होगये कि नीति में हेरफेर करने की जरूरत है। रियासतों को मिला लेने के दण्ड से बचाया जाकर उनकी हिफ़ाज़त करनी चाहिए और रक्षा करनेवाली शक्ति को समय पर हस्तक्षेप करके दमन का समर्थन करने की बदनामी से बचना चाहिए। पहले काल में खतरा था अराजकता का, लेकिन इसके बाद जब कि यह संरक्षण व्यापक किया गया, तो निष्फलता

विद्रोह और भयंकर कुशासन

बलवे को दबाने के लिए हस्तक्षेप करने की जिम्मेदारी के बारे में जो शर्त रखी गयी है वह यह है कि ब्रिटिश सरकार तभी हस्तक्षेप करेगी, जबकि स्थानीय सत्ता व्यवस्था लाने में असमर्थ हो और उसका हस्तक्षेप होना ही एक मात्र इलाज रह गया है; ऐसा मान लिया गया हो। अगर विद्रोह अच्छे उद्देश्य होने के कारण न्यायोचित पाया जावे, तो जो कार्रवाई की जायगी वह इतनी नरम होगी कि जो व्यवस्था पुनः कायम करने के लिए ठीक हो, 'और जरूरी सुधार चालू किये जायेंगे भले ही उसमें राजा को गद्दी से हटना पड़े।' इस तरह १८७५ में 'सिद्ध' कहलानेवाले हिन्दू-भक्तों के एक समूह ने बीकानेर राज्याधिकारियों के विरुद्ध नाराजगी जाहिर करते हुए अपने आपको दफ़न करके आत्म हत्या करने का निश्चय किया था। बीकानेर दरबार ने मदद के लिए अंग्रेज अधिकारियों से आग्रह किया। इसपर पॉलिटिकल एजेंट को आदेश मिला कि वह सिद्धों के आपत्तियों की जाँच करे और अगर उनमें कुछ सार मालूम हो तो व्यवस्था क़ायम करने के लिए जो इमदाद की मंजूरी दी गयी है, उसमें यह शर्त भी जोड़ दी जाये 'कि अगर आपत्तियाँ न्यायोचित होंगी तो उन्हें दूर करने के लिए दरबार से कहा जायगा।' १८३५ में हरिराव होल्कर ने अपनी प्रजा की धमकी पाकर कम्पनी की मदद माँगी, लेकिन उससे कह दिया गया कि चूंकि उनकी खुद की हुकूमत ने अव्यवस्था पैदा की है, इसलिए ब्रिटिश सरकार दखल नहीं दे सकती।

परन्तु देशी रियासतों की प्रजायें करीब-करीब हमेशा भयंकर दमन को बर्दाश्त करती रहेंगी, लेकिन खुले आम बलवा करने जैसी कड़ी कार्रवाई करके वस्तुस्थिति की ओर ध्यान नहीं खीचेंगी। ली वार्नर कहता है - 'जहाँ कुशासन है, वहाँ हस्तक्षेप का अधिकार या धर्म पैदा हो जाता है, भले ही सन्धि-पत्रों में कोई वास्ता न रखने या 'स्वच्छंद शासन' की प्रतिज्ञा की गयी हो' और फिर 'इन रक्षित राजाओं के जैसा चाहें वैसा शासन करने के एकान्त अधिकार के पक्ष में चाहे जो बातें या वाक्य निकाल लिये जायें तो भी खुद सन्धियों और उनपर दस्तखत करनेवाले या उन्हें मंजूर करनेवाले दलों ने आग्रहपूर्वक यह मत स्थिर किया है कि खास-खास भली भाँति समझी हुई लेकिन अनिश्चित सूरतों में ब्रिटिश सरकार को अधिकार है कि वह हस्तक्षेप करे। यदि दूसरे शब्दों में कहें, तो उन राजाओं का कि जो सम्राज्ञी के साथ सम्बन्धित हो चुके हैं सर्वोच्च-सत्ता के प्रति यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने अन्दरूनी मामलों में व्यवस्था और प्रबंध रखें ताकि ऐसे हस्तक्षेप की जरूरत ही न पड़े।'

एक मिसाल लें। जब कश्मीर की रियासत बनी तब १८४६ की अमृतसर की सन्धि के द्वारा महाराजा को सूचित किया गया कि उसपर उनका 'एकान्त अधिकार' रहेगा। फिर भी दो साल बाद गवर्नर जनरल ने सूचित किया कि किसी भी हालत में यह नहीं हो सकता कि ब्रिटिश सरकार राजा के अपनी प्रजा के साथ किये जानेवाले अन्याय का महज औज़ार बनी रहे, और अगर दोस्ताना तरीके पर चेतावनी दिये जाने पर भी वह ग़लती दुरुस्त नहीं की जायगी, जिसके बारे में शिकायत करने के लिए ब्रिटिश सरकार के पास उचित कारण मौजूद हों, तो एक प्रकार का सीधा हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा।' ७ जनवरी १८४८ को लार्ड हार्डिञ्ज ने महाराजा कश्मीर को लिखा 'सरकार पर कोई जिम्मेदारी नहीं है कि वह लोगों पर इस बात का दबाव डालें कि वे ऐसे शासन के आगे झुक जायें जिसने अपनी बुरी करतूतों से उनकी राजभक्ति की भावना खो दी है।' २५ जुलाई १८७५ को बड़ौदा के गायकवाड़ को लिखते हुए लार्ड नार्थब्रुक ने यह मत प्रकट किया कि ऐसी सरकार का कुशासन जो ब्रिटिश ताकत के संरक्षण में हो, ऐसा कुशासन है जिससे एक हद तक ब्रिटिश सरकार भी जिम्मेदारी में पड़ जाती है।' इसके पहले अवध का अंग्रेजो राज्य में मिलाया जाना न्यायोचित समझा गया था; क्योंकि ब्रिटिश सरकार को उस बदनामी में पड़ने से बचाने का वही एक जरिया था, क्योंकि वह अपने हथियारों और संरक्षण के द्वारा एक अत्याचारी शासन का समर्थन कर रही थी।'

उपसंहार

तो सारा हिसाब लगाने पर उन सम्बन्धों को जिनसे ब्रिटिश सरकार और देशी रियासतें बँधी हुई हैं 'उन अधिकारों और कर्त्तव्यों का बंधन कहा जा सकता है कि जो फैल गये हैं और ज्यों-ज्यों कालान्तर में परिस्थितियाँ बदलती जायँगी, त्यों-त्यों फैलते ही रहेंगे।' १८५८ में साम्राज्य का पद धारण कर लेने से ब्रिटिश इण्डिया और देशी रियासतों के हितों में साम्य स्थापित होगया है। दोनों का एक उद्देश्य जिसकी ओर लार्ड लिटन ने १ जनवरी १८७७ को दी हुई वक्तृता में ध्यान दिलाया था, था—'हिन्दुस्तान की जनता की उन्नति और कल्याण के प्रयत्न के लिए उन्हें सम्बद्ध करना।' चूँकि ब्रिटिश सरकार ने स्वराज्य की स्थापना को अपनी हिन्दुस्तानी नीति का लक्ष्य मान लिया है, इससे यह नतीजा निकलता है कि वह अपनी रियासतों में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने के लिए किये गये अहिंसात्मक आन्दोलनों को दबाने में राजाओं की न तो मदद कर सकती है और न इजाजत दे सकती है।

सेगाँव, १० : २ : ३९

: २ :

खरी कसौटी

कुछ समय पहले मैंने 'हरिजन' में एक लेख लिखा था, जिसमें इस सवाल पर चर्चा की थी कि सार्वभौम सत्ता को देशी राज्यों के भीतरी राज-काज में दखल देने का हक़ है या नहीं और जिस तरह सार्वभौम सत्ता का फ़र्ज़ है कि वह इन रियासतों के राजाओं के गौरव और विशेष अधिकारों की रक्षा करे उसी तरह उसका रियासती प्रजा के प्रति भी कोई कर्तव्य है या नहीं। ली वार्नर की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि प्रोटेक्टेड प्रिंसेज़ आफ़ इण्डिया' (भारत के संरक्षित नरेश) के आधार पर मैंने उस लेख में बताया था कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' है। इतना ही नहीं कि भारतीय रियासतों में अत्याचार और घोर कुशासन को रोकने का पूरा अधिकार ही सार्वभौम सत्ता ने अपने हाथ में रखा है, बल्कि राजाओं के पास राज करने की जो थोड़ी-सी सत्ता छोड़ी गयी है उसमें भी यह शर्त है कि वे अपने इलाकों में एक खास दर्जे का प्रगतिशील शासन क़ायम रखें और वह शासन खुद सार्वभौम सत्ता के ज़ाहिर किये हुए उद्देश्यों के मुताबिक़ होना चाहिए।

मैंने वह लेख लिखा उसके बाद ज़माने की कायापलट करनेवाली घटनायें घट चुकी हैं। दुनिया में ऐसी उथल-पुथल मची हुई है कि पश्चिमी सभ्यता का सफ़ाया हो जाने का डर है। ठीक इसी मौके पर ब्रिटिश सरकार को चुनौती दी गयी है कि वह युद्ध और शान्ति के बारे में अपने उद्देश्य फिर से ज़ाहिर करे और हिन्दुस्तान की आज़ादी की माँग के बाबत उसका क्या रवैया है यह साफ़-साफ़ घोषित करके अपने दावों को सच्चा साबित करे। कुछ प्रतिगामी महारथियों ने इस चुनौती का सीधा जवाब देने में टालमटोल करने की कोशिश की है। एक बहाना तो उन्होंने यह निकाला है कि देशी राज्यों की समस्या बड़ी 'विकट' है। ये लोग उल्टे कांग्रेस को ही दोष देते हैं कि वह राजाओं के साथ 'समझौता नहीं कर सकी।' दूसरी तरफ़ ये लोग सार्वभौम सत्ता का एक ऐसा चित्र खींचकर बता रहे हैं मानों वह बेचारी हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र कायम करने का अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रही है। पर 'राजाओं के साथ हुई सन्धियों के कारण उसके जो कर्तव्य हैं' उनका पालन करने की जबर्दस्त रुकावट के मारे वह लाचार है।

लेकिन भारतीय रजवाड़ों के सवाल को ज़रा इतिहास की दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि जो 'कठिनाइयाँ' कही जाती हैं उनमें कुछ भी तथ्य नहीं है।

हिन्दुस्तानी रियासतों के बारे में ब्रिटिश सरकार की नीति तीन अलग-अलग सूरतों में रही है। पहली मंजिल तो यह थी कि उसने अपने

चारों तरफ़ एक बाड़-सी बना ली थी और उसके बाहर किसी भी मामले में हस्तक्षेप न करने की उसकी योजना थी। इससे बढ़कर लार्ड हेस्टिंग्स के ज़माने में उसने राजाओं को अपने अधीन किन्तु एक दूसरे से अलग रखने की नीति स्वीकार की। जब सन् १८५८ के क़ानून के अनुसार हिन्दुस्तान की हुकूमत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश सम्राट् ने अपने हाथ में ले ली तब इस नीति का एक कदम और आगे बढ़ा। १८५७ के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सत्ता ही देश की एकमात्र सार्वभौम शक्ति रह गयी थी। उधर इंग्लैण्ड के शासन में 'तीव्र चंचलता' थी। इससे शुरू-शुरू में इस तरह की शंकायें पैदा होना स्वाभाविक था कि सम्राट् की सरकार अपने हिन्दुस्तानी मातहत मित्र-राज्यों का न जाने क्या करेगी? अवध के नवाब को अपने राज्य से इसी बिना पर हाथ धोना पड़ा था कि प्रजा के प्रति राजा के जो कर्तव्य हैं, उनका वह ब्रिटिश कल्पना के अनुसार पालन न कर सका था। यह अच्छी तरह समझा जा रहा था कि शायद भारतीय राजाओं को सम्राट् के साथ ज्यादा नज़दीकी सम्बन्ध होने का अर्थ ऐसा ही लगे कि उनके शासन का अब अन्त होना शुरू हो गया है। इन शंकाओं का समाधान करने के लिए लार्ड केनिंग ने एक महत्त्वपूर्ण फैसला किया। उन्होंने हिन्दुस्तान के सभी ख़ास-ख़ास राजाओं को गोद लेने के पट्टे देकर सम्राट् की यह इच्छा बता दी थी कि वे उनके शासन को स्थायी बनाना चाहते हैं। जैसा ली वार्नर ने बताया है, इस कार्रवाई का मकसद यह था कि भारतीय राजाओं को जब यह भरोसा हो जायगा कि सम्राट् को उनके वंशों की भलाई का ध्यान है तो 'आगे चलकर जब-जब उन्हें अपनी प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए कहा जायगा तो वे यह समझ सकेंगे कि इसमें उनकी खुद की भलाई की भी सच्ची भावना है और इसकी महारानी को भी उतनी ही चिन्ता है।' मगर लार्ड केनिंग ने यह भी बिल्कुल स्पष्ट कह दिया था कि गोद लेने का अधिकार देकर रियासतों के ज़ब्त होने का अन्देशा मिटाने का यह मतलब नहीं है कि राजाओं को उद्दण्डता या कुशासन का बहाना मिल जाये। अपने ३० एप्रिल १८६० के सरकारी ख़रीते में लार्ड केनिंग कहते हैं, 'यह कार्रवाई सार्वभौम सत्ता को जब कभी काफी कारण होगा उस वक्त किसी रियासत की गहरी खराबियाँ ठीक करने या उसका कारोबार तक थोड़े समय के लिए सँभाल लेने का अपना अधिकार काम में लाने से नहीं रोक सकेगी। इतना ही नहीं, 'इस तरह का आश्वासन किसी राज्य को एक बार दे देने के बाद तो सार्वभौम सत्ता के लिए उस रियासत में दख़ल दे सकना पहले से भी आसान हो जायगा।'

लार्ड केनिंग ने इस ख़रीते में जिस सिद्धान्त को जारी किया था वह सार्वभौम सत्ता और देशी राज्यों के आपस के सम्बन्धों पर आज भी लागू

है। बटलर कमेटी की १६२६ वाली रिपोर्ट प्रजा की दृष्टि से कई बातों में बहुत असन्तोषजनक है। रियासती प्रजा के प्रति सार्वभौम सत्ता के क्या फर्ज और जिम्मेदारियाँ हैं इसकी जाँच करना कमेटी के कार्यक्षेत्र से बाहर रखा गया था और प्रजा के प्रतिनिधियों की बात भी कमेटी ने नहीं सुनी थी। इस कमेटी ने जो यह निर्णय दिया था कि राजाओं का भारत-सरकार से सम्बन्ध नहीं है, सीधा ब्रिटिश सम्राट् के साथ है उसके सही होने में बड़े-बड़े भारतीय न्याय-शास्त्रियों ने शंका की है। इन लोगों ने बताया है कि कमेटी की रिपोर्ट के आरम्भ में इस सम्बन्ध का जो ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है उससे कमेटी की दी हुई राय बिल्कुल उचित नहीं ठहरती। इतना ही नहीं, अगर उस राय के सारे फलितार्थों पर कड़ाई से अमल किया जाये तो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान को स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों का-सा दर्जा देने की अपनी जो नीति घोषित की है वह सारी-की-सारी धूल में मिल जायेगी। बटलर कमेटी की यह सब प्रजा-विरोधी भावनायें साफ़ हैं। फिर भी सार्वभौम सत्ता के अधिकार और कर्तव्य कैसे और कहाँतक हैं इस बारे में कमेटी के निर्णय इतने स्पष्ट और निर्णयात्मक हैं कि उन्हें यहाँ दोहरा देना ठीक होगा। कमेटी ने राजाओं का यह दावा फ़ौरन ख़ारिज कर दिया कि 'वे स्वतन्त्र और सम्पूर्ण सत्ताधारी शासक हैं' और उनका अन्तर्राष्ट्रीय या 'उससे मिलता-जुलता-सा' दर्जा है। इसके विपरीत, कमेटी ने उस उसूल का समर्थन किया जो लार्ड रीडिंग ने निज़ाम के नाम भेजे हुए अपने प्रसिद्ध पत्र में स्पष्ट किया था, यानी यह कि 'भारत में ब्रिटिश सम्राट् की सत्ता ही सर्वोपरि है और इस कारण किसी देशी राजा को ब्रिटिश सरकार से बराबरी के नाते सन्धि-चर्चा करने का कोई हक नहीं है।' बटलर कमेटी ने यह फैसला दिया कि सार्वभौम सत्ता ही अन्तिम है। इतिहास के अनुसार यह बात सच नहीं है कि जब भारतीय रजवाड़ों का ब्रिटिश सत्ता से सम्पर्क हुआ उस वक्त वे स्वतन्त्र थे, या सभी को पूरी शासन-सत्ता प्राप्त थी, या ऐसा दर्जा हासिल था जिसे कोई आजकल का अन्तर्राष्ट्रीय कानूनदाँ अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा कह सके। असल में तो इनमें से किसी भी रियासत का कभी कोई अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा रहा ही नहीं। ये लगभग सभी मुग़ल साम्राज्य, मराठा हुकूमत या सिख राज्य के मातहत थीं या उन्हें कर देनेवाली थीं और उनपर निर्भर थीं। इनमें से कुछ को अंग्रेजों ने लोप होने से बचाया और कुछ को नये सिरे से खड़ा किया।' इसी तरह 'सत्ता तो बाँटी जा सकती है, मगर आज़ादी के हिस्से नहीं हो सकते।.........इसीलिए सत्ता तो हिन्दुस्तान में हर तरह की मिल सकती है, पर स्वतन्त्र सत्ता तो एक ही है और वह ब्रिटिश सरकार है।'

इसी तरह कमेटी ने यह दलील भी रद्द कर दी कि, 'सम्राट् को सार्वभौम सत्ता सिर्फ उतनी ही है जितनी कि सन्धियों की शर्तों में लिखी हुई है और इसलिए सन्धियों के अलावा सम्राट् को 'रिवाज,' 'प्रबलता' या 'और कारणों' के आधार पर रियासतों के बारे में और कोई अधिकार या सत्ता नहीं है।' इसके बजाय, कमेटी ने प्रो० वेस्ट लेक की निश्चित की हुई स्थिति को स्वीकार किया। लेक साहब की यह राय थी कि 'ब्रिटिश सम्राट् के पास कितनी सार्वभौम सत्ता है इसकी व्याख्या नहीं की गयी है और यह अक्लमन्दी ही है। इसी तरह देशी रियासतों की मातहती भी ऐसी है जो समझ ली जाती है, मगर उसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।' कमेटी आगे चलकर कहती है कि, 'सार्वभौम सत्ता और रियासतों का आपसी सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि दोनों ने कोई शर्तें कर ली हों और उसका एकमात्र आधार सौ साल पहले की सन्धियों पर ही हो। यह सम्बन्ध रोज बढ़नेवाला और सजीव सम्बन्ध है। परिस्थिति और नीति के अनुसार इसमें तब्दीलियाँ होती हैं और प्रो० वेस्ट लेक के कथनानुसार इसका आधार इतिहास, सिद्धान्त और आज की वस्तुस्थिति पर है।

हम इस बात से सहमत नहीं हैं कि मात्र रिवाज में से कोई नया अधिकार पैदा नहीं हो सकता। शुरू से ही कुछ मामलों में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संधियों की तारीख से ही रिवाज के आधार पर सार्वभौम सत्ता और रियासतों के आपसी सम्बन्ध बनते और बढ़ते रहे हैं। रिवाज और बरदाश्त दो मुख्य दिशाओं में काम करते रहे हैं। कुछ मामलों में जहाँ कोई संधि, शर्तनामा या सनद नहीं थी, रिवाज और बरदाश्त ने उसके स्थान पर रियासतों को सहारा दिया है। सभी मामलों में जहाँ-जहाँ संधियों, शर्तनामों और सनदों में कुछ प्रश्नों पर कुछ भी नहीं कहा गया था वहाँ रिवाज और बरदाश्त के आधार पर ही फैसला हुआ है। इन संधियों, शर्तनामों और सनदों का अर्थ लगाने में रिवाज और बरदाश्त को हमेशा शुमार में लिया गया है।...

इतिहास के अनुसार यह सही नहीं है कि सार्वभौम सत्ता के कारण सम्राट् को कुछ खास मामलों में ही निश्चित अधिकार और निश्चित कर्तव्य मिले हैं। वे खास मामले विदेशी मामलों और भीतरी रक्षा से ताल्लुक रखते हैं। इसके विपरीत, सम्राट् ने अपने प्रतिनिधियों के मारफ़त साम्राज्य की खातिर, सारे हिन्दुस्तान के सुशासन की खातिर, अलग-अलग रियासतों के सुशासन की खातिर, पाशविक कुरीतियों को मिटाने की खातिर, मनुष्यों के प्राण बचाने की खातिर और जहाँ राजा अपने पद के अयोग्य साबित हो गया है उन मामलों को निबटाने की खातिर जिन कार्रवाइयों का करना जरूरी

मम० है; वे सब कार्रवाइयाँ इन अधिकारों और कर्त्तव्यों में शामिल हैं।

यह कहना भी सही नहीं है कि अधीन रहकर सहयोग करने जैसे शब्दों का बहुत-सी संधियों में जो जिक्र आया है उसका सम्बन्ध सिर्फ फौजी मामलों से ही है। ये शब्द एक सदी से भी ज्यादा से लगातार राजनीतिक सम्बन्धों के बारे में इस्तेमाल किये जा रहे हैं।

इन निर्णयों के अनुसार बटलर कमेटी ने उन अधिकारों की लम्बी सूची दी है जो रिवाज और बरदाश्त से और सार्वभौमिकता के कारण सरकार को मिले हैं, हालाँकि संधियों, शर्तनामों और सनदों की भाषा और शर्तों पर कड़ाई से विचार किया जाये तो ये अधिकार मिल नहीं सकते। सच तो यह है कि कमेटी की रिपोर्ट के कुछ बढ़िया-से-बढ़िया हिस्से वे हैं जिनमें यह दिखाया गया है कि रियासतों के कुशासन की हालत में दखल देने या जनता की माँगों पर अमल कराने के लिए सार्वभौम सत्ता के क्या फ़र्ज़ हैं। उसने राजाओं को याद दिलाया कि आनेवाली पीढ़ियों पर पीढ़ियों तक रियासतों का क़ायम रहना सार्वभौमिकता पर ही निर्भर है। सिर्फ सार्वभौमिकता ने ही उनके नष्ट होने या जब्त किये जाने का डर दूर किया है। लेकिन राजाओं का अस्तित्व निश्चित रूप से स्थायी बना देने की इस कार्रवाई से उसकी जोड़ के प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी पैदा हो गये। "किसी राजा को बग़ावत से बचाने का आश्वासन देने के साथ-साथ यह भी फ़र्ज़ हो जाता है कि उस बग़ावत के कारणों की जाँच की जाये और राजा से प्रजा की सच्ची शिकायतों को दूर करने की माँग की जाये और उसे यह भी बता दिया जाये कि अमुक परिणाम लाने के लिए क्या-क्या करना जरूरी है। कमेटी की रिपोर्ट में किसी पिछले वायसराय के (१८७३-७५) एक प्रसिद्ध वाक्य का हवाला दिया गया है जो उन्होंने गायकवाड़ को लिखा था। वाक्य यह था कि, "अगर किसी ऐसी सरकार की तरफ़ से कुशासन हो जिसकी रक्षा ब्रिटिश सत्ता करती है तो उस कुशासन की जिम्मेदारी एक हदतक ब्रिटिश सरकार पर भी आ जाती है।" कमेटी ने लार्ड मिन्टो के उस सिद्धान्त को भी दोहराया, जिसका कि उन्होंने ३ नवम्बर सन् १९०९ को अपने उदयपुर के भाषण में प्रतिपादन किया था। सिद्धान्त यह था कि "साम्राज्य-सरकार रियासतों में कुशासन का अप्रत्यक्ष साधन बनने की बदनामी सहन करना मंजूर नहीं करेगी। इस बदनामी का टीका सरकार पर लगे बिना न रहेगा, अगर वह राजाओं को उनकी भीतरी आजादी का यकीन तो दिलादे और उन्हें बाहरी हमले से बचाने की जिम्मेदारी तो लेले, पर साथ-ही-साथ इस बात का आग्रह न करे कि रियासतों की हुकूमत आमतौर पर अच्छी होगी।"

ऐसे हस्तक्षेप से खुद राजाओं का उतना ही भला था जितना कि प्रजा का। इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि कमेटी ने कुछ राजाओं से ही

यह टीका सुनी कि "कुछ मामलों में तो हस्तक्षेप जब हुआ उससे बहुत पहले हो जाना चाहिए था।"

इतनी बात तो हुई जुल्म या घोर कुशासन की हालत में हस्तक्षेप करके सार्वभौमिकता के अधिकार को इस्तमाल करने की। पर जब रियासतों की जनता की तरफ़ से राजनीतिक सुधारों के लिए व्यापक माँग हो, तो उस हालत में सार्वभौम सत्ता का क्या कर्त्तव्य होगा ? वह इस बात के लिए कहाँ तक बँधी हुई है कि राजाओं के अधिकार और गौरव को आँच न आने देने के लिए रियासती प्रजा की उचित राजनीतिक आकांक्षाओं को कुचलती रहे ? इस मुद्दे पर कमेटी ने जो निर्णय दिया है वह भी इतना ही ज़ोरदार और साफ़ है:—

"सम्राट् ने राजाओं के सामान्य और विशेष अधिकारों और मर्तबे में आँच न आने देने का जो वचन दिया है उसके साथ यह कर्त्तव्य भी लगा हुआ है कि वह राजाओं को मिटाकर उनकी जगह दूसरी तरह की हुकूमत क़ायम करने की कोशिशों से भी बचाये। अगर ये प्रयत्न राजा के हाथों कुशासन के कारण होंगे तो उसकी रक्षा पिछले पैरे में बतायी शर्त के अनुसार ही की जायगी। अगर इन प्रयत्नों का कारण कुशासन न हो और शासन में फेर-बदल करने की व्यापक माँग हो तो सार्वभौम सत्ता जहाँ राजाओं के सामान्य और विशेष अधिकार और मर्तबा बनाये रखने को बँधी है वहाँ वह ऐसे उपाय सुझाने के लिए भी बँधी हुई है जिससे कि राजाओं को मिटाये बिना प्रजा की माँग पूरी हो सके।"

कोई सार्वभौम सत्ता से पूछे तो कि उसकी तरफ़ से राजाओं को ऐसी 'सलाह दी जाने' में क्या बाधा है जिससे राजा क़ायम तो रहें, पर इस तरह से कि उनका शासन सुधरकर ब्रिटिश भारत के खुदमुख्तार प्रान्तों के शासन के बराबर हो जाये और उनका समूचे राष्ट्र में एकरस होकर समा जाना मुमकिन हो जाये। जब सार्वभौम सत्ता के पास राजाओं पर 'दबाव डालने' कि शक्ति बेशक है और जैसा कि बटलर कमेटी ने गर्व के साथ बताया है वह शक्ति भूतकाल में सुशासन और तरक़्क़ी की खातिर इस्तेमाल की जाती रही है, तो इस वक्त उस शक्ति को काम में न लाने से सार्वभौम सत्ता पर यह दोष आये बिना नहीं रह सकता कि वह एक तरफ़ तो दुनिया में लोकतंत्रवाद की रक्षा के लिए लड़ने का दावा कर रही है और दूसरी तरफ़ देशी भारत में निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली क़ायम रखना चाहती है। उसके सामने एक ही ईमानदारी का और माकूल रास्ता है, जो 'मैंचेस्टर गार्डियन' नामक विलायती अखबार ने १६२८ में ही सुझा दिया था—"सरकार

राजाओं से कह दे कि हमने ब्रिटिश भारत के शासक होने की हैसियत से आपके साथ कुछ संधियाँ की थीं। अब समय आ रहा है कि हमें ब्रिटिश भारत की हुकूमत वहाँकी प्रजा को सौंप देनी होगी। हम आपको अभी से सूचना दिये देते हैं ताकि आप हमारे वारिसों के साथ नया प्रबन्ध कर लें। आपको उनके हाथों इन्साफ़ मिले, इसमें हम भरसक मदद देंगे, मगर आपका भविष्य ज्यादातर इसीपर निर्भर रहेगा कि आपको अपनी प्रजा का सद्भाव हासिल करने में कितनी सफलता मिलती है?

सेगाँव, ३: १२:३६

:३:

हम भी यही चाहते हैं

बीकानेर के महाराजा साहब को इस बात का शौक़ है कि उनकी प्रजा और संसार उन्हें योद्धा के रूप में जानें। अपनी राजधानी में नये साल के दिन दी गयी दावत में 'साम्राज्य की विजय-कामना' करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया उसे एक पत्रकार ने "युद्ध की ललकार" बतलाया है और कम-से-कम एक कार्टूनिस्ट को तो व्यंगचित्र बनाने का भी मसाला मिल गया है। मगर उसमें कुछ ख़ासी अच्छी बातें भी हैं, जो हाल के उनके कुछ उद्गारों के बाद जिन्हें कम-से-कम अवांछनीय कह सकते हैं, ये भाव और भी अच्छे खासे हैं। आपसी मेल-जोल और अविश्वास-निवारण पर ज़ोर तथा 'एक और अखण्ड भारत' में और स्वराज के ध्येय के प्रति अपने विश्वास के उनके उद्गार ऐसे हैं जिनकी हरेक देशभक्त भारतीय दाद देगा। लेकिन वह यहीं नहीं रुके। बल्कि अपने तरीक़े पर उन्होंने "भारत के सब दलों और हितों में सहयोग के लिए किये जानेवाले सम्राट की सरकार और वाइसराय साहब के सब प्रयत्नों के बावजूद अपना बेसुरा राग अलापने" का कांग्रेस पर दोषारोपण किया है। उनके भाषण का सार उनके नीचे के वाक्य में आ जाता है—

"यह भी आशा की जाती है कि भारत के राजनीतिक वातावरण को अविश्वास और विरोध की जो भावना दुर्भाग्यवश बिगाड़ रही है उसका अन्त हो जायेगा, जिससे जो औपनिवेशिक स्वराज्य हमारा ध्येय है और जिसका निश्चित रूप से हमें आश्वासन दिया जा चुका है उसका प्राप्त करना सुदूर भविष्य की बात नहीं रहेगी। लेकिन मैं यह कहने के लिए मजबूर हूँ कि ऐसी प्रगति के लाभ सभी के लिए एक समान होने चाहिएँ, किसी एक राजनीतिक दल या जाति का ही उनपर एकमात्र अधिकार न हो, और सभी वर्गों व जातियों के लोग, अपने सभी स्वत्वों तथा हितों के पर्याप्त और निश्चित संरक्षण के साथ और इस तरह कि जिसमें किसी एक दल का दूसरे पर प्रभुत्व न हो, उनमें भागीदार होकर उनका पूर्णतः और जहाँतक हो सके समुचित रूप से उपयोग करें। यह आवश्यक है, और इसमें भारतीय राज्यों को भी शामिल करना ही चाहिए, जो शेष भारत के साथ असंदिग्ध समानता की स्थिति का उपभोग करते हैं और उसका एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है।"

क्या ही अच्छा होता कि जिन लोगों ने सब मामलों को नीतिधर्म की तराजू में तौलकर देखना सीखा है उनकी कठिनाइयों को वे ज़रा अच्छी तरह समझने की कोशिश करते। अपने भाषण में उन्होंने उस नरेशवर्ग का,

जिसमें कि वह हैं, "हम साम्राज्यवाले" इस तरह अभिमान के साथ उल्लेख किया है। आश्चर्य की बात है कि आपको यह पता है या नहीं कि ब्रिटेन खुले आम साम्राज्यवाद से इन्कार कर चुका है और यह दावा करता है कि आज वह संसार में लोकतंत्रवाद के लिए ही लड़ रहा है। नरेशवर्ग ब्रिटेन के प्रति अपनी वफ़ादारी की घोषणा करने में कभी नहीं थकता। लेकिन अगर वह वफ़ादारी राज के खजाने से ब्रिटेन के युद्ध-कोष में मदद देने और अपने ग़ुलाम प्रजाजनों को लास पर भेजने तक ही सीमिति रहे तो उसका कोई बहुत मूल्य न होगा। जो लोग अभी भी दासता में हैं वे लोकतंत्रवाद के लिए लड़ने में बहुत कारगर नहीं हो सकते। नैतिकता के युग में हम रह रहे हैं। वर्तमान युद्ध में संसार की सद्भावना प्राप्त करके अपनी ओर बनाये रखने के दोनों पक्ष जो सरतोड़ कोशिश कर रहे हैं वह इस बात का प्रमाण है। इसलिए ब्रिटेन के प्रति वफ़ादारी का मतलब उसके द्वारा घोषित उद्देश्य व आदर्शों के प्रति वफ़ादारी भी जरूर होना चाहिए। इस दृष्टि से देखें तो हमारा राजन्य वर्ग आज कहाँ है? सार्वभौम सत्ता द्वारा उनके सामने रखे गये आदर्शों और नीतियों को उन्होंने वफ़ादारी और विश्वास के साथ कहाँतक निभाया है?

चालीस साल से ऊपर हो गये, जब ग्वालियर के अपने याद रखने लायक़ भाषण में लॉर्ड कर्ज़न ने घोषित किया था :—

"देशी नरेश साम्राज्य में सम्राट के प्रति वफ़ादार रहते हुए ख़ुद अपनी प्रजा के प्रति मौज-शौक में फँसे रहकर ग़ैरजिम्मेदार और निरंकुश शासन नहीं कर सकते। उन्हें जो सत्ता प्राप्त है उसका दुरुपयोग नहीं, सदुपयोग करना चाहिए। अपनी प्रजा का उन्हें स्वामी ही नहीं, सेवक भी होना चाहिए। उनके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि राज की आदनी उनके स्वार्थपूर्ण उपभोग के लिए नहीं बल्कि प्रजा की भलाई के लिए है; उनके अन्दरूनी शासन में उसी हद तक दख़लदराज़ी नही की जायेगी जिस हदतक कि वह ईमानदार रहेंगे। और उनकी गद्दी स्वच्छन्द भोग-विलास की चीज नहीं बल्कि कर्तव्यपालन का भार है। पोलो के मैदान या घुड़दौड़ अथवा यूरोपियन होटल में ही उनका काम नहीं है। उनका असली काम, राजा की हैसियत से उनका कर्त्तव्य तो, उनके अपने प्रजाजनों के बीच ही है। मैं तो हर हालत में उन्हें इसी कसौटी पर कसूँगा। अन्त में इसी कसौटी पर या तो राजा की राजनीतिक संस्था मिटेगी या बचेगी।"

लॉर्ड हार्डिञ्ज, नॉर्थब्रुक और हैरिस, क्रैनब्रुक, मेयो, चैम्सफ़र्ड, तथा केनिंग ने भी अपनी घोषणाओं में इसी नीति और सिद्धान्त की ताईद की

है। लॉर्ड क़र्जन के कोई चौथाई सदी से कुछ समय बाद भारतीय राज्यों को लॉर्ड अर्विन को जो गश्ती पत्र (अर्विन मेमोरेण्डम) भेजा गया उसमें कुछ सिफ़ारिशें ऐसी हैं जिन्हें राजाओं को दी जानेवाली गम्भीर और मित्रता-पूर्ण सलाह के नमूने-रूप बतलाया गया है। "वहाँ कानून और व्यवस्था का राज्य होना चाहिए," याददाश्त में सलाह दी गयी है, "जिसका आधार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जाति का व्यापक कल्याण हो। वैयक्तिक स्वतंत्रता और अधिकारों को संरक्षण मिलना चाहिए, तथा कानून के आगे राज के सब लोगों को समान माना जाना चाहिए।" इसके लिए "न्याय-विभाग में ऐसे दृढ़ और योग्य आदमियों को रखना चाहिए जो शासन-विभाग के मनमाने हस्तक्षेप से सुरक्षित रहें और जबतक अपना कर्तव्य-पालन करें तबतक हटाये न जा सकें।" "कर इतने कम होने चाहिएँ जितने परिस्थिति को देखते हुए हो सकें, आसानी से वसूल हो सकें और निश्चित राशि में तथा कर देने-वालों की हैसियत के अनुपात से हों।" "राजा का निजी ख़र्च," बुद्धिमत्ता-पूर्वक कहा गया कि, "इतना कम होना चाहिए जो उसकी हैसियत और प्रतिष्ठा क़ायम रखने के लिए पर्याप्त हो," जिससे "सरकारी आमदनी का यथासम्भव अधिक-से-अधिक भाग लोगों की उन्नति के लिए उपलब्ध हो सके।"......राजाओं को यह भी सलाह दी गयी कि उनके यहाँ "ऐसे कोई प्रभावशाली जरिये होने चाहिएँ जिनके द्वारा वे अपने प्रजाजनों की आवश्यकता और इच्छायें जान सकें और शासन व शासितों के बीच निकट सम्पर्क क़ायम रहे।"

अर्विन-याद्दाश्त के जवाब में, फरवरी १६२८ में नरेन्द्र-मण्डल ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें राजाओं से प्रार्थना की गयी कि—

"(अ) वे अपने यहाँ कानून का ऐसा निश्चित जाब्ता बनायें, जिनमें व्यक्तियों की स्वतंत्रता और सम्पत्ति के संरक्षण की गारंटी दी जाये और उस क़ानून का पालन ऐसे न्याय-विभाग द्वारा कराया जाये जो प्रबन्ध-विभाग के अंकुश से मुक्त हो।

(ब) राजा के खालिस व्यक्तिगत खर्च को उचित आधार पर बाँध दिया जाये, जो राज्य के सार्वजनिक खर्च से सर्वथा अलग रहे।"

राजन्यवर्ग में जो ५६२ शासक हैं और जिनकी तरफ से बीकानेर के महाराजा साहब बोले हैं, कोई चाहे तो पूछ सकता है, कि अर्विन-याददाश्त में की गयी उन सिफारिशों पर, जिनके बारे में कि यह ठीक ही कहा गया है कि सभी राज्यों में लागू हो सकनेवाले सुशासन के लिए कम-से-कम हैं, या और नहीं तो अपने मंडल से पास हुए उस प्रस्ताव पर ही उनमें से कितनों ने अमल

किया है ? अधिकांश नरेशों ने मंडल के प्रस्ताव को अमली रूप देने में जो 'बिल्कुल उपेक्षा' दिखलायी उसकी खुद उनके ही वर्ग के एक सदस्य ने आलोचना की है और उसे ऐसी 'राजनीतिक भूल' वतलाया है जिससे और नहीं तो 'कम-से-कम नैतिक दृष्टिकोण से तो जरूर उनकी स्थिति कमजोर' होगी ही १। बटलर कमेटी की रिपोर्ट में जो अङ्क दिये गये हैं उनके अनुसार, राजा के निजी खर्च की रक़म निश्चित करने का प्रयत्न भी सिर्फ ५६ राज्यों में ही हुआ है। बटलर कमेटी को पता लगा कि अनेक राज्यों में मुहाफ़िजखाने भी व्यवस्थित रूप में नहीं हैं। विभिन्न राज्यों द्वारा आय-व्यय के जो अनुमान या अन्य आर्थिक वक्तव्य निकाले जाते हैं वे हिसाव छानबीन करनेवाली स्वतंत्र पद्धति की कसौटी पर टिक भी सकेंगे इसमें शक है, फलतः राजघराने की शान-शौकत के लिए राज्यों की प्रजा को जो रकम खर्चनी पड़ती है वह दरअसल उससे कहीं अधिक है जितनी कि राजा के निजी खर्च की मद में दिखलायी जाती है। इतने पर भी विविध राज्यों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टों पर ही श्री पोपटलाल चूड़गर ने उनमें राजाओं के व्यक्तिगत और महलात पर होनेवाले ख़र्च के औसत के जो अङ्क संग्रह किये हैं वे रहस्योद्‌घाटक हैं। उनके अनुसार इन राज्यों में यह खर्च इन-इन राज्यों की कुल आमदनी के अनुपात से इस प्रकार है—काश्मीर में २०, वीकानेर में २०, इन्दौर में १७, अलवर में २५, पटियाला में २५, कपूर्थला में २५, कच्छ में २५, नवानगर में ४५ प्रतिशत।

अब नागरिक स्वतंत्रता और प्रीतिनिधिक संस्थाओं को लीजिए। जिन राज्यों ने 'कम-बढ़ ब्रिटिश भारत के ढंग पर' अपने यहाँ हाईकोर्ट क़ायम किये हैं उनकी संख्या बटलर कमेटी की रिपोर्ट में ४० वतलायी गयी है और जिन राज्यों में न्याय-विभाग प्रबन्ध-विभाग के कार्यों से मुक्त किया गया है या जहाँ धारा-सभायें क़ायम की गयी हैं उनकी संख्या क्रमशः ३४ और ३० दी गयी है। लेकिन, जैसा कि प्रो० आर्थर कीथ ने बतलाया है; स्थिति भी ऐसी-की-ऐसी वनी हुई है कि 'राज का विधान किसी भी हालत में ऐसा नहीं है जिससे नरेश वँधे हुए हों।' और अधिकांश राज्यों में 'ब्रिटिश भारत की तरह क़ानून से शासन होने जैसी कोई बात नहीं है', जिससे जब भारतीय शासन-विधान (गवर्मेण्ट आफ इण्डिया एक्ट) का मसविदा वनाया गया तो उसमें 'मौलिक अधिकारों का उल्लेख ही न किया जा सका, क्योंकि वे राज्यों को मंजूर नहीं हो सकते थे।'

---

१ सीतामऊ के महाराजकुमार रघुवीरसिंह कृत 'भारतीय रजवाड़े' पुस्तक का पृष्ठ ८६ देखिए।

खुद बीकानेर की ही बात लीजिए। राष्ट्र-संघ की सिफ़ारिशों के बाद ब्रिटिश सरकार सारे ब्रिटिश साम्राज्य में 'दासता और गुलामी से मिलती-जुलती हालतों व प्रथाओं' का अन्त करने के लिए रजामन्द हो गयी। उसके अनुसार सभी तरह की बेगार की प्रथा को खत्म करना था। लेकिन क्या बीकानेर राज्य में ऐसा किया गया है ? अमली तौर पर राज्य की सभी हरिजन जातियों को क्या अभी भी बेगार के लिए मजबूर नहीं किया जाता ? दासता और गुलामी से मिलती-जुलती हालतें क्या अभी भी वहाँ प्रचलित नहीं है ? वहाँ दारोगा, चेला और रावणा जैसे लोगों की कानूनन् जो स्थिति होनी चाहिए और वस्तुतः जो स्थिति है उसका पता लगाने के लिए अगर कोई जाँच-कमीशन मुकर्रर किया जाये तो, हम यह कहने का साहस करते हैं कि वह बेकार साबित न होगा।

महाराजा साहब ने शेष भारत के साथ राज्यों की असंदिग्ध समानता का दावा किया है और यह माँग की है कि नयी राजनीतिक स्थिति से भारत को जो सुविधायें प्राप्त हों वे किसी राजनीतिक दल या जाति की ही एकमात्र मिल्कियत न हों बल्कि सभी समान रूप से उनमें भागीदार हों। कांग्रेस जो चाहती है वह ठीक यही बात तो है। निश्चय ही राज्यों की बात जब कही जाये तो उसमें राज्यों के प्रजाजन भी तो शामिल हैं। राजाओं को चाहिए कि वे अपनी प्रजाओं के सच्चे ट्रस्टी और सेवक के रूप में, जैसे बनने की लार्ड कर्ज़न ने उनसे आशा की थी और जैसे बनने के लिए आज फिर गांधी जी उनसे कह रहे हैं, सामने आयें, उन्हें चाहिए कि वे ब्रिटिश सम्राट् की तरह विधान से नियंत्रित नरेश बन जायें, और अपने प्रजाजनों को भी वे प्राथमिक अधिकार दे दें जिसका उपभोग ब्रिटिश भारत उनके पड़ौसी कर रहे हैं, और तब वे, अगर कर सकें तो, मतदाताओं की सद्भावना और उनका विश्वास प्राप्त करके न केवल अपने ही प्रजाजनों के बल्कि सारे भारतवासियों के भाग्य-विधाता बन सकते हैं। यही वह सबसे बड़ी सेवा है, जो वे वर्तमान संकट में अपनी, अपने देश की और उस सार्वभौम सत्ता की कर सकते हैं, जिसकी वफ़ादारी की वे हमेशा सौगंध खाया करते हैं।

सेगाँव, ६ः १ः ४०

: ४ :

प्रजा ही निर्णायक है

त्रावणकोर के दबंग दीवान सर सी. पी रामस्वामी अय्यर ने गांधी जी और वायसराय साहब की बातचीत के परिणाम पर गांधीजी के बयान के जवाब में हाल ही में अखबारों को जो मुलाक़ात दी है उससे उनकी ख्याति और भी बढ़ गयी है। उन्होंने गाँधीजी की इस राय पर ज़ोरदार आपत्ति की है कि राजा लोग ब्रिटिश सम्राट् के सामन्त होने के कारण अपने लिए सम्राट् से ऊँचे दर्जे का दावा नहीं कर सकते और जब सम्राट् सारे भारत पर उन्हें आज जो सत्ता मिली हुई है उसे छोड़ेंगे तब राजाओं को चाहिए कि सम्राट् की उत्तराधिकारी भारत की जनता से यह आशा रखें कि वह उनके दर्जे की रक्षा करेगी। त्रावणकोर के दीवान साहब ने घोषणा की कि, 'यह कहना सही नहीं है कि सम्राट् से अलग रियासतों का कोई दर्जा ही नहीं है। बहुत-से रजवाड़ों ने सैकड़ों बरस तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व क़ायम रखा और कुछ राज्य तो, जिनमें दरबार त्रावणकोर और बहुत-सी राजपूत और दूसरी रियासतें शामिल हैं, कभी फ़तह ही नहीं किये गये।··· ···यह बात ज़ोर देकर नहीं कही जा सकती कि सम्राट् आज अपनी सत्ता छोड़ दें तो राजाओं को भी ऐसा ही करना पड़ेगा। यह भी नहीं हो सकता कि नये समझौते और नयी सन्धियाँ किये बग़ैर ही अपने-आप राजा लोग अपनी वफ़ादारी, कर्तव्य या अधिकार किसी दूसरी राजनीतिक सत्ता के हवाले कर देंगे। इसके विपरीत, सम्राट् हिन्दुस्तान से हट जायें तो सम्भव है भारतीय रियासतें फिर वही दर्जा अख़्तियार करलें जो उन्हें ब्रिटिश सरकार से सन्धियाँ करने के पहले हासिल था।' सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर एक गहरे विधान-पण्डित हैं। उनसे तो यह आशा रखी जाती है कि वे जो बात कहेंगे उसके सही होने का निश्चय पहले ही कर लेंगे, इसलिए यही नतीजा निकाला जा सकता है कि गांधीजी का खण्डन करने और एक न निभनेवाली स्थिति को कायम रखने के जोश में उन्होंने ऐसी बात कह दी जिसे वे चाहते ज़रूर हैं, मगर इतिहास की दृष्टि से वह सही नहीं है।

तो हम ज़रा घटनाओं की असलियत को देखें—उस तरह नहीं, जिस तरह कि सर सी. पी. हमसे मनवाना चाहते हैं, बल्कि जिस तरह इतिहास में लिखी हुई हैं। त्रावणकोर की पहली सन्धि १७९५ में हुई। इसमें उसने अपने इलाके में अँगरेज़ों को मदद देने के लिए सेना रखना स्वीकार किया। चूँकि 'मूल सन्धि का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ,' इसलिए १७९५ के अहदनामे में १८०५ में कुछ शर्तें और बढ़ायी गयीं। १८०५ की सन्धि की धारा ९ यों है:—

'महाराजा साहब इस धारा के अनुसार वादा करते हैं कि समय-समय पर अंग्रेज सरकार उन्हें जो भी सलाह देगी उसपर वे हर वक़्त और पूरा-पूरा ध्यान देंगे। यह सलाह महाराजा की अर्थव्यवस्था में किफायत करने मालगुजारी ज्यादा अच्छी तरह वसूल करने, व्यापार को बढ़ाने, व्यवसाय, खेती और उद्योगों को प्रोत्साहन देने या महाराज के हित, प्रजा के सुख और दोनों राज्यों की आपसी भलाई से सम्बन्ध रखनेवाले और किसी भी उद्देश्य से दी जा सकती है।'

इस सन्धि में यह भी शर्त थी कि अगर 'सहायता का रुपया नियमित रूप से न चुकाया जायेगा' तो कम्पनी रियासत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सकेगी। अंग्रेजों का यह नियन्त्रण रियासत को अच्छा न लगा और १८०९ में त्रावणकोर और कोचीन के दीवानों ने मिलकर अंग्रेजों से सशस्त्र मुक़ाबिला ठान दिया। 'मद्रास-सरकार ने सेना की एक टुकड़ी भेजकर अत्यन्त कठोरता के साथ विद्रोह को कुचल दिया। दीवान हारकर भाग गया और उसने आत्म-हत्या करली। उसकी लाश त्रिवंद्रम में खुले आम लटकाकर रखी गयी।'+

इसके बावजूद यह दावा करना व्यर्थ है कि सन्धियों के आधार पर त्रावणकोर के सम्बन्ध सम्राट् के साथ बराबरी के हैं और उन्हें सम्राट रद करने या बदलने का इकतर्फा फैसला नहीं कर सकता। यह कठोर सत्य भी याद रखना चाहिए कि सन्धियों की मूल शर्तें कुछ भी हों, पिछली आधी सदी में ऐसी राजनीतिक परम्परा बन गयी है और राजाओं की कमजोरी और ब्रिटिश सरकार की ताक़त ऐसी नजीरें कायम होगयी हैं जिनसे छोटी-बड़ी सब रियासतों का दर्जा घटकर ब्रिटिश सरकार के साथ 'मातहती के सहयोग' का सम्बन्ध रह गया है। जैसा लार्ड रीडिंग ने निजाम महोदय को अपने प्रसिद्ध पत्र में लिखा था, 'किसी भी हिन्दुस्तानी रजवाड़े के शासक को ब्रिटिश सरकार के साथ बराबरी के नाते सन्धि-चर्चा करने का हक़ नहीं है। सरकार की सर्वोपरि सत्ता का आधार सिर्फ सन्धियों और कारनामों पर ही नहीं, बल्कि उनसे स्वतन्त्र भी है।' इस प्रकार सर सी. पी. ने रियासतों के विजित न होने का जो सिद्धान्त गढ़ा है और उसकी बुनियाद पर अपने पक्ष के समर्थन में अपनी रियासत के लिए जो दावा खड़ा किया है वह टिकता नहीं।

कहा गया है, हालाँकि कानूनन् हिन्दुस्तानी रियासतों का सम्बन्ध सम्राट् से है, फिर भी ब्रिटिश विधान और उसकी भारतीय शाखा की रचना इस ढङ्ग से हुई है कि सम्राट् के साथ सम्बन्ध होने का सिद्धान्त व्यवहार में भारत-सरकार के साथ सम्बन्ध के रूप में ही प्रकट होता है। कम्पनी के शुरू समय से ही हिन्दुस्तानी राजाओं और रजवाड़ों के साथ भारत-सरकार का और सिर्फ भारत-सरकार का ही वास्ता रहा है। ब्रिटिश सरकार का दावा रहा है कि उसकी सार्वभौम सत्ता के गुणों में से एक यह भी है कि अपनी इस सत्ता का अर्थ लगाने और उसपर अमल करने में वह कहांतक जा सकती है इसका निश्चय करने में उसका हाथ कोई नहीं पकड़ सकता। रियासतों के भविष्य की उसे कोई भी व्यवस्था करनी हो तो उसके बारे में उसने कभी यह नहीं माना कि उनसे सलाह लेने का उसका फर्ज है। १८६० में जब उसने भारत के शासन की बागडोर कम्पनी के हाथ से अपने हाथ में लेकर पहले-पहल सार्वभौमिकता की घोषणा की तो राजाओं से पूछकर नहीं की। जब १८७६ में ब्रिटेन के बादशाह ने रायल टाइटिल्स एक्ट (शाही पदवी कानून) के अनुसार अपने को भारत का सम्राट् घोषित किया उस समय भी राजाओं की सलाह नहीं ली गयी और न उस वक्त ली गयी जब १८८६ का इण्टरप्रीटेशन एक्ट (व्याख्या-कानून) पास करके सार्वभौम सत्ता को कानून का रूप दिया गया। मैं पूछता हूँ, जब दो पक्षों में कोई 'करार' हो तो कौन-से कानूनी उसूल के अनुसार एक पक्ष के मालिक को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न होकर वह अधिकार दूसरे पक्ष को होता है ? घटनाचक्र का साधारण क्रम तो यही हो सकता है कि जैसे १८५८ में कम्पनी के बजाय भारत-सरकार कायम हुई तो वह कम्पनी के सब अधिकार काम में लेने लगी, वैसे ही भारत में भावी उपनिवेश-सरकार बनेगी तब वह भी उन सारे अधिकारों को हासिल कर लेगी और उनका उपयोग करेगी जो आज भारत-सरकार को अपने हक से या सम्राट् के दिये हुए हासिल हैं।

इसके सिवाय यह भी याद रखना चाहिए कि विधान की भाषा में 'सम्राट्' शब्द पार्लियामेण्ट से बँधे हुए राजा का ही द्योतक है। ब्रिटिश-विधान में पार्लियामेण्ट की सत्ता ही सबसे ऊँची मानी गयी है। इस सत्ता में कोई मर्यादा नहीं होती। पार्लियामेण्ट का पास किया हुआ कानून आजकल के-से संकट में सार्वभौम सत्ता ऐसे मन्त्रियों को, जो भारतीय धारा-सभा के प्रति ज़िम्मेदार हों, सौंप सकता है और उन्हींको सौंपना ही पड़ेगा। जैसा कि प्रोफेसर कीथ ने बताया है, 'सम्राट् के सलाहकार यह नहीं कह सकते कि प्रान्तों में हिन्दुस्तानियों को जो अधिकार मिल गये हैं वे रियासतों की प्रजा

को नहीं दिये जायेंगे। सम्राट् को यह सलाह देना उनका स्पष्ट कर्तव्य है कि वे अपने अधिकार से राजाओं द्वारा ऐसे वैधानिक सुधार करवायें जिनका नतीजा यह हो कि रियासतों में थोड़े ही समय में ज़िम्मेदार शासन कायम हो जाये। अगर प्रान्तों के चुने हुए प्रजा-प्रतिनिधियों को गैर-ज़िम्मेदार शासकों के मनोनीत किये हुए आदमियों के साथ जबरदस्ती बिठाया जायेगा तो ऐसा संघ हिन्दुस्तान के भले के लिए नहीं समझा जा सकता। असल में गांधीजी के इस दावे का कुछ जवाब नहीं है कि सम्राट् की तरह राजाओं को भी प्रजा के हाथों सत्ता सौंपनी पड़गी।

जैसा सर सेम्युअल होर ने कामन्स-सभा में गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट सम्बन्धी बहस के सिलसिले में ऐलान किया था, राजाओं के सामने दो ही रास्ते हैं! या तो आज की तरह वे सामन्त बनकर सम्राट् की ऐसी सार्वभौम सत्ता के नीचे रहें जो निश्चित होना नहीं चाहती और इसलिए उसका क्षेत्र भी अनन्त है या वे अपने देशवासियों के साथ बिल्कुल बराबरी के नाते मिलकर हिन्दुस्तान के भाग्य का निर्माण करने के सम्मान और विशेषाधिकार में साझीदार बनें और राष्ट्रीय सभा में उनके साथी और अपनी प्रजा के प्रतिनिधि बनकर बैठें। उनके लिए सार्वभौमिकता के अथक चक्कर में से बचने का और कोई रास्ता नहीं। वे जितने ही संघ में अधिक शरीक होंगे और रियासतों में प्रतिनिधि-शासन जितना ही ज़्यादा होगा, सार्वभौमिकता का दबाव उनपर उतना ही कम पड़ेगा। यह कहना तो राजाओं के लिए न शान की बात होगी और न देशभक्ति की कि भूत और वर्तमान काल की भारत-सरकार तो हमें इसलिए मंजूर थी कि उसकी रचना विदेशी थी और वह हिन्दुस्तानी निर्वाचकों के प्रति ज़िम्मेदार न थी, लेकिन भावी भारत-सरकार हमें इस कारण स्वीकार न होगी कि वह हमारे ही देशवासियों के प्रति जिम्मेदार होगी। इसमें मिथ्याभिमान की गन्ध आती है और आशा करनी चाहिए कि राजा लोग अपनी नेकनामी की खातिर जल्दी ही इसका खण्डन कर देंगे।

मगर सर सी. पी. को तो रियासतों के भारतीय प्रजा की सार्वभौम सत्ता के नीचे चले जाने की कल्पना से ही इतना डर लगता है जितना कि कौव्वे को तीर लगता है। इसके बचने के लिए वे पुराने जमाने के कारण लेने का खयाली पुलाव पकाते हैं और ऐंठकर कहते हैं कि हिन्दुस्तान से सम्राट की सत्ता हठ गयी तो रियासतें बहुत करके फिर अपना वही स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लेंगी जो सन्धियाँ होने के पहले वे भोग रही थीं। यह बयान, अपने ही मन की बात जोश में आकर कह दी गयी हो तो ही समझ

में आ सकता है। नहीं तो, सचाई और सचाई से निकलनेवाले नतीजे दोनों की दृष्टि से यह ग़लत है। पहले तो रियासतों के जिस 'स्वतन्त्र अस्तित्व' की सर सी. पी. ने आवाज उठायी है वह झूठी है। ऐसा अस्तित्व उनकी अपनी कल्पना के सिवाय और कहीं नहीं है। जैसा कि बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में तीखी भाषा में बताया है, 'इतिहास की दृष्टि से यह सही नहीं है कि जब हिन्दुस्तानी रियासतों का ब्रिटिश सरकार के साथ वास्ता पड़ा तो वे स्वतन्त्र थीं।......असल बात तो यह है कि एक भी रियासत का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा कभी रहा ही नहीं। ये लगभग सभी मुग़ल-साम्राज्य, मराठों की सत्ता या सिख-राज के मातहत थीं या उनकी सामन्त थीं और उन्हींपर इनका अवलम्ब था। कुछ रियासतों को तो अंग्रेजों ने मरते-मरते बचाया था और कुछ नयी बनायी गयी थीं।' दूसरी बात यह है कि सर सी. पी. के 'व्यावहारिक राजनीतिज्ञ' होने के दावे का पूरा लिहाज़ रखकर भी हम उन्हें यह बताने का साहस करते हैं कि एक सारे युग के महान् राजनीतिक विकास को मिटाया नहीं जा सकता और न डेढ़ सौ वर्ष के ऊपर के इतिहास की धारा ही उल्टी बहायी जा सकती है। मगर मालूम होता है कि सर सी. पी. यही करने पर तुले हुए हैं। जिस तरह मिसाल के लिए मैसूर के सुलतान को, जिसके पंजे में से त्रावणकोर को अंग्रेजों की सहायक प्रणाली में शामिल करके बचाया गया था, फिर से ज़िन्दा करना असम्भव है, उसी तरह रियासतों का सन्धियाँ होने से पहले की हालत में फिर से पहुँचना नामुमकिन है। उस समय के बाद कितनी ही घटनायें घट चुकी हैं। आज रियासतों की करोड़ों प्रजा को उनकी इच्छाओं या राजनीतिक आकांक्षाओं का लिहाज़ किये बग़ैर शतरञ्ज के मोहरों की तरह समझकर उनके भाग्य का मनमाना निपटारा नहीं किया जा सकता। ऐसा करने का विचार करना मध्यकालिक दृष्टिकोण को ज़ाहिर करता है। उसका लोकतन्त्रवादी आदर्शों और आत्म-निर्णय के मौजूदा ज़माने की भावना और प्रकृति के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाता। रियासतों की प्रजा के भविष्य का फ़ैसला करने में उसीकी मर्ज़ी चलेगी।

सेगाँव, १२, २, ४०

: ५ :

राजाओं का बेसुरा अलाप

कहा जाता है कि नरेन्द्र-मण्डल की अभी हाल में जो बैठक हुई उसमें बीकानेर नरेश ने कहा था —

"कांग्रेसी हल्कों में यह कहा गया है कि राजा लोग साम्राज्य की कृति हैं। वे सम्राट् के सामन्त हैं और शाही ताज से जुदा उनकी कोई हैसियत नहीं है। साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए रियासतों का प्रश्न हिन्दुस्तान की तरक्की के रास्ते में एक जबरदस्त रोड़ा बनाकर खड़ा किया गया है और रियासतों की समस्या ब्रिटिश सरकार का खड़ा किया हुआ एक हौआ है।······ यहाँ मुझे यह कहने दिया जाये कि बहुत-सी बड़ी और छोटी रियासतों का अस्तित्व उनके पुराने शासकों की प्रबल शक्ति पर स्थापित है और यह भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पहले ही उनके दावों का अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके इस तरह की हवाई बातों में नहीं उड़ाया जा सकता।·········अगर कोई अत्यन्त भाईचारे के साथ कहे, तो वह ब्रिटिश भारत ही है जो ब्रिटिश सरकार की कृति है।

"यह भी आरोप लगाया गया है कि राजा लोग कांग्रेस के विरुद्ध हैं। लेकिन यह वस्तुस्थिति का सही चित्रण नहीं है। बल्कि कांग्रेस ही इधर रियासतों के साथ सक्रिय विरोधात्मक बर्ताव कर रही है, और उसके कुछ प्रमुख नेताओं ने यह राय जाहिर की है कि वे संघ-राज्य—फेडरेशन—में रियासतों को शामिल करना नहीं चाहते, वे रियासतों की संधियों को काग़ज़ की चिंदियों की तरह फाड़ फेंकेंगे और यह भी कि वे रियासतों का खात्मा होते देखना चाहेंगे।"

बदक़िस्मती से इस तरह की बेसुरी बातें इधर राजाओं के भाषणों में एक आम बात हो गयी है। इनके जवाब में अत्यन्त आदर के साथ यह कहा जा सकता है कि सार्वभौम सत्ता के साथ राजाओं के सम्बन्ध के विषय में 'सामन्ती' या 'अधीनस्थ सहयोग' की जो वैधानिक स्थिति है वह कांग्रेस की पैदा की हुई नहीं है, बल्कि उसी साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतिनिधियों की स्थापित की हुई है, राजाओं के जिसका अंग होने में अपना गौरव समझने की बात बीकानेर-महाराज अगणित बार दोहरा चुके हैं।

दूसरी जिस बात पर, अर्थात् राजा लोग साम्राज्य की कृति हैं ऐतराज़ किया है उसके सम्बन्ध में सन् १९३५ के भारत-शासन-विधान में स्वयं भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में दी हुई परिभाषा ध्यान देने योग्य है। वह प्रकार है —

"भारतीय रियासत का मतलब है ब्रिटिश भारत से जुदा कोई भी इलाक़ा, जिसे सम्राट् ऐसी रियासत के रूप में स्वीकार करें फिर चाहे उसे रियासत कहा जाये चाहे ज़मीदारी या जागीर या और कुछ नाम दिया जाये।"

दूसरे शब्दों में, उनका दर्जा सर्वथा सम्राट् के स्वीकार करने पर ही निर्भर रखा गया है। भारतीय राजाओं के साथ ब्रिटिश सम्बन्ध का इतिहास ऐसे उदाहरणों से छितरा पड़ा है जिसमें साम्राज्यशाही ने अपनी नीति के अनुकूल समय-समय पर बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार रियासतों को एक साँस में बनाया और बिगाड़ा है, ज़मींदारियों को ऊँचा उठाकर रियासतों में और रियासतों को नीचा गिराकर ज़मींदारियों में बदला है। उड़ीसा के करदाता महालों का मामला लें, जो संख्या में तो २६ हैं; लेकिन जिनके पास सब मिलाकर कुल ज़मीन एक भारतीय प्रान्त के बराबर है और जो ४६ लाख की आबादी के भाग्य-विधाता हैं। ऊँचे-से-ऊँचे प्रामाणिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन् १८०३—०४ में मरहठों के उड़ीसा छोड़ने पर जब इनमें और अंग्रेज सरकार के बीच पहली बार सम्बन्ध कायम हुए, तब इनके मालिकों के साथ सरकार का इस तरह का कोई सम्बन्ध नहीं था जिससे आवश्यकता होने पर इन्हें अदालतों के साधारण अधिकार-क्षेत्र से बरी किया जा सकता हो।१ लेकिन १८०५ के रेगुलेशन्स में, बाँद, पाललहारा अथायमल्लि के सिवा, जिनका कोई उल्लेख नहीं था, बाक़ी की ये सब रियासतें 'केवल सुविधा के आधार पर' बंगाल के रेगुलेशन से मुक्त कर दी गयीं। यही तरीक़ा मध्यप्रान्त में दोहराया गया, "जहाँ १८१८ में पेशवा द्वारा अन्तिम रूप से छोड़े हुए मरहठा राज्य के पुनरुत्थान को रोकने के लिए राजपूत रियासतों की स्थापना ही ठीक नीति मालूम हुई। और इस प्रकार इस विस्तृत प्रदेश का प्रत्येक भाग, जहाँ घरेलू और लूट-खसोट की लड़ाइयों ने सब प्रकार के राजनीतिक सीमा-चिन्हों को विलुप्त कर दिया था, एक संगठित सत्ता के अधीन किया गया और इन खण्डहरों में से कम नहीं १४५ रियासतें पैदा हुईं, जो अब बाक़ायदा मानी जाती हैं और मध्यभारत के ए. जी. जी. के तहत में रखी गयी हैं।

काठियावाड़ के बारे में बम्बई के तात्कालिक गवर्नर सर बार्टल फ्रेअर सहित बम्बई सरकार के तीन सदस्यों ने लम्बे वाद विवाद के बाद अपना यह निश्चित मत प्रगट किया कि काठियावाड़ अंग्रेजी अमलदारी में

---

१. बिहार-उड़ीसा और मध्यप्रान्त की रियासतों की वैज्ञानिक स्थिति पर रिपोर्ट—२८ वाँ पैरा।

ही था और भारत-सरकार ने अपने १४ अप्रैल १८६४ ई० के खरीते में भारत-मन्त्री से सिफ़ारिश की कि यह मामला आख़िरी फैसले के लिए सम्राट् के क़ानूनी अफ़सरों के पास भेज दिया जाये। लेकिन मामला आख़िरकार मनमाने ढंग से तय कर दिया गया, और पहले की पहले और दूसरे दर्जे की १२ रियासतों को एक तरफ़ रखकर २१२ रियासतें नये सिरे से बनायी गयीं। किस रियासत को कौन-सा दर्जा दिया जाये इस बात का फ़ैसला रियासत के अधीन गाँवों की संख्या, उसकी आमदनी और उसकी दूसरी हैसियत को सामने रखकर किया जाता था। उन ज़मींदारों को भी, जो कुल एक या दो गाँवों के ही मालिक थे, छठी या सातवीं श्रेणी में रख दिया गया। ऐसा जाहिर होता है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया इन नयी बनायी गयी २१२ रियासतों में से पाँचवें से सातवें दर्जे तक की छोटी-छोटी रियासतें उनके वारिसों के अपने पुत्र-कलत्रों में छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होती रहने के कारण धीरे-धीरे मिट गयीं और उनके मालिक सिर्फ किसान-भर रह गये। उनमें से कुछ को अपने अधिकारों के उपयोग के सर्वथा अनुपयुक्त पाया गया और इसलिए उनसे वे अधिकार छीन लिये गये। (कीटिंग के श्रेणी-विभाजन सम्बन्धी काग़ज़ात और हेमचन्द बनाम साकरलाल (१८८६) की अपील के मामले की प्रिवी कौंसिल बुक का पृष्ठ २३७ देखें)

अब दूसरी बाजू लीजिए। १६०७ के इम्पीरियल गजटियर के चौथे भाग में रियासतों की कुल संख्या ६९३ दी गयी है। लेकिन १६२५ की सूची में सिर्फ ५६२ रियासतों के नाम दिये गये हैं। सन् १६२५ में संख्या की इस कमी का मुख्य कारण मध्यभारत एजेन्सी की १४८ रियासतों में से घटकर ८६, ब्रह्मा की ५२ रियासतों में से ० और आसाम की २६ रियासतों में से सिर्फ १ रियासत का रह जाना था। "हम देखते हैं कि जोधपुर, भरतपुर जैसे शक्तिशाली राजाओं तक का ऐसा इतिहास है जिसमें उनके दर्जों में हैरतअंगेज़ तब्दीलियाँ होते रहने के उदाहरण मौजूद हैं।"[1]

---

१. "जोधपुर, भरतपुर आदि के शक्तिशाली राजा भी मुग़ल सरकार द्वारा और इधर हाल के ज़माने तक ज़मींदार कहलाते थे और हम उनकी अमलदारी के स्वरूप से परिचित हैं। एक निश्चित संख्या में सेना के अफ़सर के रूप में क्रम-क्रम से सम्राट् की सेवा में उपस्थित रहने के लिए बाध्य थे। उनके अपने प्रदेश, हिन्दू शासनकाल में साम्राज्य भर में प्रचलित सिद्धान्तों पर छोटे-छोटे विभागों में तब भी और अब भी सेना-पालकों और ठाकुरों या लगानदारों में बँटे हुए थे और हैं।

(उड़ीसा खास और कटक के आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक और ऐतिहासिक विवरण से)

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस तरह यह मालूम होगा कि ५६२ रियासतों के रियासती हिन्दुस्तान के अधिकांश के सम्बन्ध में यह बात शाब्दिक और ऐतिहासिक तौर पर ठीक है कि राजा लोग साम्राज्य की कृति हैं। लेकिन दूसरे मानों में भी यह बात ठीक है। ब्रिटिश प्रभुत्व ने रियासती जनता को "योग्य, साहसिक शासक नियुक्त करने के अपने प्राकृतिक अधिकार से वञ्चित्त कर दिया है। आजकल रियासतों में जिस तरह की शासन-पद्धति प्रचलित है उसमें न तो एक व्यक्ति के राज के आवश्यक गुण हैं, न शासन की लोकतन्त्रीय पद्धति की वैज्ञानिक सत्ता ही प्राप्त है, बल्कि अपने ही ढंग की, भारत में प्रचलित साम्राज्यवादी पद्धति की उप-कृति और उसीका एक सहारा है।

महाराजा साहब ने अपने भाषण में कुछ बड़ी और छोटी रियासतों के वर्तमान शासकों की 'प्रबल शक्ति' का उल्लेख किया था, जिसके बल पर उनके कथनानुसार इन रियासतों का अस्तित्व स्थापित हुआ। बीकानेर-राजघराने की, जो कि निश्चय ही भारतीय राजघरानों में एक अत्यन्त उच्चकोटि का राजघराना है, शान को किसी प्रकार कम करने की इच्छा न रखते हुए किसी को भी उनके भाषण की भूलों को दुरुस्त करने की इजाजत होनी चाहिए। बीकानेर[1] और दूसरी रियासतों की सन्धियों पर

---

१. १८०८ में संधि की प्रार्थना ठुकरायी जाने के बाद, ९ मार्च, १८१८ को पहली बार बीकानेर और ब्रिटिश सरकार के बीच संधि हुई। इसके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने रियासत की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी ली और दूसरी तरफ़ महाराजा और उनके वारिसों की ओर से ब्रिटिश सरकार की मातहती और उसकी वरिष्ठता को स्वीकार किया गया। लेकिन उसकी ९ वीं धारा में महाराजा और उनके वारिसों की ओर से किसीपर भी हमला न करने का वादा किया गया।

सातवीं धारा के अनुसार "ब्रिटिश सरकार ने महाराजा के ख़िलाफ़ विद्रोह कर उनकी सत्ता को स्वीकार करने से इनकार करनेवाले ठाकुरों और दूसरे प्रजाजनों को उनके अधीन करने का वादा किया। महाराजा ने सारा ख़र्च बरदाश्त करने की ज़िम्मेवारी ली.। (रेखांकित मैंने किया है)

सन् १८३० में ब्रिटिश रेजीडेंट ने विद्रोही ठाकुरों को दबाने में महाराजा को मदद देने के लिए बीकानेर फौज भेजने की तैयारी कर ली थी। लेकिन उसी समय महाराजा को यह बता दिया गया था कि आगे उन्हें अपनी असन्तुष्ट प्रजा को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार से सहायता माँगने का कोई अधिकार न होगा। (एचिसन्स ट्रीटीज़, तीसरा भाग, पृ० २३७)

: ६ :

साम्राज्यवादी दाँव और रियासतें

अपने इतिहास में राजाओं के संबंध में सरकार की इस नीति ने समय समय पर कई पहलू बदले हैं। लेकिन जैसा कि मैं अभी बताऊँगा, इन सब पहलुओं की तह में जो असली ख़याल, जंजीर को जोड़ने वाली कड़ी की तरह, बराबर काम कर रहा था, वह था हिन्दुस्तान में अपनी साम्राज्यवादी सत्ता को मज़बूत और स्थायी बनाने का। तीन साफ़ पहलू हैं। रियासतों की दृष्टि से उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करने के लिए इन्हें 'ब्रिटेन की सुरक्षा,' ब्रिटेन का प्रभुत्व' और 'ब्रिटेन का साम्राज्य' कहना ठीक होगा।

पहले सुरक्षा

पहले पहलू के दौरान (१७६५—९८) में ख़ास ख़याल हिन्दुस्तान में ब्रिटेन की स्थिति की सुरक्षितता और स्थायित्व का था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अभी भी अपने अस्तित्वमात्र के लिए जद्दोजहद कर रही थी। वह चारों तरफ से प्रबल प्रतिद्वन्दियों और शत्रुओं से घिरी हुई थी। इसलिए उसका स्थानीय राजाओं में से अपने लिए मित्र और सहायक खोजना स्वाभाविक ही था। उनके प्रति इसकी नीति 'भाईचारा स्थापित करने, दूसरों के कृपा-भोजन बनाने और आदान-प्रदान' करने की थी। क्लाइव (१७५८—६७) ने 'मुगल सम्राट् से बख्शीश के बहाने मुल्की हुकूमत की वास्तविक शक्ति प्राप्त की।१ वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अपने समय के दूसरे ब्रिटिश शासकों की तरह देशी राजाओं की मदद से शासन करने की नीति की उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखकर उसीके अनुसार अपना काम शुरू किया।२ कार्नवालिस (१७८६-९३) और सर जॉनशोर; जिन्होंने इस अध्याय को समाप्त किया, दोनों ही अहस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे। ख़याल यह था कि अपने से सहानुभूति रखनेवाली सत्ताओं—रजवाड़ों—का एक अलग ही दायरा बनाया जाये और जहाँ-तक मुमकिन हो सके इस तरह जीती गयी ताक़तों के 'गोलघेरे' में रखा जाये। उन दिनों राज्यों को फँसाने—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इलाके में मिला लेने—का अपडर फैला हुआ था।३ और इसलिए हम सन् १७८४ में पार्लमेण्ट के एक एक्ट द्वारा यह घोषणा होती हुई देखते हैं कि 'हिन्दुस्तान में अमलदारी जीतना और बढ़ाना इस राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है। यह प्रतिबन्धक आज्ञा—मनाही का हुक्म—१७९३ के चार्टर एक्ट में फिर दुहराया

१. इम्पीरियल गज़ेटियर दूसरा भाग, पृष्ट ४२६

२. वही, भाग दूसरा, पृष्ठ ४८२

३., वही, भाग दूसरा, पृष्ठ ४८८

एक सरसरी नजर डालने से ही यह पता चल जायेगा कि उनके भाग्य उनके पहले शासकों की 'प्रबल शक्ति' पर कम और साम्राज्यवादी नीति की बदलती हुई आवश्यकताओं पर अधिक निर्भर रहे हैं।

"१८७१ में राज्य में असन्तोष खड़ा हुआ; रियासत कर्ज़दार थी और राज्य की आय बढ़ाने के लिए महाराजा की ज्यादतियों से असन्तोष और भी गहरा हो गया। ठाकुरों ने बीकानेर छोड़कर अंग्रेज़ी अमलदारी में शरण ली। उस समय स्थिति की जाँच करने और महाराजा और उनके सरदारों में मेल कराने के लिए एक अंग्रेज अफसर तैनात किया गया। [१८८३ में रियासत के हालात फिर इतने बिगड़े कि वहाँ बड़ी अव्यवस्था मच गयी। उस समय वहाँ एक रेजीडेंएट पोलिटिकल एजेएट तैनात किया गया और महाराजा को कुछ ऐसी शर्तें मानने के लिए मजबूर किया गया, जिससे पोलिटिकल अफ़सर की, राज्य की ख़राबियाँ दूर करने और शासन पर नियन्त्रण रखने की सत्ता सुरक्षित रहे। (वही)

सेवाग्राम, ८-४-४०

: ६ :

साम्राज्यवादी दाँव और रियासतें

अपने इतिहास में राजाओं के संबंध में सरकार की इस नीति ने समय समय पर कई पहलू बदले हैं। लेकिन जैसा कि मैं अभी बताऊँगा, इन सब पहलुओं की तह में जो असली ख़याल, जंज़ीर को जोड़ने वाली कड़ी की तरह, बराबर काम कर रहा था, वह था हिन्दुस्तान में अपनी साम्राज्यवादी सत्ता को मज़बूत और स्थायी बनाने का। तीन साफ़ पहलू हैं। रियासतों की दृष्टि से उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करने के लिए इन्हें 'ब्रिटेन की सुरक्षा,' ब्रिटेन का प्रभुत्व' और 'ब्रिटेन का साम्राज्य' कहना ठीक होगा।

पहले सुरक्षा

पहले पहलू के दौरान (१७६५—९८) में ख़ास ख़याल हिन्दुस्तान में ब्रिटेन की स्थिति की सुरक्षितता और स्थायित्व का था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अभी भी अपने अस्तित्वमात्र के लिए जद्दोजहद कर रही थी। वह चारों तरफ़ से प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों और शत्रुओं से घिरी हुई थी। इसलिए उसका स्थानीय राजाओं में से अपने लिए मित्र और सहायक खोजना स्वाभाविक ही था। उनके प्रति इसकी नीति 'भाईचारा स्थापित करने, दूसरों के कृपा-भोजन बनाने और आदान-प्रदान' करने की थी। क्लाइव (१७५८—६७) ने 'मुगल सम्राट् से बख्शीश के बहाने मुल्की हुकूमत की वास्तविक शक्ति प्राप्त की।१ वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अपने समय के दूसरे ब्रिटिश शासकों की तरह देशी राजाओं की मदद से शासन करने की नीति की उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखकर उसीके अनुसार अपना काम शुरू किया।२ कार्नवालिस (१७८६-९३) और सर जॉनशोर; जिन्होंने इस अध्याय को समाप्त किया, दोनों ही अहस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे। ख़याल यह था कि अपने से सहानुभूति रखनेवाली सत्ताओं—रजवाड़ों—का एक अलग ही दायरा बनाया जाये और जहाँतक मुमकिन हो सके इस तरह जीती गयी ताक़तों के 'गोलघेरे' में रहा जाये। उन दिनों राज्यों को फँसाने—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इलाके में मिला लेने—का अपडर फैला हुआ था।३ और इसलिए हम सन् १७८४ में पार्लमेण्ट के एक एक्ट द्वारा यह घोषणा होती हुई देखते हैं कि 'हिन्दुस्तान में अमलदारी जीतना और बढ़ाना इस राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है। यह प्रतिबन्धक आज्ञा—मनाही का हुक्म—१७९३ के चार्टर एक्ट में फिर दुहराया

१. इम्पीरियल गज़ेटियर दूसरा भाग, पृष्ठ ४२६

२. वही, भाग दूसरा, पृष्ठ ४८२

३., वही, भाग दूसरा, पृष्ठ ४८८

गया। इस दौरान में जो सन्धियाँ हुई उनका आधार अहस्तक्षेप की नीति था, और उनमें 'पारस्परिक मैत्री', 'बाहमी दोस्ती', 'मैत्रीपूर्ण सहयोग', 'सुदृढ़ सम्बन्ध,' आदि शब्द प्रचुरता से आये हैं।१

सबके ऊपर सत्ता

लेकिन जल्दी ही यह महसूस किया गया कि अगर कम्पनी तटस्थ राजाओं को 'घेरे' के बाहर अपनी ओर न खींचेगी और कूटनीतिपूर्ण समझौतों से उन्हें अपनी अधीनता में आने के लिए मजबूर न करेगी तो मुमकिन है कि उसके दुश्मन ऐसा करलें और 'गोलघेरे' से मिली सुरक्षितता का कोई ठिकाना नहीं। इस तरह इस नीति के दूसरे पहलू (१७९८-१८५८) का बुनियादी उसूल रहा हिन्दुस्तान पर अपनी प्रभुता स्थापित करना। इसलिए इस नीति की आवश्यकता को अनुभव करनेवाले लार्ड वेलेज़ली ने सहायक सन्धियों की पद्धति से दूसरी सब रियासतों पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। उनकी राय थी कि ये सन्धियाँ 'इस तरह की बनी हों कि जिससे वे रियासतें कोई भी ऐसा उपाय काम में लाने के साधनों से और संघ स्थापित करने के अधिकार से वंचित रहें, जो ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षितता के लिए खतरा सिद्ध हों, और हम (अंग्रेज़) महत्त्वाकांक्षा-जनित अशांतिपूर्ण भावना और हिंसा पर, जो कि हरेक एशियाई हुकूमत की खासियत हैं, अपना नियन्त्रण रखकर हिन्दुस्तान की शान्ति कायम रख सकें।'२

लार्ड हेस्टिंग्ज़ (अर्ल आफ़ माइरा) (१८१४—२३) ने लार्ड वेलेज़ली की नीति को एक क़दम और आगे बढ़ाया। उन्होंने जो पद्धति जारी की थी इन्होंने उसे और उग्र और व्यवस्थित कर दिया।३ 'क्योंकि रियासतों को अपने में मिलाने की नीति के वह निश्चय ही विरोधी थे, इसलिए उन्होंने महसूस किया कि भीतरी हिन्दुस्तान को रियासतों की वास्तविक स्थिति पृथक और अधीनस्थ सहयोग की है।' इस नीति की तह में दो उद्देश्य थे—

१. इम्पीरियल गजटियर भाग दूसरा, पृष्ठ १६२

२. सन् १८१८ की उदयपुर की सन्धि से इस नीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसकी धारा २ के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने रियासत और उनके इलाके की रक्षा करने का वादा किया। धारा ३ में यह निर्धारित किया गया कि "महाराजा ब्रिटिश सरकार के साथ हमेशा अधीनस्थ सहयोग की नीति से व्यवहार करेंगे, उसकी प्रभुता स्वीकार करेंगे और किसी भी दूसरे राजा अथवा रियासत से सम्बन्ध न रक्खेंगे।" धारा ४ में फिर ब्रिटिश सरकार की इजाजत बिना किसी दूसरी रियासत से सन्धि या सुलह करने की मुमानियत की गयी है।

३. प्राइवेट जरनल आफ़ मारकिस आफ़ हेस्टिंग्ज़ (१८१४)

(१) राजाओं में परस्पर-सहयोग असम्भव कर देना, और (२) उन्हें स्वतन्त्र रूप से स्वयं अपनी आत्मरक्षा तक करने में असमर्थ बना देना। जिन्होंने 'अलग-एकांत और मासूम' होकर रहने का वादा किया उन्हें शांति और सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। इरादा यह था कि उन्हें इतना कमज़ोर और पतित कर दिया जाये कि वे ब्रिटिश सत्ता के लिए ख़तरा न रह जायें। अनेक रियासतों में रेजिडेण्ट भेजे गये। वहाँ वे राजदूत की तरह काम करने के बजाय अधिनायक या डिक्टेटर ही बन बैठे, उनके—राजाओं के—सब प्राइवेट मामलों में दख़ल देने लगे, उद्दण्ड प्रजाजनों की हिदायत और 'अत्यन्त दाम्भिकता के साथ अपनी सत्ता का प्रदर्शन करने लगे।' रियासतों की प्रजा के साथ किसी तरह की हमदर्दी रही हो सो बात नहीं। उल्टे, लार्ड हैस्टिंग्ज़ ने तो हस्तक्षेप को 'वचन-भंग' कहकर उसपर खेद प्रगट किया था और किसी 'देशी रियासत' की प्रजा के लिए अंग्रेजों के चिन्तित होने या परेशानी में पड़ने का मज़ाक उड़ाते हुए उसे एक 'औपन्यासिक या असम्भव कल्पना' कहा था। कम-से-कम बाहरी रूप में तो राजा लोग अपनी-अपनी हद में बिना किसी हस्तक्षेप या ख़रख़शे के सर्वेसर्वा थे—लेकिन सिर्फ़ अपनी हद में ही।

बहानों की कोशिश

लेकिन 'अधीन-पृथकता' (Subordinate Isolation) के साथ अहस्तक्षेप की नीति के कुछ अकल्पित दुष्परिणाम हुए। दूर नहीं, सन १८०५ में ही जब लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार अधिकारारूढ़ होकर आये, तो अत्यन्त दुःख के साथ उन्होंने ये उद्गार प्रगट किये कि, 'जिन रियासतों का हमारे साथ अत्यधिक निकट का सम्पर्क था वे अब अत्यन्त असहाय और दीन अवस्था को पहुँच गयी हैं उनके पास न रुपया है न फ़ौज, जिसपर कि वे निर्भर रह सकें, सब रियासतों में चारों तरफ़ अराजकता और असन्तोष फैला हुआ है।' बहुत देर नहीं हुई कि, लुटेरू गिरोह सारे देश पर छा गये और कम्पनी के इलाके में भी शान्ति को ख़तरे में डाल दिया। संक्षेप में यह कि ब्रिटिश भारत के पड़ौस का इलाका ख़तरनाक और ज़लील दोनों ही हो गया।

चूँकि बाहरी ख़तरा जाता रहा था, इसलिए 'दोस्तों' की भी, जो कि अब सहारे के बजाय एक भाररूप थे, कोई ज़रूरत बाकी नहीं रह गयी थी और इसलिए अहस्तक्षेप की नीति सरासर हस्तक्षेप और रियासतों को अपने में मिलाने की नीति में बदल दी गयी। लार्ड डलहौज़ी ने यह अधिकारपूर्ण फ़ैसला किया कि 'ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए बाध्य है कि इसके सामने अपना इलाक़ा या आमदनी बढ़ाने के जो भी उचित मौक़े अपने आप समय समय पर आयें उन्हें उठाकर एक तरफ़ न रखदे या नज़रअन्दाज़ न करदे।

और चूँकि इस तरीके को उचित ठहराने के लिए आँखों में धूल झोंकनेवाले किसी बहाने की ज़रूरत थी, अंग्रेज़ शासक 'देशी रियासतों' की प्रजा के लिए अंग्रेज़ों के चिन्ता करने या परेशानी में पड़ने को 'औपन्यासिक या असम्भव कल्पना' समझनेवाले के बजाय अब निःस्वार्थ मानवप्रेमी और 'देशी रियासतों की दलित प्रजा के हिमायती' के रूप में आगे लगे। संरक्षकता का वरद हस्त नरेशों के सिर पर से उठाकर अब उनकी प्रजा के सिर पर रखा गया। लार्ड विलियम बेंटिंक के जमाने में जितनी भी रियासतें कम्पनी की अमलदारी में मिलायी गयीं, वे प्रायः सब 'कुशासन के दण्डस्वरूप' मिलायी गयीं। हार्डिञ्ज साहब फरमाते थे 'दमन को चुपचाप बैठे देखते रहना ऐसा कलंक है, जिसे ब्रिटिश सरकार बरदाश्त नहीं कर सकती।' डलहौज़ी ने अपने समय में जिन रियासतों पर अधिकार जमाया उसे वह 'खाली पड़ी हुई गद्दियों के कुदरती वारिस या उत्तराधिकारी पैदा न करके कम्पनी को स्वयं ईश्वर की ओर से मिली हुई निरी विरासत समझते थे। लेकिन इसके साथ ही रियासतों का इस तरह कम्पनी की अमलदारी में मिलाया जाना, उनके शब्दों में, 'रियासतों की जनता के लिए न्यायपरायण और उदार सरकार की स्थापना की सदा के लिए गारण्टी भी थी।'

शक्ति का एकत्रीकरण

१८५७ के विप्लव—ग़दर—से तीसरे पहलू की शुरूआत हुई। इंग्लैंड का ताजा निर्विवाद शासक और सर्वोच्च सत्ता के रूप में सामने आया। अब सवाल था उसकी सत्ता की जड़ को मज़बूत बनाने का। इससे लार्ड डलहौज़ी की रियासतों को अपनी अमलदारी में मिलाने की नीति में परिवर्तन करने की ज़रूरत महसूस हुई। इस बाद पर ऐतराज उठाया गया था कि अगर 'गोद लेने की सनदें' देकर रियासतों को हमेशा बने रहने देने की नीति स्वीकार करली जायेगी, तो इससे 'आगे अपनी अमलदारी बढ़ाने के मौके मिलने बन्द हो जायेंगे।' इसपर लार्ड केनिंग का यह जवाब था—

'मैं इसे आपत्ति या ऐतराज़ नहीं बल्कि एक सिफ़ारिश मानता हूँ। हमें सबसे पहले इस बात की फ़िक्र करनी चाहिए कि रियासती शासन अपनी मौजूदा सीमाओं में ही मज़बूत हो जाये और हम इस शासन के अन्तर्गत रहनेवालों से अपनी वरिष्ठता के प्रति उनकी स्वेच्छापूर्वक या राजी-खुशी की रज़ामन्दी और आदर प्राप्त करलें। देशी रियासतों के बारे में अपने आख़िरी इरादों के सम्बन्ध में हमारी अनिश्चित नीति ने स्वभावतः ही जो सन्देह पैदा कर दिये हैं, जबतक वे दूर नहीं कर दिये जाते तबतक किसी भी हालत में

हमारी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की नहीं जा सकती, उसके प्रति आदर हो नहीं सकता। बिना अंग्रेजी फ़ौज को बढ़ाये अगर हम अपनी अमलदारी बढ़ाते गये तो हमारे पैर मजबूती से जम नहीं सकेंगे, और जितनी अंग्रेजी फ़ौज हम अभी बढ़ाना चाहते हैं उतनी ब्रिटेन शायद आसानी से भेज सकता है और निश्चय ही उसका खर्चा भी इतना ही होगा, जितना कि हिन्दुस्तान आसानी से बरदाश्त कर सकता है। मुल्की हुकूमत का जितना काम हमारे पास है, उसे पूरा करने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों की बहुत कमी है, और हमारे आर्थिक साधन इतने काफ़ी नहीं हैं कि जिससे हमारी ज़रूरतें पूरी हो सकें।'

अपनी दलील को जारी रखते हुए लार्ड केनिंग आगे कहते हैं—'अच्छी तरह प्रभावित—या अपने काबू में आये हुए देशी नरेशों को बनाये रखने से हमारे शासन की सुरक्षा घटी नहीं, बढ़ी ही है।' उन्होंने १८५७-५८ के अशान्तिपूर्ण और चिन्ताजनक दिनों की याद दिलाते हुए बताया कि किस तरह उस समय 'इन छोटे-छोटे रजवाड़ों ने उस तूफान से बचाने के लिए बाँध का काम दिया, जो इनके अभाव में हमें एक ही झोंके में उड़ा ले जाता।' 'और शान्ति के दिनों में इनका उपयोग है।' वे अशान्त लोग, जो सिवा लड़ने के दूसरा काम कर ही नहीं सकते, देशी रजवाड़ों में पले चालाक और कुशल षड्यंत्रकारी, और ऐसे दूसरे लोग जो हमारे अधिक सख्त और क़ानून-क़ायदे से जकड़े शासन से भड़केंगे, यहाँ बड़े मज़े में रहेंगे और जब कभी हिन्दुस्तान पर किसी बाहरी शत्रु के हमले का खतरा होगा या जब कभी इंग्लैंड को किसी दूसरी जगह अपने स्वार्थ के लिए अपने पूर्वी साम्राज्य को असाधारण खतरे में डालने की जरूरत महसूस होगी, तब यही देशी रियासतें हमारा सबसे बड़ा सहारा साबित होंगी। लेकिन उन्हें ऐसा बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि हम इनके राजाओं और प्रमुख राजघरानों के साथ सम्मान और उदारता का व्यवहार करें, और उन्हें यह शिक्षा देते रहें कि सब विरोधी सन्देहों के बावजूद उनकी आज़ादी सुरक्षित है और हम उनकी रियासतों को ब्रिटिश अमलदारी में मिलाने के लिए किसी उपयुक्त अवसर की ताक में नहीं बैठे हैं। साथ ही, उन्हें यह भी विश्वास दिलाया जाये कि हमें हटाकर बाहर या भीतर के किसी नये शासक को बिठाने में मदद देने में उनका खुद का कोई भी लाभ नहीं है।

'सर जॉन मालकम ने बहुत पहले ही यह कहा था कि, अगर हम सारे हिन्दुस्तान के जिले (या ब्रिटिश डिस्ट्रिक्ट बनादें, तो कुदरती तौर पर हमारे साम्राज्य का ५० साल भी टिकना सम्भव न होगा, लेकिन अगर हम

न्याय का मज़ाक

न्याय का यह एक अजीब मजाक है। सम्राट् देशी रजवाड़ों पर अपने एकछत्र अधिकार का दावा करते और उसे अमल में लाते हैं। वह पहले से पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट की इजाज़त लिये बिना अपनी रियासत में किन्हीं सुधारों का जारी करने के उनके अधिकार को स्वीकार नहीं करते। वे सम्राट् के प्रतिनिधि की सलाह पर 'ध्यान न देने' मात्र के आधार पर गद्दी से उतारे जा सकते हैं। इतने पर भी आज कांग्रेस को ही यह दोष दिया जाता है कि वह उनके साथ समझौता करने में असफल रही। राष्ट्रीय भारत उनका सर्वथा अपने बराबरी के साझेदार के रूप में स्वागत करेगा, बशर्ते कि वे अपनी प्रजा के प्रतिनिधि बनकर स्वतन्त्ररूप से हममें शामिल हों। लेकिन वह अपने राजनीतिक जीवन में छद्मवेशियों के रूप में उनका समावेश नहीं होने देना चाहता। इस बात को ही 'विरोध' कहना, जैसा कि बीकानेर-महाराज ने अपने भाषण में कहा है, निश्चय ही वास्तविक तथ्यों की हास्यास्पद तोड़-मरोड़ है। महाराजा साहब का कांग्रेस पर यह इलज़ाम लगाना कि वह सन्धियों को रद्दी काग़ज़ की चिन्दियों की तरह फाड़ फेंकना चाहती है. पतली हवा पर आघात करने के समान है। निकलसन की 'स्क्रेप्स आफ़ पेपर' नामक पुस्तक में निश्चिय ही कांग्रेस की ऐसी कृतियों का कोई उल्लेख नहीं है। इसी तरह रियासतों को नष्ट करने की बात तो दूर, कांग्रेस ने ही एकमात्र ऐसा हल उनके सामने पेश किया है, जिससे रियासतें फिर से अपनी वास्तविक स्थिति और शक्ति प्राप्त कर सकती हैं, जिसे कि वे खुद स्वीकार करती है कि ब्रिटेन की एकछत्रता ने उन्हें वंचित कर दिया है[१] और यही वह हल है जो उनके—रियासतों के—शासकों को, वैधानिक शासकों के रूप में स्वतन्त्र भारत में सम्मानपूर्ण समानता का दर्जा दिखा सकेगा।

सेवाग्राम, ८-४-४०

---

१. नरेन्द्र मंडल के नीचे दिये हुए एक वक्तव्य से इसकी तुलना करें :—

"निरंकुश शासकों के रूप में राजाओं को (अंग्रेजों द्वारा) दी गयी सुरक्षा आरम्भ से ही कोई विशुद्ध वरदान न था। इसने निरंकुश शासन प्राणाली में से उसके गुणों को मिटा दिया। एक निरंकुश शासक और किसी तरह केवल अपने व्यक्तित्व और योग्यता के बल पर सत्ता क़ायम रखकर ही अपने निरंकुश शासन का उपयुक्तता सिद्ध कर सकता है ... "बाहरी सुरक्षा का वरदान शासक में से योग्य शासन के लिए शायद सबसे बड़ी प्ररेणा—राजा का अपनो खुद की प्रजा के [illegible] -जोकि उसे सन्तुष्ट न रखने की अवस्था में पैदा [illegible] देता है [illegible] देश है, जिसका राजाओं और उनकी रि[illegible] भारत [illegible] प्रगति करने में रोकने [illegible] अप्रत्यक्ष रूप से सबसे [illegible]।"

(क्राउन एण्ड [illegible] पृ० १[illegible]

सस्ता साहित्य मण्डल का सम्पूर्ण साहित्य

[एक रुपया देकर स्थायी ग्राहक बनने पर पौने मूल्य में]

[नोट—×चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

[पूरा सेट लेने पर कमीशन के अलावा सागवान का पॉलिश किया हुआ सुन्दर शेलफ भेंट में]

'सर्वोदय साहित्य माला'

१—दिव्य जीवन ।=) २—जीवन-साहित्य १।) ३—तामिल वेद ॥।) ४—व्यसन और व्यभिचार ।॥=) ५—सामाजिक कुरीतियाँ× ॥।) ६—भारत के स्त्री-रत्न× ३) ७—अनोखा× १।=) ८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥।=) ९—यूरोप का इतिहास× २) १०—समाज-विज्ञान ॥।) ११-खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र× ॥।≡) १२—गोरों का प्रभुत्व× ॥।=) १३—चीन की आवाज़× ।=) १४—दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह १।) १५—विजयी बारडोली× २) १६—अनीति की राह पर ॥=) १७—सीता की अग्नि-परीक्षा× ।-) १८—कन्या-शिक्षा ।) १९—कर्मयोग ।=) २०—कलवार की करतूत =) २१—व्यावहारिक सभ्यता ॥) २२—अँधेरे में उजाला ॥) २३—स्वामीजी का बलिदान× ।-) २४—हमारे ज़माने की गुलामी× ।) २५—स्त्री और पुरुष ॥) २६—सफ़ाई ।=) २७—क्या करें? १।) २८—हाथ की कताई-बुनाई× ॥-) २९—आत्मोपदेश× ।) ३०—यथार्थ आदर्श जीवन× ॥।-) ३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे =) ३२—गंगा गोविन्दसिंह× ॥=) ३३—श्रीरामचरित्र× १।) ३४—आश्रम-हरिणी× ।) ३५—हिन्दी-मराठी कोष २) ३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त× ॥) ३७—महान् मातृत्व की ओर× ॥।=) ३८—शिवाजी की योग्यता× ।=) ३९—तरंगित हृदय ॥) ४०—नरमेध× १॥) ४१—दुखी दुनिया ।=) ४२—जिन्दा लाश× ॥) ४३ आत्मकथा (गांधीजी) १) १॥) ४४—जब अंग्रेज़ आये× १।=) ४५—जीवन-विकास १।) ४६—किसानों का बिगुल× =) ४७—फाँसी !× ।=) ४८—अनासक्ति योग =) ≡) ।) ४९—स्वर्ण-विहान× ।=) ५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥) ५१—भाई के पत्र १।) ५२—स्वगत× ।=) ५३—युगधर्म× १=) ५४—स्त्री-समस्या १॥।) ५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला× ॥=) ५६—चित्रपट× ।=) ५७—राष्ट्रवाणी× ॥=) ५८—इङ्गलैण्ड में महात्माजी ॥।) ५९—रोटी का सवाल १) ६०—दैवी सम्पद् ।=) ६१—जीवन-सूत्र ॥।) ६२—हमारा कलंक× ॥=) ६३—बुद्बुद× ॥) ६४—संघर्ष या सहयोग? १॥) ६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।) ६६—एशिया की क्रान्ति× १॥।) ६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता १॥) ६८—स्वतंत्रता की ओर १॥) ६९—आगे बढ़ो! ॥) ७०—बुद्ध-वाणी ॥=) ७१—कांग्रेस का इतिहास २॥ ७२—हमारे राष्ट्रपति १।)

सामयिक साहित्यमाला

की पुस्तकें

१. **कांग्रेस-इतिहास—१९३५-३९**
(अप्राप्य) ।=)

२. **दुनिया का रंगमंच** (अप्राप्य) =)

३. **हम कहाँ हैं ?** कांग्रेस की वर्तमान हालत और देश की मौजूदा समस्याओं पर पं० जवाहरलालजी के लेख। =)

४. **युद्ध-संकट और भारत।** वर्तमान यूरोपीय युद्ध और भारत की स्थिति पर कांग्रेस की ओर से तथा म० गांधी, राष्ट्रपति आदि द्वारा दिये गये वक्तव्यों का संग्रह। ।)

५. **सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?** सत्याग्रह कब, क्यों और कैसे शुरू किया जावे, इस पर महात्माजी के लेख। ≡)

६. **राष्ट्रीय पंचायत।** भारत को अपना शासन-विधान बनाने की माँग तथा विधान-सभा 'Constituent Assembly' पर महात्माजी, पं० जवाहरलाल नेहरू, राजाजी आदि के लेख ।)

७. **देशी राजाओं का दर्जा :** (प्यारेलाल) देशी राजाओं के अधिकार और दर्जे के बारे में अधिकारपूर्ण पुस्तक ।)

८. **यूरोपीय युद्ध और भारत** (गांधी, जवाहरलाल) यूरोपीय युद्ध और भारतीय संकट को स्पष्ट समझानेवाली पुस्तक। इसमें पहले खण्ड से आगे का हाल है। ।)